भारत और मानव संस्कृति

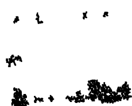
खंड - II



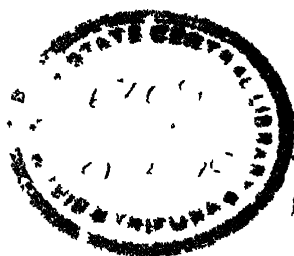
बिशम्भरनाथ पांडे

भारत और मानव संस्कृति

खंड - II



बिशम्भरनाथ पांडे



प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

ISBN 81-230-0503-2

मूल्य : 100 रुपये

निदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, पटियाला हाउस, नइ दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित।

विक्रय केन्द्र ● प्रकाशन विभाग

- सुपर बाजार (दूसरी मजिल), कनाट सर्कस, नइ दिल्ली-110001
- कामर्स हाउस, करीमभाई रोड, बालार्ड पायर, मुम्बई-400038
- 8 एस्प्लनेड इस्ट, कलकत्ता-700069
- राजाजी भवन, बेसेंट नगर, मद्रास-600090
- बिहार राज्य सहकारी बेंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना-800004
- निकट गवर्नमेंट प्रेस, प्रेस रोड, तिरुअनन्तपुरम-695001
- 27/6, राममोहन राय मार्ग, लखनऊ-226001
- राज्य पुरातत्वीय संग्रहालय बिल्डिंग, पब्लिक गार्डन्स, हैदराबाद-500004

मैसर्स श्रीराम ग्राफिक्स, सी-4ए/5ए, जनकपुरी, नई दिल्ली द्वारा लेजर कंपोज

मुद्रक: सहारा इंडिया मास कम्युनिकेशन, नोयडा.

ज्ञानसत्व **श्री दाइसाकु इकेदा** को
समर्पित।

दाइसाकु इकेदा
अध्यक्ष

सोका गाकाइ इण्टरनेशनल,
32, शिनानो-मयी, शिन्जुक
तोक्यो, जापान।

डा बी एन पाडे,
1, लोधी एस्टेट,
नई दिल्ली, भारत

प्रिय डा पाडे,

पत्र लिखने मे विलम्ब के लिए मेरी क्षमा-याचना स्वीकार करे।

सोका गाकाइ इण्टरनेशनल के पाचवे युवा सास्कृतिक प्रतिनिधिमण्डल का दिल्ली मे जिस सहृदयता से आपने स्वागत किया, उसके लिए मै गाधी स्मृति एव दर्शन समिति और आपको हृदय से धन्यवाद देता हू।

मुझे विश्वास है कि आपके यहा जो अनुभव [illegible] हुए है वे जीवन भर याद रहेगे। मुझे यह ज्ञात हुआ है कि इन युवाओ ने आपसे ऐसा प्रोत्साहन प्राप्त किया है जिससे वे आजीवन मानव अधिकारो के लिए एव अहिंसा के लिए सतत सचेष्ट रहेगे। मुझे पूर्ण आशा है कि भविष्य मे भी जब सोका गाकाई इण्टरनेशनल युवा प्रतिनिधिमण्डल आपके यहा जायेगा तो आप अपने पुत्र और पुत्रियो के समान उतनी ही आत्मीयता से उनका स्वागत करेगे।

मै अपनी ओर से आपको विश्वास दिलाता हू कि मै ऐसे विश्व की सरचना मे, जो घृणा और द्वेष से मुक्त हो मानवता परस्पर मैत्री, सद्भाव एव सह अस्तित्व की भावना मे अभिभूत महात्मा गाधी के महान स्वप्न को साकार करने के लिए जीवन के अन्तिम क्षणो तक प्रयत्नशील रहूगा।

आपकी चिरस्थाइ कुशलता एव प्रसन्नता के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता हू तथा आपसे मिलने के अवसर की उत्सुकता से प्रतीक्षा करता हू।

आपका

दाइसाकु इकेदा

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक श्रद्धेय डा. विशम्भरनाथ पांडेजी के जीवन की महाकृति है जिसका आरम्भ श्रद्धा की गहराइयों में निहित है। अपनी अनुभूतियों, मान्यताओं और उदबोधक स्मृतियों को जन-जन तक पहुंचाने के लिए पांडेजी ने अथक श्रम और वर्षो की साधना से सरल शब्दों में मुखरित किया है। नई पीढ़ी के लिए उनकी यह प्रस्तुति नया मार्ग प्रशस्त करती है। आज का मानव प्रकृति के रहस्यों के उदघाटन के साथ-साथ अपने मूल की खोज में संलग्न है। भारत की नई पीढ़ी भी अपनी चेतना और संस्कार की सुप्त स्मृति को पहचानने के लिए आतुर है। यह पुस्तक उनकी आंखें खोलेगी और वे [illegible] अयंकार को पहचान सकेंगे। मावन जीवन नदी के समान है उसके दो तट हैं जिनमें जल प्रवाहित होना है। जल खड़ा हो जाए तो सड़ जाएगा। जीवन भी सतत परिवर्तनशील होना चाहिए। नित नवीन विकास उसका मार्मिक तत्व है। प्रगति और मर्यादाएं दोनों आवश्यक हैं जैसे नदी के लिए प्रवाह और तट। यदि तट नहीं होंगे तो नदी का प्रवाह असंभव है। उसी प्रकार मर्यादाओं के बिना प्रगति असंभव है। वर्तमान पुस्तक में मर्यादाओं के तटों का प्रतिपादन प्रगति के प्रवाह के परिप्रेक्ष्य में किया गया है। यह इस पुस्तक की उल्लेखनीय विशेषता है। पिछले हजार वर्षो का एकेश्वरवाद, लुप्यमान बीसवीं शती का गांधीवाद और झरोखों से झांकती हुई श्रद्धा–यह पुस्तक इन तीन की त्रिवेणी है।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक की ध्रुवमूल की अवधारणाओं से प्रभावित जब पांडेजी ने मास्को में कमरे की संख्या रूसी भाषा में सुनी तो आश्चर्यस्तब्ध रह गए। संस्कृत की गिनती लगी और थी भी। भा-रोपीय (Indo-European) भाषाओं में छः हजार वर्ष पश्चात् भी विलक्षण साम्य है–विशेषकर गिनती में। यूरोप की समग्र भाषाओं की गिनती पर ग्वोज्दानोविच के सम्पादकत्व में 1993 में बर्लिन से 913 पृष्ठ की पुस्तक निकली है। इसके अनुसंधान-परिणामों के कारण संस्कृत और अन्य

समपरिवारीय भाषाओं के संबंधों को नई दृष्टि से देखना होगा। नई खोजों के परिणामस्वरूप 'आर्यों का आक्रमण' और 'आर्यों का विस्तार' सत्य अथवा तथ्य नहीं रहा। 19वीं शती में यूरोप मानता था कि पश्चिम के लोग ही पूर्व की ओर बढ़ते रहे हैं। इसे जर्मन भाषा में Drang nach Osten कहते थे। नए अनुसंधानों से Drang nach Westen अर्थात् पूर्व से पश्चिम की ओर विस्तार भी प्रमाणित होता है। अब सिंधु सभ्यता केवल सिंधु नदी तक ही सीमित नहीं रही। कई सौ अन्य स्थानों पर भी इसके विस्तृत अवशेष मिले हैं जैसे कि 'काली बांगा' (राजस्थान में) और लोथल (गुजरात में)। सरस्वती नदी, जो आज पूर्णतः सूखी पड़ी है, इसकी प्रमुख विकास-स्थली थी। नई अमरीकी खोजों ने सिद्ध किया है कि सरस्वती-सिंधु- सभ्यता वैदिक ही थी। पांडेजी ने वैदिक काल की भारतीय संस्कृति का विस्तार से विवेचन किया है।

मध्य एशिया की बौद्धकालीन तोखरी भाषा, हूणों के भ्रमण-आक्रमणों से टूटती बाधाएं, यवन, कुषाण, शक के फैलते राज्यों से उघड़ते हुए विशाल क्षितिज भारतीय इतिहास में नई प्रेरणा लेकर आए। आर्षीक विद्वानों ने पहली बार संस्कृत ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया। कुषाण राजा ने भारत में चीन के राजकुमार-राजकुमारी को बन्दी बनाकर आडू और नाशपाती की खेती प्रारम्भ की।

पांडेजी ने वैदिक काल में भारतीय वणिकों की व्यापार-गाथाओं को महत्व दिया है। ये अपना माल समस्त विश्व में ले जाते थे और वहां से लाते भी थे। सतत अन्योन्याश्रित प्रभावों से उदात्त संस्कृति का विकास हुआ और वैदिक संस्कृति मानव-संकृति बनती रही। इस दृष्टि से प्रेरित पांडेजी ने उपनिषदों के मुस्लिम निर्वचन की व्यापक चर्चा की है। योगदर्शन और सूफीमत की तुलना करते हुए पांडेजी सांप्रदायिक सद्भाव की खोज के प्रयास में लीन हैं।

'भारतभूमि की भौगोलिक अखण्डता' नामक अध्याय में हमारे देश की मौलिक एकता का भव्य प्रतिपादन है। स्नान के मंत्र में भारत की समस्त नदियों का समावेश है। बारह ज्योतिर्लिङ्ग देश के कोने-कोने में हैं। इनकी यात्रा भारतीयों को एकता के सूत्र में पिरोती रही है। बौद्ध स्तूप गान्धार से दक्षिण तक फैले थे। 'गायन्ति देवाः किल गीतिकानि' की भांति पांडेजी का यह अध्याय भारतीय एकता की संगीति है।

'जैन संस्कृति का मर्म' नामक अध्याय में पांडेजी ने हमारी चेतना के मार्मिक शिखरों का प्रतिपादन किया है। उदाहरणार्थ—आत्मशुद्धि, इसमें बाधक आध्यात्मिक अविद्या, तज्जन्य तृष्णा का मूलोच्छेद और जीवन को निस्तृष्ण बनाना आदि। जीवन की परा-सात्त्विकता के मूर्तिमंत प्रतिनिधि, जैन साधुओं और मुनियों की तपस्या ने सदा जीवन को सुसंस्कृत किया है। महात्मा गांधी की जीवन-सरणि पर गहरा जैन प्रतिबिम्ब था। भावी मंगलसाधना में जैन संस्कारों का सहारा जीवनचर्या और प्रकृति को सुसम्पन्न बनाएगा। पांडेजी धार्मिक सहिष्णुता और अपरिग्रह को जैन आचार-विचार का केन्द्रबिन्दु मानते हैं और उन्होंने इनका विशद विवेचन किया है। आधुनिक परिस्थितियों के लिए दोनों को समझना आवश्यक है।

जैन से बौद्ध संस्कृति की ओर जाते हुए लेखक ने चक्रवर्ती सिंहनादसूत्र के स्थल मे दी गइ स्थिति की अद्यतन अनुभव से तुलना की है। इतिहास और वर्तमान को जोड़कर प्रश्नों के समाधान ढूंढना लेखक का लक्ष्य है। अतीत की प्रेरणा, वर्तमान का कर्मयोग, और भविष्य के स्वप्न मनुष्य को सदा प्रगति-पथ पर ले जाते हैं, जिसमें सच्चाई और सद्भाव की धारा बहती है। बौद्ध धर्म की व्यावहारिकता का भारतीय जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। इससे वर्णव्यवस्था में परिवर्तन आए, नारी को प्रव्रज्या का अधिकार मिला और प्रव्रजित होकर सम्पन्न वर्ग के लोग दूर-दूर तक धर्म प्रचार के लिए गए। साहित्य का सृजन हुआ एवं शिल्प और स्थापत्य का अनहोना विकास हुआ। बौद्ध धर्म के कारण भारत को अभूतपूर्व गौरव-गरिमा मिली। लेखक के अनुसार महात्मा गांधी के अहिंसात्मक सत्याग्रह आन्दोलन का बीज जैन और बौद्ध पन्थों में है। बौद्ध साहित्य में 'अहिंसा' शब्द का प्रयोग नगण्य है। बौद्ध धर्म में अहिंसा की कहीं महिमा नहीं। जैन धर्म में ही है। बौद्ध पंचशील में 'प्राणातिपात-वेरमणी' शब्द का प्रयोग है जिसका अर्थ 'प्राणियों के वध से परे रहना' है। अस्तु, पांडेजी ने भारतीय दृष्टि का सर्वागीण विवेचन प्रस्तुत किया है और उसे गांधीवाद से जोड़कर वर्तमान के लिए सार्थक माना है। इस वर्तमान की सनातनता अज्ञात है। यह पुस्तक पिछले सत्तर वर्षो की मान्यताओं का दर्पण है। आज के सामाजिक-राजनैतिक परिप्रेक्ष्य की यह मूल्यवान् निधि है।

पुस्तक के दूसरे भाग में विद्वान् मनीषी ने भारत के अन्य देशों से संबंधों का इतिहास दिया है। वेद और अवेस्ता की तुलना शिक्षाप्रद है। लेखक समझते हैं

कि दोनों में ईश्वर एकवचन है, कैवल्य है। वैदिक संहिताओं से लेकर आज तक देव की विविधता और अनेकता हमारी विशिष्ट धरोहर है, यद्यपि अवेस्ता में, अहुरमज्दा में एकेश्वरवाद का प्रथम प्रस्फुटन है। अवेस्ता में प्रथम बार सदसत् का कैवल्यमय पार्थक्य प्रकट हुआ। इसके पूर्व भा-रोपीय संस्कृतियों में अनेकत्व की स्थापना थी। लेखक का दृष्टिकोण डा. भगवानदास की चिन्तनधारा से ओतप्रोत है—सब धर्मो की मौलिक एकता। वस्तुतः सत्य है कि एक ही व्यक्ति विभिन्न दिक्काल में अलग है। यदि यह न हो तो प्रगति रुक जाएगी। 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' मानवीय विकास का मूल है। अतः तपःपूत लेखक का विचार-विचरण नए चिन्तन का आह्वान है। गाथाओं की अवेस्ता और वैदिक संस्कृति में विशेष समानता है। वैदिक संहिताओं का उत्तरापथ से गहरा नाता है। ऋग्वेद में कुभा (काबुल) पर संपूर्ण सूक्त है। पाणिनि में पक्थ (पख्तून) के लिए विशेष सूत्र है, और इनका श और ष का अन्तर आज केवल पश्तो में जीवित है। फारसी का खुदा स्वधा का रूपान्तर है (स्वधा→ ह्वदा→ हुदा→ खुदा)। ईरानी पितृयानी थे (स्वधा पितरों के मन्त्रों में प्रयोग होता है), जबकि हम देवयानी थे, ईरानी भाषाओं मे 'देव' राक्षसवाची है। ईरान में अन्य पन्थ भी थे। उदाहरणार्थ—जुर्वान (ऋग्वेद में—जूर्यमाण) में काल अर्थात् महाकालेश्वर प्रमुख थे और मिथ्रवाद में मित्र अर्थात् सूर्य की उपासना प्रधान थी। पूर्वी ईरान के पार्थिया में मिथ्रवाद प्रचलित था और वहां से रोमन साम्राज्य के साथ-साथ यूरोप पहुंचा। ईसाई कर्मकाण्ड और धर्मदर्शन पर मिथ्रवाद का गहरा प्रभाव है क्योंकि इसके प्रथम दर्शनकार सेंट ऑगस्टाइन प्रारम्भ में मिथ्रवादी थे, ग्रीक दर्शन में निष्णात थे और पीछे वे ईसाई बने। उन्हें ईसाई मत की दार्शनिक भूमिका डालने की तीव्र अनुभूति हुई और उन्होंने मिथ्रवाद, ग्रीक दर्शन और रोमन परम्परा के मिश्रण से ईसाई पन्थ की ठोस दार्शनिक भूमिका बनाई जो आजकल चल रही है। पांडेजी ने मित्र-उपासना पर पूरा अध्याय लिखा है कि किस प्रकार रोमन सम्राट और जन-साधारण मित्र के भक्त थे। बैंक ऑफ इंग्लैण्ड की खुदाई में रोमनकालीन श्रेणी के कार्यालय के अवशेष मिले हैं और समीप ही मित्र-मन्दिर (mithraeum) के अवशेष।

पश्चिम एशिया और भारत के अतिप्राचीन सम्बन्धों की विशद चर्चा है। हिटाइट भाषा यूरोपीय केंटम (centum) भाषाओं का बहुत प्राचीन रूप है, उदाहरण के लिए Hittite *kardı* 'हृदयको' Latin *cordi* अंग्रेजी cordial; Hittite *genu* 'जानु' Latin *genu;* Hittite *lukkata* 'उषा-काल हुआ' Latin *lucescit*। कुछ

हिटाई राजाओं के नाम शुद्ध वैदिक परम्परा के हैं–ऋतधामा, मतिवाज, सौक्षत्र, शूरधरण, सुतरणि, त्विषिरथ (दशरथ नहीं), वाससप्त आदि। दक्षिण फिलिस्तीन में सुबन्धु, यजदात आदि राजाओं का उल्लेख है। (Aram Naharim, Rome : Pontificum Institutum Biblicum, 1948 : 61)। वैदिक देवताओं की शपथ से सन्धि विख्यात है।

मिस्र, सुमेर, मेसोपोटामिया आदि देशों की हमारी मान्यताओं से समाननताएं हैं। ये अन्योन्य प्रभाव के कारण हो सकती हैं अथवा समानान्तर विकास-मात्र हैं। निर्णय करना कठिन है कि विश्व की संस्कृतियों में कौन से तत्त्व की क्या स्थिति है। लिखित इतिहास नहीं, शिलालेख नहीं, सिक्कों का अभाव है, पुरातत्व की उपलब्धियों का निर्वचन इतना निश्चित नहीं। निर्लिखित इतिहास में भाषा सम्बन्धों का महत्वपूर्ण सूत्र है। सस्कृत और ग्रीक की आश्चर्यजनक समानता ने 19वीं शताब्दी में भारत और यूरोप को नई दृष्टि दी। साम्राज्यवाद के साथ-साथ मानववाद की नई व्याख्या समक्ष आई। ग्रीक और संस्कृत की शब्दावली में समानता थी–Zen Pater द्यौः पिता, auzo ओजस, onoma नाम, podas पादः, pruthros रुधिरः। दोनों भाषाओं के व्याकरण की गहरी एकता ने यूरोप के बुद्धिजीवियों को भारत की ओर आकृष्ट किया। पांडेजी ने भारत और ग्रीक दर्शन का विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। ग्रीक एवं संस्कृत में प्रतिपादित विज्ञान के आधारों की चर्चा भी की है। ये अनेकांगी संपर्क भारत और यूरोप के भावी संबंधों के लिए महत्वपूर्ण आधारशिला हैं। हम और यूरोपीय एक भाषा-परिवार के होने के कारण चिन्तनशैली में मौलिक एकात्मता है और हमारे विशिष्ट संबंध हो सकते हैं जो अन्योन्यपूरक होंगे और विश्वबन्धुत्व की भावना का पाथेय होंगे।

इस्लाम और भारत को लेखकवर ने रचनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। इतिहास के संहारक्षण उसके स्नेहकण बन सकते हैं। महात्मा गांधी की अवधारणाओं से प्रेरित पांडेजी के लिखे कई अध्याय इस्लाम के विविध आयामों को बन्धुत्व के सूत्रों से पिरोया दिखाते हैं। इस्लाम का विवेचन पूर्ण और व्यापक है–सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि सब पक्षों का सुगम शब्दों में ज्ञान कराया है। भारत और अरब के इस्लाम पूर्व और इस्लामोत्तर संबंध आज के परिप्रेक्ष्य में पढ़ने योग्य हैं। जीवन की धूप-छांह से सामरस्य की खोज पांडेजी का संबल है। तसव्वुफ और वेदान्त

में दैनिक चर्या की और दार्शनिक भूमियों की समानता सुबोध रूप से प्रतिपादित की गई है।

इसके उपरान्त भारत और एशिया के बौद्ध देशों के बन्धुत्व का आश्चर्यजनक इतिहास पांडेजी की लेखनी का ऊर्जस्वी प्रवाह है। इसमें संस्कृति, संस्कृत और संस्कार की त्रिवेणी है। बाह्य एवं आभ्यन्तर जीवन, साहित्य, संगीत, नृत्य और स्थापत्य के दृश्य जगत और वाणी की सार्वकालिक व्याप्ति भारत और एशिया को हृदयों के स्तर पर जोड़ती है, जैसाकि इण्डोनीसिया के काव्य 'ककविन् शिवरात्रिकल्प' में कहा गया है—'प्रतिष्ठित हनें हृदयकमलमध्य नित्यश'। थाइदेश (पालि में—स्यामरट्ठ 'श्यामराष्ट्र) में 'नाकोन् पाठोम' नामक नगर 'नगर प्रथम' का अपभ्रंश है। यह स्पष्ट संकेत है कि यहां भारतीय सर्वप्रथम आए थे। थाइ में केवल बौद्ध धर्म है, परन्तु राजसंस्कारों के लिए बैंकॉक में शैव ब्राह्मण हैं जो वर्ष में चार मुख्य अनुष्ठान करते हैं। उनमें सबसे भव्य है—देवशयन के दिन विष्णु के प्रतिरूप थाइ-नरेश नौका में शयन करने जाते हैं और देवोत्थान की तिथि को राजनौका से उठ आते हैं। राज्याभिषेक, राजपुत्रों के नामकरण आदि संस्कार भी शैव ब्राह्मण ही करते हैं। सामान्य जनता के लिए विधान करना बौद्ध संघराज की ओर से वर्जित है। थाइ साहित्य, कला, स्थापत्य, भाषा में संस्कृत शब्दों का विहंगावलोकन आप पांडेजी के सारगर्भित संक्षेप में पढ़ सकते हैं।

अन्नम प्राचीन चम्पा राज्य है जिसका इतिहास, शैव, वैष्णव और बौद्ध धर्म, पुराण, रामायण, महाभारत आदि साहित्य, शिलालेखों की सुललित संस्कृत के उद्धरण, शिल्प, समाज आदि कुछ ही पन्नों में 1500 वर्षों का सार पांडेजी के सरल वाक्यो में हृदयंगम है। इसी प्रकार भारत और सुमात्रा में कई शतियों तक अन्तरतम आदान-प्रदान रहा। भारत आने के लिए चीनी यात्री सुमात्रा में संस्कृत पढ़ते थे—क्योंकि यहां संस्कृत के विद्याकेंद्रों के साथ-साथ चीनी भोजन, चीनी कागज, मसि, तूलिका और व्यक्तिगत साहचर्य उपलब्ध थे। जावा और भारत केवल तीन पृष्ठों में वर्णित है जबकि बोरोबुडूर, प्राम्बानान् आदि विराट मन्दिर आज भी इस भूमि की शोभा हैं।

चीन की लौकिक सभ्यता और आध्यात्मिक संस्कृति बहुत प्राचीन है। चिन् वंश का प्रारम्भ 247 ई.पू. में हुआ। पॉल पेलियो (BEFEO 4 143-150) और बेर्तोल्ड लाडफर ने सुनिश्चित रूप से प्रमाणित किया है कि संस्कृत 'चीन' का मूल वंशवाचक

चिन् से नहीं। चीन का पिछले 5000 वर्षों में जो आश्चर्यजनक विकास हुआ उसे लेखक ने विस्तार से वर्णित किया है। चीन में इतिहास सुरक्षित हैं और वे बहुत प्राचीन राजवंशों का विवरण देते हैं। कुङ्फूत्सवाद और ताओवाद के कारण चीन का इतिहास उनकी पहचान बनी, उनकी अस्मिता सनातनता। यह इतनी अक्षुण्ण रही कि माओवाद और यूरोपीयता आने पर भी उनकी मनोभावना, भाषा, कला-अभिव्यक्ति आदि अभी तक अपनेपन से ओतप्रोत हैं। चीन में बौद्ध धर्म का आगमन विलक्षण घटना थी। बौद्ध मूर्तियां, सहस्रों सूत्र और उनकी टीकाओं में निर्वचन परम्परा का चीन पर गहरा प्रभाव पड़ा। जीर्ण काषायों को पहने, पर्वतों के सुदूर मौन में, राजदरबार के वैभव को नगण्य करते हुए, अद्भुत और विराट् मूर्तियों के शिल्पी, चीनी भिक्षु अपने देश को बुद्धक्षेत्र बनाना चाहते थे। विशाल पटचित्रों से भित्तियों को अलंकृत करते थे। चीन अपने को 'चुङ्क्वो' अर्थात् मध्यदेश मानता था और अन्य सब देश प्रदेश राज्य बर्बर थे, बाह्यक थे। बौद्ध धर्म से पहली बार चीन को अन्य सम्मान्यक्षेत्र दिखाई देने लगे। उनमें भौगोलिक राज्य भी थे और अमिताभ की अलौकिक सुखावती भी। बौद्ध आचार्यो ने पहली बार शून्य (0) और त्रिकोणमिति का चीन में प्रवेश किया। बौद्ध विहारों में ऊंच-नीच के भेदवाद के बिना शिक्षा, चिकित्सा आदि थी। भिक्षुणियों के रूप में चीनी महिलाएं पहली बार स्वतंत्र होकर समाज में कार्य करने लगी। देवियों की पूजा का चीन में अभिनंदन नहीं हुआ—यह कुङ्फूत्सवाद के प्रतिकूल था। महिलाएं ही देवियों की पूजा कर सकती थीं। सूत्रों के प्रसार के लिए, सहस्रपूजा हेतु, लाख बार मंत्र लिखने की परम्परा ने छपाई को जन्म दिया। भारत से शर्करा और सूती वस्त्र चीन गए। चीन में बौद्ध धर्म नवोन्मेष था, नए युग का प्रारम्भ, नवीन चकाचौंध। पांडेजी ने भारत और चीन के सांस्कृतिक आदान-प्रदान को बहुत प्रेम से और विस्तार से निरूपित किया है। क्यों नहीं? प्राचीन भारत में नवागता वधू चीनांशुक से आवृत सुमंगली होती थी। चीनी त्रिपिटक के विद्वानों का, जिन्होंने संस्कृत से चीनी में सूत्रों और शास्त्रों का अनुवाद किया, विस्तृत नामोल्लेख है। रामायण और महाभारत से चीन देश-विषयक उद्धरण दिए हैं। फाहियान की यात्रा पर पूरा अध्याय है। चीन में भारत के ज्ञान के लिए अनंत ग्रंथ सुरक्षित हैं—इनका अनुवाद करना युवा-विद्वानों को चुनौती है। पांडेजी की पुस्तक ऐसे साहसिक और लगनशील युवकों के लिए आह्वान है।

भारत और जापान के सांस्कृतिक अन्तःप्रवाह का रोचक इतिहास प्रस्तुत किया गया है। जापान के आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के पीछे प्रतिमाओं की भव्यता, तूलिका का उत्कर्ष, कांजी अर्थात् चीनी अक्षरों की चुनौतीभरी जटिलता, साकुरा की क्षणिक पुष्पमञ्जरी की अनित्यता, जेन् (ध्यान) और बुशिदों का अनवरत ऊपर-ही-ऊपर उठो (उद् यानं ते पुरुष) का संदेश... होनहार भविष्य की पुकार है।

श्यामवर्ण अफ्रीका पर हॉकिन्स की कविता का पांडेजी द्वारा अनुवाद सीमित से असीम की ओर प्रेरणा है। अफ्रीका के सोए मानव का इतिहास, कला और जीवन उनकी लेखनी में अभ्युदय की प्रेरणा है।

मैक्सिको की मय संस्कृति, युद्धकला, ज्योतिष, राजप्रासाद, शिल्प और प्राचीन धर्म के पर्यालोचन का अन्त लेखकवर्य ने मय पुजारी की गंभीर वाणी से किया है—विषय-वासनाओं का भरोसा नहीं करना चाहिए। दिक् और काल, भोग और योग, सृष्टि और संहार की अमित धूप-छांह की नियति क्या है? क्या सब शाश्वत का वायुभूत तत्व है? पांडेजी की यह कृति अनजाने इतिहास में विचरती हुई, मानवता को सुस्थिर करने के लिए लालायित, किस अनभिव्यक्त अनंतमूर्ति तक पहुंचती है? प्रबुद्ध शुद्ध की मनीषा इसका मौन अनागत है।

—लोकेश चन्द्र

दो शब्द

प्रस्तुत ग्रन्थ *भारत और मानव संस्कृति* की प्रेरणा-स्रोत सास्कृतिक पत्रिका *विश्ववाणी* थी!

ईसवी सन् का वर्ष उन्नीस सौ चालीस!

दूसरे विश्व-युद्ध के बादल आकाश में गहरा आए थे!

गाधीजी ने सत्याग्रह की कमान सम्हाल ली थी!

मात्र उनकी स्वीकृति से ही लोग व्यक्तिगत सत्याग्रह कर सकेंगे। गाधीर्जा के एक अत्यंत विनम्र सेवक के नाते मैंने अपना प्रार्थना-पत्र बापू के पास भेजा और यह सूचना भी दी कि मैं मासिक विचार-पत्र के माध्यम से अहिंसा का समर्थन और युद्ध का विरोध करना चाहता हूं। मुझे सेवाग्राम के महादेव भाई ने सूचित किया — बापू कहते हैं · तुम्हारा स्थान कारागार के भीतर नहीं है, कारागार के बाहर है।

बापू का आदेश पाने के बाद मैंने गुरुदेव रवीन्द्रनाथ का आशीर्वाद आवश्यक समझा। मित्रवर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने गुरुदेव की अनुमति से तिथि निश्चित कर, शान्तिनिकेतन आने की सूचना दी। मै श्री बैजनाथ सिंह विनोद के साथ शान्तिनिकेतन पहुंचा। इस बीच युद्ध के विरोध में गुरुदेव के वक्तव्य ने युद्ध-पीड़ित विश्व की आत्मा को झकझोर दिया। मैंने गुरुदेव के चरणों में प्रणाम करने के बाद अपना उद्देश्य बताकर उनका आशीर्वाद मांगा। मैंने उनसे पत्रिका के नामकरण की प्रार्थना की।

गुरुदेव ने कहा : यदि पत्रिका को भारत की समस्याओं तक सीमित रखना चाहते हो तो पत्रिका का नाम *भारतवाणी* रखो और यदि हिंसा के विश्वव्यापी प्रभाव पर कुछ कहना चाहते हो तो पत्रिका का नाम *विश्ववाणी* रखो।

फिर आचार्य हजारी प्रसाद जी से कहा : "ये हमारे पुरातन छात्र हैं। इन्हें इनके कार्य में सहायता देना।"

द्विवेदी जी मेरे साथ मास्टर मोशाय (नन्दलाल बोस) के पास गए। उनसे पत्रिका का कवर डिजाइन बनाने की प्रार्थना की, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। फिर हम लोग आचार्य क्षितिमोहन सेन, प्रो. तानयुनशान एवं अन्य विद्वान आचार्यो से मिले।

इलाहाबाद लौटकर मैंने पत्रिका का उद्देश्य-पत्र तैयार करने में अनेक विद्वानों का सहयोग लिया। इनमें डाक्टर ताराचन्द, डा. भगवान दास, श्री सुन्दरलाल, श्री मंज़र अली सोख्ता एवं डा. कुंवर मोहम्मद अशरफ ने यथेष्ट रुचि ली। उसे छपवाकर देश-विदेश के मूर्धन्य विद्वानों के पास भेजा गया। इनके लेखों से इस ग्रंथ में पर्याप्त सहायता ली गई है।

अब प्रश्न था पत्रिका के प्रकाशन के लिए धन का। उसे भी मेरे परम मित्र प्रो. मनोहरलाल मिश्र, लाला चुन्नीलाल कागजी, कुमारी विद्या नेहरू, श्री शिवकुमार मिश्र ने हल कर दिया। जनवरी 1941 से पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया। पाठकों और विद्वानों ने उसकी भूरि-भूरि प्रंशसा की। गाधीजी ने लिखा : "*विश्ववाणी* का एक-एक अंक पुस्तक के समान है। मैंने चीन अंक रख लिया है। उसे फुरसत निकालकर पढूंगा।" *विश्ववाणी* ने अहिंसा और सत्याग्रह के अतिरिक्त विश्व के सांस्कृतिक इतिहास पर डेढ़ दर्जन विशेषांक निकाले। उसके संस्कृति विशेषांकों के लिए देश और विदेश के मूर्धन्य विद्वानों ने अपने लेख भेजे।

दस वर्षो के पश्चात् जब मैं वाराणसी में भारतरत्न डाक्टर भगवान दास से मिला तो उन्होंने मुझे प्रेरणा दी कि *विश्ववाणी* की सामग्री से कम से कम दो दर्जन मूल्यवान पुस्तकें प्रकाशित हो सकती हैं। उनके परामर्श के अनुसार हमने आठ-दस पुस्तकें प्रकाशित कीं जिनकी उपादेयता आज भी है।

1950-60 के दशक में अनेक विश्वविद्यालयों ने 'विश्व सभ्यता और संस्कृति' को अपने पाठ्यक्रम में शामिल कर लिया। उसके बाद उन पुस्तकों की मांग और बढ़ी। फिर यह सुझाव आया कि एक ही जिल्द के अन्तर्गत विश्व की समस्त संस्कृतियों को भारतीय संस्कृति के संदर्भ में प्रकाशित किया जाय।

सहृदय मित्रों के सुझावों, स्वयं अपने अनुभवों से मुझे प्रेरणा मिली और मैं उस वृहत ग्रंथ के शोध और लेखन में पूरी तरह लग गया। कागज का यथेष्ट कोटा

न मिलने के कारण *विश्ववाणी* का प्रकाशन विवश होकर सोलह वर्षों के बाद सन् 1956 में बंद करना पड़ा। उसके पश्चात् मैं अपने व्यस्त सार्वजनिक कार्यक्रमों के साथ-साथ इस ग्रंथ *भारत और मानव संस्कृति* के लेखन में लग गया। शनैः शनैः अध्याय के पश्चात् अध्याय जुड़ते गए और ग्रंथ का स्वरूप बनता गया।

इस ग्रंथ के प्रकाशन के अवसर पर मैं अपने दिवंगत राष्ट्रपिता महात्मा गांधी एवं गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर, डा. ताराचन्द, डा. भगवान दास, पंडित सुन्दरलाल, आचार्य क्षितिमोहन सेन, पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी, मंज़र अली सोख्ता तथा डा. भूपेन्द्रनाथ दत्त का श्रद्धापूर्वक स्मरण करता हूं।

भारत और मानव संस्कृति पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए मैं प्रसन्नता और संतोष का अनुभव कर रहा हूं। लगभग आधी सदी के शोध और अध्ययन के पश्चात् मेरा यह विश्वास दृढ़ हुआ है कि विश्व संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में ही भारतीय संस्कृति का आकलन और मूल्यांकन किया जा सकता है। आज जिस तरह भारतीय संस्कृति को संकुचित दायरों में बंद किया जा रहा हैं, उससे भारतीय संस्कृति की मर्यादा और प्रतिष्ठा ही समाप्त हो जायेगी। इसीलिए मैंने पुस्तक के पहले खण्ड में भारत की अखण्डता, भारत की सभ्यता, भारतीय दर्शन, भारतीय ज्ञान-विज्ञान, भारतीय नृवंश, वेद-वेदांग, महाभारत, रामायण, गीता और उपनिषद पर आधुनिक दृष्टि से प्रकाश डाला है। *विश्ववाणी* में प्रकाशित जिन प्रतिष्ठित विद्वान लेखकों की रचनाओं से मैंने इस पुस्तक के लेखन में सहायता ली है, उनके प्रति में अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हूं। सन् 1952 और 1956 के बीच मैंने अनेक सांस्कृतिक ग्रंथ लिखकर प्रकाशित किए, उनमें जिन ग्रंथों से मैंने इस पुस्तक के लिखने में सहायता ली है, वे हैं : *जरस्थुस्त्री धर्म और ईरानी संस्कृति, यहूदी धर्म और शामी संस्कृति, सुमेर, बाबुल और असुरिया की संस्कृति, मिस्री सभ्यता और संस्कृति, यूनानी सभ्यता और संस्कृति* और *रोमन सभ्यता और संस्कृति*।

मैं भारत सरकार के प्रकाशन विभाग के निदेशक डा. ओम प्रकाश केजरीवाल के प्रति अपना आभार प्रदर्शन करता हूं कि उन्होंने प्रस्तुत पुस्तक के दोनों खण्डों के मुद्रण का बड़ी तत्परता के साथ आदेश दिया। मैं प्रकाशन विभाग के सम्पादक प्रकाश जैन, जिन्होंने पुस्तक के आद्योपांत प्रूफ देखे, का आभारी हूं। अन्तर्राष्ट्रीय

ख्याति के पुरातत्व विद्वान डा. मुनीश चन्द्र जोशी के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूं। उन्होंने पुस्तक के दोनों खण्डों को आद्योपांत पढ़कर अपने सुझाव दिए और चित्रों के चयन में पूर्ण रुचि ली। समय-समय पर प्रसिद्ध संस्कृति-वेत्ता आदरणीया डा. कपिला वात्स्यायन से भी ग्रंथ के सम्बन्ध में उचित परामर्श मिलता रहा, मैं उनका विशेष आभारी हूं। पुस्तक प्राक्कथन लिखने और वृहत ग्रंथ और चित्र भण्डार से उपयुक्त चित्रों के उपलब्ध कराने में मुझे अपने परम मित्र आचार्य प्रवर डा. लोकेश चन्द्र से, जो सरस्वती विहार के अध्यक्ष और निदेशक हैं, बड़े उपयोगी सुझाव और सहायता मिली, इसके लिए मैं उनके प्रति जितना भी आभार प्रकट करूं, वह थोड़ा है। मैं गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति के निदेशक डा. एन. राधाकृष्णन, कार्यक्रम अधिकारी श्रीमती डा. सविता सिंह तथा हिंदी आशुलिपिक श्री लालसिंह यादव और अपने विशेष सचिव श्री रामदत्त दुबे के प्रति भी अपना आभार प्रकट करता हूं जिन्होंने अपने ढंग से ग्रंथ की सामग्री जुटाने में सहायता दी।

पुस्तक के दोनों खण्डों में भारतीय और मानव संस्कृति के सम्बन्ध में जो प्रचुर सामग्री एकत्रित की गई है, मुझे विश्वास है, उससे हिंदी भाषा का साहित्य-भण्डार अवश्य समृद्ध होगा।

—बिशम्भरनाथ पांडे

विषय-सूची

आमुख

आर्यो का जब भारत में विस्तार हुआ तो यहां एक शक्तिशाली मस्कृति विद्यमान थी जिसके भग्नावशेष, मोहन-जो-दड़ो, हड़प्पा, गुजरात, बीकानेर और अम्बाला आदि स्थानों पर अब भी मिलते हैं। यह संस्कृति इलाम, सुमेर, बाबुल और क्रीट की संस्कृतियों से संबद्ध थी और उद्योग, व्यापार, कला-कलाप, धर्म-साहित्य में बहुत बढ़ी हुई थी। मोहन-जो-दड़ो से प्राप्त एक मोहर पर शिव का एक चित्र है जिसमें चित्र का ऊपरी भाग वस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित है लेकिन निम्न भाग नग्न है और उर्ध्व-मंद स्पष्टतः प्रदर्शित हैं। पंडित नीलकण्ठ शास्त्री ने सिद्ध किया है कि यह चित्र लकुलीश का है जिससे बाद में लिग-पूजा का प्रचार हुआ।

दस्यु संस्कृति

वैदिक आर्य इस संस्कृति को सामान्यतः 'दस्यु' कहते थे और चूंकि यह संस्कृति मध्य-एशिया से सिन्धु-उपत्यका तक फैली हुई थी इसीलिए आर्यो का इससे सर्वप्रथम साक्षात्कार कैस्पियन सागर के तटों पर हुआ जहां के निवासी यूनानी साहित्य में भी 'दाही' कहलाते हैं, जो दस्यु शब्द का ही रूपान्तर है। कुछ दस्यु लोग आर्यो की विकासोन्मुखी संस्कृति पर मुग्ध होकर उनके अनुयायी हो गए थे और दस्युओ के उन्मूलन में उनके बड़े सहायक सिद्ध हुए थे। त्रिषु वंश के दास राजा ऐसे ही दस्यु नेता थे जिन्होंने आर्यो के साथ मिलकर अफगानिस्तान के पाणियों को अर्धन्दाब (हराकिती—सरस्वती) नदी के तट पर पराजित किया था। इन्हीं दस्यु नेता दिवोदास के पौत्र सुदास थे जिन्होंने आर्यो के आगे बढ़ने पर पसाष्णी नदी के तट पर दाशराज्ञ-युद्ध में विजय प्राप्त की थी। इसी प्रकार दस्युओं के धार्मिक पुरोहित भी आर्यो से मिलकर ब्राह्मण धर्म में समाविष्ट हो गये थे।

दस्यु भाषा में, जिसके अभिलेख मोहन-जो-दड़ो की मोहरों में मिलते हैं, गाय को 'आ' कहते थे और उनके चरवाहों को 'भीर' कहते थे। अतः यह विशाल आभीर

जन समुदाय नगरों की परिधि से दूर अपना कृच्छ जीवन व्यतीत करता था। इनके प्रधान कार्य पशुपालन को दृष्टिगत रखकर उन्हें लोग 'आभीर' कहने लगे।

कुरुक्षेत्र के युद्ध में आर्यो के विनाश के बाद आभीर धर्म बहुत प्रचलित हुआ। आभीरों ने भी बहुत सतर्कता से काम लिया। उन्होंने अपने धर्म को आर्यभाषा और आर्य-शब्दावली में अनूदित कर दिया था। एक ओर उन्होंने सदाचार और समत्त्व पर जोर दिया और दूसरी ओर दार्शनिक गम्भीरता और आध्यात्मिक तीव्रता से हतोत्साहित आर्यो को एक महान विश्वजनीन आदर्श का संदेश दिया।

मध्य एशिया की जातियां और भारत

प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता सर आरल स्टीन और स्वामी विवेकानन्द के अनुज डाक्टर भूपेन्द्रनाथ दत्त ने लगभग दो दशाब्दियों तक मध्य एशिया की जातियों का अत्यन्त खोजपूर्ण अध्ययन किया है। मध्य एशिया की आबादी सदा खानाबदोश रही है। ऐतिहासिक युग में यहां का नाम परिवर्तन भी हुआ है और धर्म परिवर्तन भी।

नृवंश-विज्ञान वेत्ताओं का बहुमत इस बात से सहमत है कि एशिया का यह हिस्सा आर्य भाषा या भारतीय, ईरानी-यूनानी भाषा बोलने वाली जातियों का जन्म-स्थान है। यह भी हम देख रहे हैं कि यहां के प्राचीन अधिवासी लम्बी खोपड़ी वाले लोग थे और चौड़ी खोपड़ी वाले लोग यहां पूर्व की ओर से बाद में आये। राजपूतों, गुर्जरों और जाटों के संबंध में उनके मध्य एशिया के मूल निवासी होने के बारे में जो चर्चा चलती है, मानव-विज्ञान शास्त्र उसका समर्थन नहीं करता।

वैदिक समाज दर्शन

ऋग्वैदिक काल में भारतीय आर्य एक संगठित जाति थे। आजकल की तरह उनका समाज असंख्य जातियों में बंटा हुआ न था। उनमें आपस में खान-पान और शादी-ब्याह में कोई सामाजिक प्रतिबंध न था। वर्ण-व्यवस्था गुण और कर्म के आधार पर प्रारम्भ हुई। कहीं भी इस बात का कोई सबूत नहीं मिलता कि जाति-पांति का बन्धन वैदिक काल में इतना ही कठोर था जितना आजकल है। वैदिक काल में आर्यों की केवल एक ही जाति थी और बाद में उस एक जाति से गुण-धर्म के अनुसार चार वर्ण निकले। जब पहले-पहल वर्ण-व्यवस्था बनी तो वह बहुत ही लचीली थी।

किसी एक वर्ण के लोग किसी दूसरे वर्ण में शामिल हो सकते थे। ऋग्वैदिक काल में स्त्रियों के अधिकार पुरुषों के समान थे। वैदिक काल में स्त्रियों का पद अत्यंत ऊंचा था। बाल विवाह का उस समय नाम निशान न था। स्त्रियां भी ऋषियों का पद प्राप्त कर सकती थीं। घोषा, लोपामुद्रा और विश्ववरा इसकी उदाहरण हैं।

ऋग्वैदिक काल में हमारे पूर्वज जनतंत्रात्मक विचारों के थे। वे अपने शासन-विधान को स्वयं ही निर्मित करते थे। वे अपना शासक स्वयं ही चुनते थे और इस तरह के शासक और प्रतिनिधि पंचायत द्वारा चलने वाली सरकार को प्रसन्नता से राज-कर देते थे।

उपनिषद

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान शोपनहायर के अनुसार, "उपनिषद मनुष्य के धार्मिक अभिज्ञान का सबसे बहुमूल्य वर्णन है। इन सुन्दर रचनाओं ने मुझे यहूदी कर्मकाण्डों और बन्धनों से मुक्त कर दिया। सारी पृथ्वी में उपनिषदों से बढ़कर सुन्दर और उन्नत बनाने वाला कोई दूसरा ग्रंथ नहीं है। मुझे अपने जीवन में इससे बहुत सतोष मिला है और इसी से मुझे मृत्यु में भी संतोष मिलेगा।" शोपनहायर वर्तमान समय का एक सौम्य और महान दार्शनिक तत्ववेत्ता था। यह स्पष्ट है कि वह इन ग्रंथों को दूसरे ग्रंथों से, यहां तक कि ईसाई ग्रंथों से भी ऊपर रखता है।

भगवद्गीता

धर्म-शास्त्र का दूसरा मूल स्रोत गीता है, जिसका सन् 1875 ई. में पहले पहल चार्ल्स विल्किन्स ने अंग्रेजी में अनुवाद किया। अब तो अनेक यूरोपीय भाषाओं मे इसका अनुवाद हो चुका है और सारा ससार श्रद्धा और आदर के साथ इस ग्रथ को देखता है। यही नहीं बल्कि गीता इस समय विश्व-साहित्य का एक अंग बन गई है। चार्ल्स विल्किन्स के अनुवाद की भूमिका में वारेन हेस्टिंग्ज का एक पत्र है। वारेन हेस्टिंग्ज अपने पत्र में लिखता है, "जबकि भारतवर्ष में ब्रिटिश हुकूमत समाप्त हो जायेगी और भारतीय ब्रिटिश सत्ता केवल एक यादगार की चीज रह जायेगी, तब भी श्रीमदभगवद्गीता सुरक्षित रहेगी और इसी प्रकार कोटि-कोटि मनुष्यों को सान्त्वना देती रहेगी।"



वेदांत

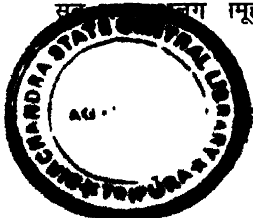
दर्शन-विज्ञान, उपनिषदों और भगवद्गीता का पूर्ण प्रकाश पाकर भारतवासी वेदांत के अन्दर अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंचते हैं। सन् 1880 में जब मैक्समूलर कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में भारत के संबंध में व्याख्यान दे रहे थे, तो उन्होंने कहा था--''अपने विशेष अध्ययन के लिए हम ज्ञान के चाहे जिस अंग को लें, चाहे वह साहित्य हो या धर्म, व्याकरण हो या दर्शन, व्यवस्था हो या कर्मकाण्ड, हर बात के योग्यतम ज्ञान के लिए हमें भारत की ही शरण में आना पड़ेगा। चाहे हम इसे पसन्द करें या न करें लेकिन मानव-ज्ञान की सबसे बहुमूल्य सामग्री हमें केवल संस्कृत साहित्य में मिलती है।

मुक्ति के अनेक मार्ग

एक हिन्दू अपनी आत्मा को ज्ञान के प्रकाश में साधना के द्वारा मुक्ति दिलाना चाहता है। हिन्दू धर्म सत्य को सबसे महत्वपूर्ण और सबसे श्रेष्ठ गुण समझता है। उसके निकट सूर्य का प्रकाश, हवा का झोंका, वर्षा की बूंदें और ईश्वर सबके लिए हैं और सबके हैं। भगवद्गीता दुनिया को यही शिक्षा देती है--''जो कोई भी मेरे पास किसी रास्ते से चलकर आता है, मैं उसके पास उसी रास्ते से पहुचता हूं। बहुत से लोग भिन्न-भिन्न रास्ते से मेरे पास पहुंचने की कोशिश में हैं और वे सब रास्ते मेरे हैं।'' हिन्दू अपने ईश्वर को जगन्नाथ कहकर पुकारता है। उसे दुनिया भर की भलाई करने वाला समझता है। वह ईश्वर को सिर्फ अपना चाहने वाला नहीं समझता।

भारतीय जीवन की विभिन्नता में एकता

इस बात की अनन्त मिसालें दी जा सकती हैं, जिसे हम हिन्दू संस्कृति और हिन्दू सभ्यता कहते हैं, वह कोई खास वैदिक नहीं है बल्कि आर्यो से पहले की शुद्ध भारतीय संस्कृति के साथ अनेक संस्कृतियों से मिलकर बनी है। मानव-जाति-विज्ञान और समाज-विज्ञान के निष्पक्ष पढ़ने वालों के लिए सारी मनुष्य जाति एक है। अलग-अलग समूह या कौमें केवल एक ही तने की शाखें हैं। दुनिया में आज कोई अलग-अलग तरह की जातियां या बुनियादी तौर पर अलग-अलग नसलें नहीं हैं, ये स[illegible]लग समूह हैं। ऐतिहासिक युग से पहले और प्रागैतिहासिक युग में भी



इस देश के लोग बाहर की जातियों से बहुत कुछ लेते रहे हैं और एक बड़े अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति-समूह का अंग रहे हैं। मानव-जाति-विज्ञान के एक यूरोपियन विद्वान ने दिखाया है कि जिस तरह का हल भारतवर्ष के लोग खेती के काम म लाते है, उसी तरह का दक्षिण रूस के प्रांतों के किसान इस्तेमाल करते हं। यानी इस मामले में भारतीय संस्कृति उस संस्कृति का एक अग है, जो अब भी भारत स दक्षिण रूस तक फैली हुई है।

इस्लाम और भारत

जब से इस्लाम और भारत का सबध शुरू हुआ, तभी से मुसलिम विद्वानो के एक वर्ग ने हिन्दू विचारधारा को समझने आर उसके संबंध मे तथ्य इकट्ठा करने में हमेशा सच्चा उत्साह दिखाया ह। अब्बासी खलीफाओं के यहा अनुवाद करने वालो का [illegible] महकमा था।

उपनिषदो के इस अनुवाद की सर्वप्रियता का इसी से पता चलता है कि विषय कठिन आर अव्यक्त होन के बावजूद इस मध्य युग में हिन्दू और मुसलमानो के जीवन और उनकी विचार-प्रणाली पर आध्यात्मिक तरीकों का काफी असर था। धर्मो आर जातियों के झगड़ो के बावजूद आध्यात्मिक विचारों और अनुभवो की गहरी धारा बहती थी, जो सामाजिक भदभावा और साम्प्रदायिक विरोधो को मिटाती रहती थी।

ज्ञान के प्रकार

दोनो के अनुसार, ज्ञान दो प्रकार का होता है। गुज़ाली एक को दुनियावी और दूसरे को आध्यात्मिक ज्ञान कहता ह। हुजवेरी एक को मानवी और दूसरे को दैवी ज्ञान कहता ह। पहला दार्शनिक ज्ञान वह है, जो दुनियावी कामों के लिए जरूरी है आर जो प्रदशक विवाद आर शिक्षा से प्राप्त होता है, किंतु उससे आत्मा का कल्याण सम्भव नही। दूसरा ईश्वर का ज्ञान है, जिसके सिवाय दूसरा कोई नही (मसीवा)। वह पाप से मुक्ति दिलाता है और उसी से चरम सत्य की प्राप्ति होती है।

उपनिषद भी ज्ञान के संबंध में 'अपर' और 'परा' दोनों में फर्क करते हैं। पहले प्रकार का ज्ञान प्रयोगात्मक है और उसका उद्देश्य 'प्रेय' की प्राप्ति है और

वह 'तर्क' से और पुस्तकों के अध्ययन से प्राप्त होता है। किंतु इस प्रकार का पांडित्यपूर्ण ज्ञान नाममात्र का है। उससे श्रेय की प्राप्ति नहीं हो सकती है। परा ज्ञान है: "यत्र नान्यं विजानाति।" यह अनन्त है और अमृत के समान है। यह ज्ञान ईश्वर के प्रसाद से प्राप्त होता है और उसकी समाप्ति परमानन्द से होती है।

ब्रह्मसूत्र

'ब्रह्मसूत्र' वेदांत का सबसे प्रामाणिक ग्रंथ है। शंकर ने उसका जो भाष्य लिखा है, उसमें वह धर्म जिज्ञासा और ब्रह्म जिज्ञासा दोनो के बीच का अन्तर बताता है और कहता है कि ब्रह्म जिज्ञासा केवल श्रुतियों के ज्ञान से ही नहीं हासिल की जा सकती, बल्कि प्रत्यक्ष अनुभव से ही उसे हासिल किया जा सकता है।

वेदांत के अनुसार, आदमी खास-खास बातों में ईश्वर जैसा ही है, लेकिन उसके अंदर का पूर्ण ऐसी माया में फंस गया, जो पूर्ण का प्रतिबिम्ब है। पूर्ण ही उसके रूप बदलने में कारण है। मगर इस परीक्षित और नश्वर व्यक्ति के पीछे अनश्वर और निराकार छिपा हुआ है। इससे यह नतीजा निकलता है कि आदमी सत्य के अस्तित्व से सदैव परे नहीं रहेगा। एक-न-एक दिन उसकी ओर मुड़ेगा और उसके साथ एकमेकता का अनुभव करेगा।

असम्प्रज्ञात समाधि

असम्प्रज्ञात समाधि में जीव को पूर्ण शांति मिलती है। उत्थान-पतन के द्वन्द्व और मन के संकल्प-विकल्प खत्म हो चुके होते हैं। व्यवस्था कायम करने की हमारी यह जाहिर एकता उसी का परिणाम है। किंतु वास्तव में हमारी यह मौलिक एकता भारतीय ब्रिटिश साम्राज्य से बहुत पुरानी है। यह कोई नई चीज नहीं है बल्कि उसके पीछे इतना पुराना इतिहास है जो ऐतिहासिक कालों को भेदकर हमें प्रागैतिहासिक काल तक पहुंचा देता है। इस बात के अनेकों प्रमाण मिलते हैं कि भारतीय धर्म, संस्कृति और सभ्यता के संस्थापक भारत की भौगोलिक एकता से पूरी तरह परिचित थे। उन्होंने जनता के ऊपर अपनी मातृभूमि की अखंडता को स्वाभाविक रूप से ही व्यक्त किया है। प्राचीन भारतीय अपने महान देश को एक 'भारतवर्ष' नाम से ही पुकारते थे। इस देश के सिन्धस, हिन्द अथवा इंडिया आदि नाम विदेशियों

ने रखे हैं। सिन्धु नदी को प्राचीन ईरानी 'हिन्दु' कहा करते थे और यूनानी उसे 'इण्ड' कहा करते थे, इसी से बिगड़कर हिन्द या इंडिया शब्द बने, किन्तु इंडिया की तरह भारतवर्ष शब्द में केवल भौगोलिक भावना नहीं है। भारतवर्ष शब्द के पीछे एक गहरी ऐतिहासिक विशेषता है जो हमारी मौलिक एकता को जाहिर करती है। यह एक बड़ा पुराना सिद्धान्त है कि बहुत सी चीजें एक नाम से तभी पुकारी जाती हैं जब उनके पीछे एकता की भावना हो। इसलिए हमारे प्राचीन ऋषियो ने अनेक जातियो, भाषाओं और धर्मो के होते हुए भी इस देश को एक भारतवर्ष के नाम से पुकारा। भारतवर्ष उसी तरह भरत से बना है जिस तरह रोम रोमुलर से। ऋग्वेद सबसे पहले आर्य जाति के इस महान नेता का जिक्र करता है। भारतीय इतिहास के उष:काल में भारतीय आर्य संस्कृति को इस महान नेता ने अनेक संघर्ष और लड़ाई के बाद निश्चित और व्यापक रूप दिया। ऐतरेय ब्राह्मण में इस महान आर्य सम्राट का विस्तृत वर्णन मिलता है। श्रीमदभागवत् में भी भरत को अधिराज यानी सम्राट के नाम से पुकारा गया है। श्रीमदभागवत् के अनुसार भरत किरात, हूण, यवन, पौंड्र और उसी तरह की अनेक जातियो और कबीलों के राजाधिराज थे।

सिन्धु सभ्यता बनाम वैदिक सभ्यता

सिन्ध के अन्दर मोहन-जो-दडो में और पंजाब के अन्दर हड़प्पा मे जो नई खुदाइया हुई हैं, उनसे भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति पर नई रोशनी पड़ी है। सिन्धु की पुरानी सभ्यता और आर्य सभ्यता दोनों दो अलग-अलग सभ्यताएं थीं। वैदिक साहित्य या संस्कृत साहित्य में 'आर्य' किसी खास नस्ल या जाति का नाम नहीं है।

अब हम यह देखे कि पुराने सस्कृत साहित्य में 'आर्य' शब्द किन अर्थो मे आया है तो पाते है कि जाति विशेष के अर्थो में यह शब्द कहीं आया ही नहीं। यह शब्द जहां भी आया है 'सभ्य', 'शिष्ट', 'श्रेष्ठ', 'उदार' आदि अर्थो मे आया है। महीधर के अनुसार आर्य शब्द का अर्थ पहले वैश्य होता था। गीता मे श्रीकृष्ण ने अर्जुन की कमजोरी को 'अनार्य' कहकर बुरा कहा है। संस्कृत नाटको में छोटे लोग बड़े लोगों को 'आर्य' कहकर पुकारते हैं, पत्नी अपने पति को 'आर्यपुत्र' कहकर पुकारती है। ब्राह्मण अपने धर्म को सदा 'आर्य धर्म' कहते थे। बौद्ध अपने धर्म

को 'आर्य पथ' कहते थे। आर्य शब्द का अर्थ कभी भी कोई जाति विशेष नहीं लिया गया।

जैन संस्कृति का मर्म

जैन संस्कृति के बाहरी स्वरूप में अनेक वस्तुओं का समावेश हुआ है। शास्त्र, भाषा, मन्दिर, स्थापत्य, मूर्ति-विधान, उपासना के प्रकार, उसमें काम आने वाले उपकरण तथा द्रव्य, समाज के खान-पान के नियम, उत्सव, त्यौहार आदि अनेक विषयों का जैन समाज के साथ एक निराला संबंध है।

प्रश्न यह है कि जैन सस्कृति का मर्म क्या है? इसका संक्षिप्त जवाब तो यही है कि निवर्तक धर्म जैन संस्कृति की आत्मा है। जो धर्म निवृत्ति कराने वाला अर्थात् पुनर्जन्म के चक्र का नाश कराने वाला हो या उस निवृत्ति के साधन रूप से जिम धर्म का आविर्भाव, विकास और प्रचार हुआ हो वह निवर्तक धर्म कहलाता है।

जो तत्वज्ञ ऋषि प्रवर्तक धर्म के अनुयायी ब्राह्मणो के वंशज होकर भी निवर्तक धर्म को पूरे तौर से अपना चुके थे उन्होंने चिन्तन और जीवन मे निवर्तक धर्म का महत्व व्यक्त किया। फिर भी उन्होंने अपनी पैतृक संपत्ति रूप प्रवर्द्धक धर्म ओर उसके आधारभूत वेदों का प्रामाण्य मान्य रखा। न्याय-वैशेषिक दर्शन के और औपनिषद दर्शन के आद्य दृष्टा ऐसे ही तत्वज्ञ ऋषि थे। निवर्तक धर्म के कोई-कोई पुरस्कर्ता ऐसे भी हुए कि जिन्होंने तप, ध्यान और आत्म साक्षात्कार के बाधक क्रियाकाण्ड का तो आत्यंतिक विरोध किया पर उस क्रियाकाण्ड की आधारभूत श्रुति का सर्वथा विरोध नहीं किया। ऐसे व्यक्तियों में सांख्य दर्शन के आदि पुरुष कपिल आदि ऋषि थे। यही कारण है कि मूल में सांख्य-योगदर्शन प्रवर्तक धर्म का विरोधी होने पर भी अन्त में वैदिक दर्शनों में समा गया।

समन्वय की ऐसी प्रक्रिया इस देश में शताब्दियों तक चली। फिर कुछ ऐसे आत्यन्तिकवादी दोनों धर्मो में होते रहे कि वे अपने-अपने प्रवर्तक या निवर्तक धर्म के अलावा दूसरे पक्ष को न मानते थे और न युक्त बतलाते थे। महावीर और बुद्ध के पहले भी ऐसे अनेक निवर्तक धर्म के पुरस्कर्ता हुए हैं। फिर भी महावीर और बुद्ध के समय में तो इस देश में निवर्तक धर्म की पोषक ऐसी अनेक संस्थाएं थीं

और दूसरी अनेक ऐसी नई पैदा हो रही थीं कि जो प्रवर्तक धर्म का उग्रता से विरोध करती थीं। अब तक नीचे से ऊंचे तक के वर्गो में निवर्तक धर्म की छाया में विकास पाने वाले विविध तपोनुष्ठान, विविध ध्यान-मार्ग और नानाविध त्यागमय आचारों का इतना अधिक प्रभाव फैलने लगा था कि फिर एक बार महावीर और बुद्ध के समय में प्रवर्तक और निवर्त्तक धर्म के बीच प्रबल विरोध की लहर उठी।

तीर्थंकर परम्परा

जैन दर्शन का विश्वास है कि जैन धर्म शाश्वत है, उसके तत्वों का कभी नाश नहीं होता। अहिंसा और मैत्री मनुष्य के लिए प्रकृति सुलभ हैं—वे मिटें कैसे? और जैन धर्म की आधारशिला अहिंसा ही है। ऋतु परिवर्तन की तरह धर्म की भी उन्नति और अवनति होती है। इसलिए जैनी कहते हैं कि प्रत्येक कल्पकाल में चौबीस तीर्थंकर क्रमशः जन्म लेकर जगत का उद्धार करते हैं। इस कल्पकाल में भी चौबीस तीर्थंकर हो चुके हैं, जिनमें से पहले श्री ऋषभदेव थे और अंतिम वर्द्धमान महावीर।

ऋषभदेव से लेकर वर्द्धमान महावीर तक जैन मान्यता के अनुसार 24 महापुरुष हुए हैं जिनको तीर्थंकर कहते हैं। तत्वज्ञान की दृष्टि से उन सबने एक प्रकार के ही उपदेश दिये हैं। समय के अनुसार आचार का बदलना अनिवार्य होने पर भी तत्वज्ञान के विषय में सभी एकमत हैं। यह बात ऐतिहासिकों को न जंचे, यह सम्भव है, किन्तु हमारे पास इसकी सत्यासत्यता जांचने का कोई साधन नहीं है। इन सभी तीर्थंकरों का जो अस्तित्वकाल जैन विद्वान बताते हैं, उसकी परीक्षा करने का भी हमारे पास कोई साधन नहीं। फिर भी ऋषभदेव, शान्तिनाथ और नेमिनाथ इन तीनों प्रागैतिहासिक पुरुषों के अस्तित्व में संदेह की गुंजाइश नहीं है। उनके निश्चित समय के बारे में भले ही संदेह हो सकता है। पार्श्वनाथ और महावीर के विषय में तो अब ऐतिहासिक लोग भी असंदिग्ध हो गये हैं। पर जैन तत्वज्ञान और आचार के उपदेशों के रूप में जो कुछ आज हमारे सामने ग्रंथबद्ध मौजूद है वह तो तीर्थंकर महावीर के उपदेश का ही फल है। महावीर ने तीर्थंकरों की परम्परा में से बहुत कुछ सीखा और समझा होगा और अपने उपदेश की धारा उसी परम्परा के अनुरूप बहाई होगी। महावीर के उपदेश के रूप में जो कुछ हमारे सामने है, उसमें से बहुत कुछ पूर्व तीर्थंकरों का ही उपदेश समझना चाहिये, शब्द चाहे भले ही महावीर के हों।

यह सत्य है कि आज दुनिया जन्म, जरा, मरण, व्याधि से और अप्राप्य वस्तु की कामना से दुख भोग रही है। इसका कारण केवल मानवीय तृष्णा है। तृष्णा से ही यह सारा दुख उत्पन्न होता है, यह दूसरा आर्य सत्य है। तृष्णा के त्याग से ही दुख से मुक्ति हो सकती है, (कामोपभोग से अथवा तपश्चर्या से मुक्ति नहीं होती) यह तीसरा आर्य सत्य है। इस तृष्णा के नाश के लिए कैसा बर्ताव होना चाहिये, यह चौथा आर्य सत्य है, जिसे अष्टांगिक मार्ग बताता है। यह अष्टांगिक मार्ग निम्नलिखित है--

सम्यक दृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वाचा, सम्यक कर्मान्त, सम्यक आजीव, सम्यक व्यायाम, सम्यक स्मृति और सम्यक समाधि।

इस मार्ग का सार यह है कि मनुष्य मनुष्य के साथ काया, वाचा, मन से सम्यक बर्ताव कर अपनी तृष्णा का क्षय करे। इसी मार्ग से आदमी-आदमी में, कुटुम्ब-कुटुम्ब में और देश-देश मे जो झगड़े उठते हैं, वे सब मिट सकते हैं। केवल शाक्यों और कोलियों का ही नहीं सारी दुनिया के लिए इस नये पथ का शोध करने से गौतम का अन्तःकरण प्रकाशित हुआ।

बौद्ध जीवन-दर्शन

जब हम अपने सामने ऐसे कर्मठ तत्वान्वेषक को पाते हैं, जिसने योग की शाखाओं तथा विभिन्न विचारधाराओं का अध्ययन किया, पूर्व प्रतिष्ठित अहिंसा धर्म के अनुसार कठिन तप सहा, कहीं शांति न पाकर बहुत चिन्तन-मनन के उपरान्त एक सहल मानव-धर्म खोज निकाला, एकान्त से भीड़ में लौट कर प्रचलित रूढ़ियों, परम्पराओं और विश्वासों के विरुद्ध विजय-यात्रा की और जीवन के सन्ध्याकाल में एक दिन अस्वस्थ शरीर से, पर यात्रा करते-करते थक कर मार्ग के एक ओर शाल वृक्षों के नीचे लेट कर महापरिनिर्वाण की महायात्रा आरम्भ की।

बुद्ध के व्यक्तित्व में दो विशेषताएं ऐसी हैं, जिनका संयोग सरल नहीं--इन दो तत्वों में एक है कठोर बुद्धिवाद और इसके कोमल मानवीय तत्व।

अनेक प्रश्नों के संबंध में व्यावहारिक धरातल पर बुद्ध मौन हैं और अनेक प्रश्नों के संबंध में बौद्धिक धरातल पर उपनिषदों के मनीषी नहीं जानते--पुकार उठते

हैं। इन प्रश्नों को छोड़कर बुद्ध की विचारधारा में बहुत कुछ वही है जो तत्कालीन विचारों में भी मिलता है; अवश्य ही सब परिभाषाएं भिन्न-भिन्न हैं।

समाज के चरित्र को उन्नत बनाने और नैतिकता को विकास देने में बुद्ध के सिद्धान्त कितने उपयोगी सिद्ध हुए इसका प्रमाण इतिहास के पृष्ठ ही नहीं वे ऊंचे-ऊंचे शिलाखण्ड भी दे सकेंगे जिन पर नैतिक अनुशासन आज तक अंकित हैं।

साहित्य

साहित्य की दृष्टि से भी बौद्ध संस्कृति कम समृद्ध नहीं कही जा सकती। हीनयान का पाली साहित्य, महायान का संस्कृत साहित्य, दोनों ही बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म से संबंध रखते हैं, परन्तु वे अपनी-अपनी विशेषता में एक-दूसरे से भिन्न हैं। पाली में बुद्ध के प्रवचन, धर्मपद, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक कथा आदि भाषा और शैली की दृष्टि से भारतीय साहित्य के इतिहास में एक नया पृष्ठ जोड़ते हैं। जहां तक बुद्ध के प्रवचनों का संबंध है वे लगभग चार शताब्दियों के उपरान्त लिपिबद्ध हो सके। इन प्रवचनों में पुनरुक्तियां कम नहीं, पर उनकी तर्क-प्रणाली बहुत विकसित, शब्दों का उपयोग संयमित तथा गूढ़तम विषय को उपमा, रूपक द्वारा सहज बनाने का सफल प्रयत्न है। उनमें एक प्रकार की गुरुता और विश्वास का आभास मिलता है जो बुद्ध के समान मनोवैज्ञानिक तर्कवादी में ही सम्भव था।

भारतीय और ग्रीक कला के सम्मिश्रण से जिस गान्धार कला का विकास हुआ वह तो बुद्ध की प्रशान्त योग मुद्रा को व्यक्त करने में असफल रही, परन्तु बौद्ध प्रवृत्ति और भारतीय कला के संयोग से जिस बौद्ध कला का विकास हुआ वह एक ओर बुद्ध की प्रशान्त मुद्रा से पवित्र और दूसरी ओर भारतीय सौन्दर्य की पूर्ण रेखाओं में सजीव है।

अजन्ता की कला इसका अच्छा उदाहरण है। सुन्दर स्त्री-आकारों में सजीव रेखाओं का बाहुल्य, गीत-वाद्य, पुष्प-वर्षा का बाहुल्य और इन सबके बीच मे दीपक की निष्कम्प लौ के समान बुद्ध की प्रशान्त और हंसमुख मुद्रा हमारे जीवन के बाह्य और आन्तरिक सौन्दर्य का समन्वय प्रकट करती है।

भारत का शुरू से अब तक का सारा इतिहास एक सुन्दर और सिलसिलेवार कहानी है जिसकी कड़ियां एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। शुरू से अब तक इस देश ने

जिन आदर्शों को अपने सामने रखा है उन सब में एक अखंड एकता व्याप्त है। देश का समस्त मानव समाज एक कुटुम्ब बल्कि एक शरीर की तरह है। इस देश की यह अखंड एकता ही भारत की असली और अमर आत्मा है। अपने इतिहास के अलग-अलग युगों में अलग-अलग तरह से और कभी-कभी एक ही युग में कई परस्पर विरोधी तरीकों पर यह आत्मा अपने को प्रकट करती रही है। किंतु उसकी एकता और अखण्डता इन सब विभिन्नताओं से ऊपर और उनसे कहीं अधिक महान है। हमारे अलग-अलग धर्मो, अलग-अलग सम्प्रदायों, तरह-तरह के रीति-रिवाजों, संस्थाओं, उद्योग-धंधों, कला, चित्रकारियों, विद्याओं और दर्शनशास्त्रों सबके अन्दर व्याप्त होकर यही एकता उन सबको एक सुन्दर, सर्वागीण भारतीय जीवन के अंग-प्रत्यंग बनाए हुए है। हमारे इतिहास की जयों और पराजयों, हमारे संग्रामों, हमारी उम्मीदों और हमारी मायूसियों, सबके अन्दर वही एकता रमी हुई है। इन सब परिवर्तनों में भी हमारे जीवन की यही एकता रमी हुई है। इन सब परिवर्तनों मे भी हमारे जीवन की यही एकता कायम रही है और कायम है। भारत की इसी आत्मा ने द्रविड़ जाति से पहले के भारतवासियों, द्रविड़ों और उनके बाद के आर्यो, इन सबको मिलाकर पुराने समय के संयुक्त भारतीय समाज की रचना की थी। इस मेल का पता हमें उस जमाने के उन ऊंचे दर्शनशास्त्रों, सुन्दर मूर्तियों और चित्रकारियों से मिलता है जो अभी तक हर भारतवासी की आत्मा को उल्लास, उत्साह और गर्व से भर देती हैं।

पाठक भारत औंर उसकी महान संस्कृति की सिलसिलेवार कहानी इस पुस्तक के पृष्ठों में पायेंगे। मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक एक सीमा तक उनका मार्ग प्रशस्त करेगी।

भारत और ईरान का सांस्कृतिक संबंध

हिंदुस्तान और ईरान, एशिया के ऐसे दो देश हैं, जिन्हें कुदरत ने एक दूसरे के पास-पास बसाया है। दोनों के बीच के पहाड़ों के सिलसिले और फैला हुआ समंदर कभी भी दोनों तरफ से लोगों के मेल-जोल को नहीं रोक सके। इन बीच की रुकावटों की वजह से दोनों तरफ के साहसी और प्रेमी लोग और भी ज्यादा एक-दूसरे की तरफ खिंचते रहे हैं। जब से इनसान की तारीख शुरू होती है, उससे पहले से आज तक लगातार काफिले के काफिले जमीन के और पानी के रास्ते पहाड़ों, जंगलों, रेगिस्तानों और समंदर को पार करते हुए इधर से उधर और उधर से इधर आते जाते रहे हैं।

हिंदुस्तान और ईरान के बीच आने-जाने की यह कहानी हज़ारों बरस पुरानी है। इन दोनों देशों का यह संबंध केवल पुराना ही नहीं है, यह बहुत गहरा है और इनसानी कलचर के हर पहलू पर छाया हुआ है।

हिंदुस्तान और ईरान एक-दूसरे के केवल पड़ोसी ही नहीं हैं, इन दोनों मुल्कों की आत्माएं भी एक दूसरे के बहुत निकट रही हैं और हैं। यह दोनों क़ौमें एक ही नसल से हैं। इनकी भाषाओं, इनके धार्मिक अनुभवों और धर्म-मज़हब की तरफ इन दोनों के रुख में भी हमेशा बहुत बड़ी समानता रही है।

मालूम पड़ता है कि इन दो मुल्कों के लोगों ने लगभग एक साथ एक ही वक्त इनसानी तहज़ीब की उन्नति की मंज़िलें तय करनी शुरु कीं। वह दोनों मुल्क अरब सागर के दो सिरों पर हैं। पश्चिम के सिरे पर कारूं नदी दक्षिणी जागरुस में से बहती हुई और उन मैदानों में से होती हुई जहां ईरान की सबसे पहली सभ्यताओं ने जन्म लिया था, ईरान की खाड़ी में जाकर गिरती है। पूरब में सिंधु नदी जिसका निकास हिमालय की बरफानी चोटियों से है, पंजाब और सिंध के मैदानों को सैलाब

करती हुई किसी ज़माने में कच्छ की खाड़ी में जाकर गिरती थी। कारुं और सिंध दोनों पहाड़ों के पत्थरों और तरह-तरह की उपजाऊ मिट्टी को अपने साथ ढकेलती हुई हमेशा अपना रास्ता बदलती और इन दोनों मुल्कों के अलग-अलग हिस्सों को उपजाऊ बनाती रही हैं।

अरब सागर के इन दोनों सिरो पर इनसानी तहज़ीब साथ-साथ शुरु हुई। दोनों जगह साथ-साथ शहर आबाद हुए। खेती-बाड़ी, पशु-पालन और धातु की चीज़ों के बनने के साथ-साथ दोनों जगह इनसान एक बहुत बड़े दरजे तक, कुदरत की गुलामी से एक साथ आज़ाद हुआ। दौलत और तिजारत, सामाजिक संस्थाएं, राज, सरकार, इल्म और हुनर दोनों जगह फले-फूले और दोनों जगह की सभ्यताओं को तरक्की देने लगे। पश्चिम में तख्ते जमशीद (परसी पोलिस), शूश, काशान और निहावंद, उत्तर में अस्तराबाद और अनाव जैसे बहुत से प्राचीन ईरानी शहरों की खुदाई से तांबा, पीतल, कांसा, सोना, जवाहिरात और मिट्टी के वह बर्तन मिले हैं जिनसे उस ज़माने की ईरानी तहज़ीब और उसकी तरक्क़ी की मंजिलों का पता चलता है। ठीक उसी जमाने की इसी तरह की चीजें मोहन जोदाड़ो, हड़प्पा और सिधु नदी के आस-पास के और मुकामों की खुदाई में मिली हैं। दोनों तरफ की इन चीजों से साफ पता चलता है कि यह दोनों सभ्यताएं कितनी मिलती-जुलती थीं और इन दोनों ने एक-दूसरे से किस क़दर लिया था। इलाम में शूश और अनजान के राजकाजी संबंध और वहां की राजकाजी संस्थाएं हड़प्पा और मोहन जोदाड़ो के राजकाजी संबंधों और संस्थाओं से बेहद मिलती जुलती हैं।

इलाम और हड़प्पा दोनों की उस ज़माने की हुकूमतें राज-पुरोहितों या पुरोहित राजाओं के हाथों में थीं। दोनों जगह पुरोहित ही राजा होते थे। दोनों जगह इन बहुत से देवी-देवताओं के ऊपर एक सबसे बड़ा देवता माना जाता था, जो इन सबका राजा समझा जाता था और जो किसी पहाड़ के शिखर पर रहता था। दोनों जगह सूरज और चांद की पूजा होती थी, जल और थल के देवताओं की पूजा होती थी, प्रेम की देवी और संतान की उत्पत्ति की देवी-मां यानी देवी-माता की पूजा होती थी। दोनों जगह कुछ जानवरों और दरख़्तों को भी पाक माना जाता था जैसे सांड, सांप, शेर, पीपल आदि। हर शहर, हर गांव और हर घर का अपना एक अलग

छोटा-सा मंदिर होता था जिसमें इन देवी-देवताओं की मिट्टी या पत्थर की छोटी-छोटी मूर्तियां होती थीं।

बड़े-बड़े मंदिर जो जिगूरात या खुदा का घर कहलाते थे, चारों तरफ ऊंची-ऊंची दीवारों से घिरे होते थे। उनके अंदर बड़े-बड़े चबूतरे होते थे। कई-कई मंजिले एवान होते थे जिन तक पहुंचने के लिए ऊंची-ऊंची सीढ़ियां होती थीं। इनके चारों तरफ ऊंचे मीनार होते थे। यह बिलकुल किले की तरह होते थे और इन मंदिरों में बेशुमार दौलत और लाखों मन गल्ला जमा रहता था।

इलाम और सिंध दोनों इलाके पुरोहित राजाओं के हाथों में एक जबरदस्त शिकंजे में कसे रहते थे। सारा समाज पुराने रीत-रिवाजों के तंग सांचों में जकड़ा हुआ था। किसी को उससे बाहर निकलने या कोई नई बात करने की इजाज़त नहीं थी।

नतीजा दोनों जगह एक सा हुआ। दोनों जगह के बाशिंदों पर एक सी आफत टूटी। इलाम और सिंध दोनों पर उत्तर से खाना बदोश आर्य हमलावरों ने, जो घोड़ों पर सवार और लोहे के हथियार लिये हुए थे, धावा बोल दिया। उन्होंने इन दोनों मुल्कों को रौंद डाला और उन्हें जीत कर अपने अधीन कर लिया। धीरे-धीरे पुराने बाशिंदे और नये हमलावर दोनों की नसलें एक दूसरे में रल-मिलकर एक हो गईं। यही आजकल के ईरानियों और हिंदुस्तानियों दोनों के पुरखे थे। उनकी नसल एक थी, बोली एक थी, धर्म एक था और कलचर एक था।

इन आर्य लोगों के ईरान में बस जाने के बाद उन पर वहां के चारों तरफ के हालात का पूरा असर पड़ा। ईरान में तरह-तरह के भू-भाग हैं—कहीं पहाड़ और कहीं रेगिस्तान, कहीं दरियाओं की उपत्यकाएं और बीच के मैदान जो आदमियों, जानवरों और हरियाली से भरे हुए हैं, और कहीं रेतीले सफाचट मैदान, जिनमें दूर-दूर तक न कोई जानवर दिखाई पड़ता है और न कोई घास का तिनका, जहां सिवाय हवा की सांय-सांय के कोई आवाज़ सुनाई नहीं देती। उजाले और अंधेरे, नेकी और बदी की शक्तियां वहां साफ अलग-अलग काम करती दिखाई देती थीं।

हिंदुस्तान में इसके खिलाफ प्रकृति ज्यादा नरम, मीठी, मुलायम और रहमदिल थी। एक दूसरे के बाद खुलते हुए बड़े मैदान जिन्हें बहुत से बड़े-बड़े दरिया सींचते थे और हर साल मौसमी बारिश जिन्हें फिर से सादाब कर देती थी। इन मैदानों

में तरह-तरह के दरख्त, जड़ी-बूटियां और सब्जाजार और तरह-तरह के जानवर रहते थे। हर साल की नई बहार वहां आदमी के दिमाग में यह ख्याल ही पैदा होने न देती थी कि प्रकृति की फय्याजी की कहीं हदें भी हैं या आबादी के मुकाबले में कहीं वीरानी भी है।

पर दुनिया में कहीं भी कोई भी परिवर्तन क्यों न हो शुरु के सांचे की छाप बराबर रहती ही है।

ईरान के पैग़म्बर जरतुश्त के सुधारों से पहले ईरानियों का जो मज़हब था, जो कुछ तबदीलियों के साथ बाद के हखामनशी और सासानी जमाने में भी क़ायम रहा, वह हिंदुस्तानी आर्यो के वैदिक मज़हब से बेहद मिलता हुआ था। इससे भी अधिक ध्यान देने की बात यह है कि जरतुश्त ने धर्म को जो नया रूप दिया वह अपने हर पहलू में साफ-साफ यह बता रहा है कि वह और वेदिक धर्म दोनो एक ही खानदान से हैं। जरतुश्त ने पुरानी निकम्मी पेचीदगियो, जटिल रीत-रिवाजों और अंध-विश्वासों को हटाकर जीवन की सादगी और चरित्र की पाकीज़गी पर जोर दिया। उन्होंने आदमी के नेकी के जीवन के लिये साफ-साफ और सीधे-सीधे कायदे बना दिये और हदें कायम कर दीं।

आर्यो की किताब वेद और जरतुश्त की किताब अवस्ता दोनों यही एलान करती हैं कि खुदा, ईश्वर एक है। ऋगवेद में लिखा है कि–"वह एक है, विद्वान लोग उसे तरह-तरह से बयान करते हैं।" अवस्ता के मुताबिक़ "अहुरमज्द (ईश्वर) ही इस सारे विश्व को बनाने वाला और सारी ज़िंदगी का मालिक है।"

हिंदुस्तान की आर्य धार्मिक किताबों का असुर वरुण वही है जो ईरानियों का अहुरमज्द। यह एक अजीब बात है कि वेदों में वरुण को 'असुर' कहा गया है हालांकि बाद के साहित्य में 'असुर' का मतलब दानव यानी देवताओं का दुश्मन होता है।

वेदों के मुताबिक वरुण "इस सारी दुनिया का बनाने वाला कायम रखने वाला और रक्षा करने वाला है और सर्वज्ञ (अलीम) है। वही जमीन और आसमान का बनाने वाला है, उसी ने आसमान के अंदर तारों और उनकी चालों को कायम किया है और जल और थल को फैला कर उनमें जानदारों को बसाया है। वही सब कुछ जानने वाला और सबका हाकिम है। वह भूत, भविष्य और वर्तमान (माजी, मुस्तकबिल

और हाल) सबको जानता है। वह हवा के रास्तों और उसमें उड़ने वाले परिंदों और समंदर में चलने वाले जहाजों सबके रास्तों को जानता है। वह आदमी के पलक की झपकियों को भी गिन लेता है। वह दुनिया का रक्षक और मालिक है। वह सब चीजों को देखता है।"

"अगर मैं उड़कर दूर से दूर के आसमान पर भी पहुंच जाऊं तब भी मैं असुर वरुण के राज से बाहर नहीं निकल सकता। आसमान में बैठे हुए उसके दूत (फरिश्ते) चारों तरफ अपनी हजारों आंखों से दुनिया को हर वक्त देखते रहते हैं।"

वरुण केवल आदमियों के गुनाहों को ही नहीं देखता और लोगों के दिलों में गहरे से गहरे भेदों को ही नहीं जानता, "वह दया और प्रेम का भी ईश्वर है।" इस दुनिया में और अगली दुनिया में दोनों जगह वह अपने भक्तों की खबर रखता है। वह उन सब पर दया करता है और उनके गुनाह माफ कर देता है जो इन शब्दों में उससे प्रार्थना करते हैं :–"ऐ असुर वरुण! अगर मैंने अपने किसी प्यारे साथी या नातेदार के साथ कोई बुराई की है या अपने किसी भाई या पड़ोसी के साथ, या अपने किसी हमवतन के साथ, या किसी अजनबी के साथ, तो उसके लिये तू मेरा वह गुनाह माफ कर दे!"

"वह इस दुनिया में लोगों का मित्र है, सबसे मिलता है और इसके बाद की उस दुनिया में जो उन लोगों के रहने की जगह है, जिन पर उसकी नेमतें हैं और जहां नेक रूहों के लिये एक जिंदगी के बाद दूसरी जिंदगी आती रहती है, और हर आगे की जिंदगी पहले की जिंदगी से ज्यादा भरपूर और सुंदर होती है, उस दुनिया का भी वही मालिक है।"

जरतुश्त के अनुसार ईश्वर, खुदा यानी अहुरमज्द के दो साफ रूप हैं जो अहुर मज्द के नाम से जाहिर हैं। अहुर की हैसियत से वह सारे जान का यानी सब रूहों का मालिक है और मज्द की हैसियत से वह सारी माद्दी दुनिया का बनाने वाला है। "अहुर मज्द सर्व शक्तिमान यानी कादिरे मुतलक है, वही सबका इनसाफ करने वाला है, वह अकले कुल है, वह सबसे ऊंचा और सबसे बड़ा है और विनाशक और संहारक है। उसके मन के अंदर सब चीजों की याद मौजूद है। हर सुनने वाले के दिल में वह गवाह की तरह मौजूद है। उसकी दया और मेहर सब ढूंढ़ते हैं।

जो उसमें रोशनी चाहते हैं उन्हें उससे रोशनी मिलती है। उसी ने दुनिया को बनाया है, वही उसमें फिर फिर जान डालता है। वह सच्चाई की दुनिया में वास करता है, उसका प्रेम सब जानदारों, आदमियों और जानवरों को अपने दायरे के अंदर घेरे हुए है।"

वेदो के अंदर वरुण की जितनी तारीफें गिनाई गई हैं, वह लगभग सब अवस्ता के अंदर अहुर मज्द की तारीफे बताई गई हैं।

अवस्ता में 'अमेश स्पंदों' का भी जिक्र आता है जिस का मतलब पाक रुहें है। कहीं पर इन्हें अहुर मज्द की केवल सिफतें यानी उसके गुण बताया गया है और कहीं उसके सेवक या उसकी शक्तियां या उसके अलग-अलग रूप कहा गया है। वेदों में भी ठीक इसी तरह से वरुण के सेवकों और शक्तियों का बयान है।

"अमेश स्पंद" दो तरह के हैं–एक वह जिनका संबंध क्रिया यानी फेल से है और दूसरे वह जिनका संवंध भाव यानी जज़बे से है। इनमें पहले का सबंध अहुर से है और दूसरे का मज्द से। इनमें सबसे ऊपर 'अशा' है। वेद में 'अशा' का नाम "ऋत" रखा गया है, दोनों बिलकुल एक हैं।

अवस्ता में अशा का मतलब है दुनिया की तरतीब, कुदरत का वह कानून जो दुनिया को चलाता है और हमेशा एक सा रहता है और अहुर मज्द की वह इच्छा जो लोगों के सारे सदाचार के कानून की नींव है। अशा ही सच्चाई और धर्म का कानून है।

वेदों में "ऋत" का मतलब है तीन तरह का कानून–एक जड़ यानी माद्दे का कानून जिससे दुनिया का माद्दी रुप कायम रहता है, दूसरा कुरबानी का कानून और तीसरा नेकी यानी सदाचार का कानून। "ऋत ही के जरिये सूरज सुबह को निकलता है और बारह महीने के अंदर आसमान में अपना चक्कर पूरा करता है। ऋत ही के जरिये अग्नि यानी आग लोगों की हवन में चढ़ाई हुई चीजों को देवताओं तक पहुंचा देती है। ऋत बुराई को रोकता है और नेकी का हुक्म देता है। ऋत ही सच्चाई है, ऋत ही धर्म है।"

अवस्तां के दूसरे अमेश स्पंदों के भी रूप वेदों के अंदर मिलते हैं।

बहुत से हिंदुस्तानी देवी-देवताओं का अवस्ता में जिक्र आता है। वेदों के 'आदित्य', अवस्ता के 'स्पंद मैन्यु' हैं। वेदों का 'मित्र' और ईरानी 'मित्र' दोनों बिलकुल एक हैं। पर न जाने कैसे वेदों का 'इंद्र देवता' अवस्ता का 'इंद्र दानव' यानी इंद्र शैतान हो गया। वेदों का वृत्राहान ईरान का विरित्राधून है। ईरानी किताब गाथा में तीन 'एजद' का जिक्र है। उनमें से एक आजर है जो पहलवी जबान में आतर हो गया और आजकल की ईरानी में आतश हो गया। आजर वही देवता है जिसे वेदों में अग्नि यानी आग कहा गया है। वेदों के अनुसार अग्नि कई तरह की होती है, आसमानी भी और ज़मीनी भी। "अग्नि बिजली की तरह आसमान में पैदा होती है और दो लकड़ियों की रगड़ से उसी तरह निकल पड़ती है जिस तरह दो प्रेमियों के मेल से। यह अग्नि बादलों से उतर कर पानी में जाती है, पानी से निकल कर पौधों में जाती है और पौधों से आग की लौ और धुएं की शकल में उठकर फिर बादलों में पहुंच जाती है। यही आदमी के अंदर हरारत यानी उसकी जान है। यही जानवरों और परिंदों के अंदर गरमी है। सब दोपायों और चौपायों में यही जान है। यही अमर जीवन यानी हयाते अबदी का मरकज है।"

ईरानी आजर के पांच रूप हैं:–(1) बरजीस बहु (बहराम), (2) बहु फरयाना (जानदारों के अंदर की गरमी), (3) उरवर्सीस्ता (वह गरमी जो दो लकड़ियों के रगड़ने से पैदा होती है), (4) वजीश्ता (बिजली) और (5) सपनीस्ता (वह आग जो हमेशा हमेशा तक कायम रहती है)।

वेदों के पूजा पाठ में और अवस्ता के पूजा पाठ में, दोनो में से किसी में मंदिरों के या मूर्तियों के लिये कोई जगह नहीं है। हर गृहस्थ का, चाहे वह राजा हो या मामूली आदमी, यह फर्ज है कि वह हर वक्त अपने घर में आग को कायम रखे और उसमें यज्ञ करता रहे। वेदों में जिसे यज्ञ कहा गया है उसी को अवस्ता में यस्न कहा गया है। जो लोग इन यज्ञों या यस्नों में पुरोहित का काम करते हैं उनके दोनों में एक ही से नाम हैं–जैसे होतार, जोतार, अथरवन, क्रिया अकान, कैकाऊस।

और भी बहुत सी मिलती-जुलती चीजें हैं। वेदों का मजहब और अवस्ता का मजहब दोनों ऐसे लोगों के मजहब हैं जो जीवन को खुशी और उमंग के साथ देखते थे, दोनों ऊंची जिंदगी और नेकी के उसूलों के सच्चे खोजी थे। दोनों ने इस उसूल

को पा लिया था कि सबका खुदा यानी ईश्वर एक है। दोनों यह मानते थे कि ईश्वर की रोशनी सबको मदद देती है और जो इससे फायदा उठाता है उसे अनन्त सुख के मुकाम तक पहुंचा देती है। दोनों को इस बात पर पक्का विश्वास था कि यह सारी दुनिया एक ऐसे अच्छे कानून के सहारे चल रही है जो हमेशा से है और हमेशा तक रहेगा।

जमाने के साथ-साथ दोनों जगह तब्दीलियां हुई। ईरान और हिंदुस्तान दोनों फिर से तंग निगाह पुरोहितों के जाल में फंस गये। दोनों जगह मजहब फिर केवल ऊपरी रीति-रिवाज की चीज रह गया। मजहब की रुह दोनों जगह फिर गुम हो गई। सच्चाई की जगह अंध विश्वासों ने ले ली और लोगों की नई-नई रचना करने और तरक्की करने की शक्ति मिटकर सब केवल रस्म-परस्ती में फंसकर रह गये।

इस गंदले पानी को फिर से साफ करके मजहब की शुरू की पाकीजगी को फिर से वापस लाने के लिये ईरान में कोई नया महापुरुष पैदा नहीं हुआ। हिंदुस्तान में खुशकिस्मती से गौतम बुद्ध ने जन्म लिया। गौतम बुद्ध ने रीति-रिवाजों और अंध-विश्वासों के बोझ से लोगों को आजाद करके उन्हें फिर से यह उपदेश दिया कि वह इस तरह की नेकी और सच्चाई की जिंदगी बसर करें जिसमें उनका इस दुनिया में भी भला हो और आत्मा के हमेशा के जीवन में भी कल्याण हो।

इसके बाद बाहर से फिर एक ऐसी आफत आई जिसने हिंदुस्तान और ईरान दोनों को फिर मिलाकर एक कर दिया। सिकंदर ने हखामनीषी साम्राज्य को मिटा कर सम्राट अशोक के बौद्ध मिशनरियों के लिये रास्ता खोल दिया कि वह अपने नये मजहब का पैगाम हिंदुस्तान से ले जाकर पश्चिमी दुनिया के देशों तक पहुंचा सकें। सेहून (सिर) और जेहून (आमू) नदियों के किनारों से लेकर हीरमंद तक पूर्वी ईरान बौद्ध मिशनरियों और बौद्ध भिक्षुओं से भर गया। सुग्द से लेकर सीस्तान तक बौद्ध मंदिर और बौद्ध मठ खड़े हो गये। अशोक के बाद उसके जानशीन राजाओं ने भी इस मजहब को कुबूल कर लिया और उसे अपने यहां के तमाम लोगों में फैलाया।

ईरान में जो गरमा-गरमी और जोश इन तहरीकों से पैदा हुआ उससे एक अजीब तरह का नया संगम, एक नई तरह की तरकीब पैदा हुई जिसमें जरतुश्ती धर्म, ईसाई धर्म और बौद्ध धर्म तीनों आकर मिल गये। इस नये मजहब का नाम 'मानी' मजहब था।

महात्मा मानी ईरान के अंदर ठीक उस मजहबी उथल-पृथल के जमाने में 14 अप्रैल सन् 216 को पैदा हुए। कहा जाता है कि वह उत्तर पश्चिम हिंदुस्तान गये और वहां दो साल रहकर वहां के धर्मो को रूप दिया ओर उसका प्रचार शुरू किया। 9 अप्रैल सन् 243 को वह पीरोज की मार्फत ईरान के बादशाह शाहपुर से मिले और उन्होंने शाहपुर को करीब-करीब अपने मजहब का पैरी बना लिया, लेकिन आखिरकार पुराने मजहब के मग पुरोहितों का बोलबाला रहा और सन् 277 में मानी को बड़ी बेदर्दी के साथ सूली पर चढ़ा दिया गया।

महात्मा मानी के विचार मनुष्य जीवन और उसके मकसद के बारे मे बुनियादन बौद्ध विचार थे। उनका कहना था कि यह दुनिया दुख की घाटी है, आदमी का जीवन कुदरती तौर पर दर्द और रंज का जीवन है। इससे छुटकारा पाने की इच्छा आदमी मे एक कुदरती इच्छा है। छुटकारा, मुक्ति या निजात का एक ही तरीका है और वह है त्याग यानी अपने नफ्स को पूरी तरह काबू में करना, जिसका आखिरी नतीजा फना यानी अपने अलग वजूद को मिटा डालना है। यही निजात है, यही निर्वाण है।

चूंकि हर आदमी इतना जबरदस्त त्याग नहीं कर सकता इसलिये मानी ने इनसानों को दो जमातों में तकसीम किया--एक खास चुने हुए आदमी यानी भिक्षु और दूसरे मामूली इनसान जिन्हें वह मुस्तमईन यानी सुनने वाले कहते थे। खास चुने हुए लोगों को तीन तरह की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी जिन्हें तीन मुहरें कहा जाता था। इनमें पहली मुंह पर मुहर लगाना था जिसका मतलब था गोश्त, खून और शराब से पूरा परहेज। दूसरी अपने हाथ पर मुहर लगाना था यानी कोई ऐसा काम न करना जिससे किसी दूसरे को दुख पहुंचे। तीसरी अपने दिल पर मुहर लगाना था यानी हर किस्म के शहवाती कामों यानी इंद्रिय सुख से परहेज।

महात्मा मानी का मजहब बहुत दिनों ईरान में रहा और दूर-दूर के मुल्कों में भी पहुंचा। लेकिन ईरानी कौम ने कौम की हैसियत से कभी उसे न अपनाया। पर इसके बाद जरतुश्ती धर्म भी बहुत दिनों तक ईरान में न चल सका। थोड़े ही दिनों में इसलाम उस सारे इलाके में फैल गया।

अगरचे ईरानियों ने इसलाम कुबूल कर लिया फिर भी ईरान की पुरानी कलचर

बाहर के प्रयत्न के सामने नहीं झुकी। इसके खिलाफ ईरान की पुरानी कलचर ने इसलामी दुनिया के इरादों, उसके विचारों, उसके साहित्य और उसके फलसफे पर अपनी पूरी छाप लगाई।

आठवीं सदी में अरबों ने एक मर्तबा ईरान को फतह कर लिया। उसी वक्त से ईरान की पुरानी रुह फिर से जागनी शुरू हो गई। कुदरती तौर पर इस नई तहरीक का गहवारा भी पूर्वी ईरान खासकर खुरासान ही था। यह इलाका बौद्ध और हिंदू विचारों में डूबा हुआ था। इसलिये यह लाजिमी था कि ईरानी कलचर के फिर से चमकने के साथ-साथ उस पर हिंदुस्तानी विचारों की छाप दिखाई दे।

फारसी जबान को सबसे पहले रूप देने वाले हजल-बाद-कीसी से लेकर रोदकी तक सब पूरब के रहने वाले थे। रोदकी को सुल्तान-उस-शौरा कहा जाता हैं। वह समरकंद के पास एक गाव में पैदा हुआ था। मोहम्मद गज़नी के दरबार के शायर जैसे दकीकी, अनसरी, जो मुमकिन है दामगान का रहने वाला रहा हो, असजदी, मनुचेहरी, असदी वगैरह, खुरासान या सीस्तान के रहने वाले थे। उस जमाने का सबसे बड़ा फारसी शायर फिरदौसी जिसने प्राचीन ईरान की शान को फिर से चमका कर अमर कर दिया, तूस का रहने वाला था।

प्राचीन ईरानी कल्चर की यह बेदारी केवल शेरो-शायरी तक ही सीमित नहीं रही। फाराबी, इब्न सीना, अबुरेहान, अलबेरुनी जैसे बड़े-बड़े विचारक और फिलासफर इसी इलाके के रहने वाले थे।

तसव्वुफ यानी इसलामी वेदांत दर्शन के फूल सबसे पहले इसी इलाके में खिले। शुरू के सूफियों में से ज्यादातर खुरासान के थे। इब्राहीम अजम, अहमद खजविया, अबु अली शकीक, हातम आसम, यहिया बिन मआज सब बलख के रहने वाले थे। मारुफ करखी, अब्दुल हुसैन नूरी, बशर हाफी, बायजीद विस्तामी, अबुचक्र शिबली सब खुरासान के मुख्तलिफ हिस्सो के रहने वाले थे।

तसव्वुफ के उसूलों को सबसे पहले खुरासानियों ने रूप दिया। तूस के रहने वाले अबुनस्र सर्राज ने 'किताबुल लमा फिल तसव्वुफ' लिखी। अबुलहसन अलहजवीरी ने, जो गजनी का रहने वाला था, 'कशफुल महजूब' लिखी। तूस के रहने वाले अलगिजाली ने, जो इसलामी जिंदगी का सबसे बड़ा हकीम और आलिम माना जाता

है, तसव्वुफ के ऊपर बेशुमार आलिमाना किताबें लिखीं। आखीर में अब्दुल रहमान नूरउद्दीन जामी ने 'लवाएह' नाम की वह बेनज़ीर किताब लिखी जो इसलामी तसव्वुफ़ की सबसे ज़्यादा हरदिल अज़ीज किताब मानी जाती है।

लेकिन तसव्वुफ़ की सबसे बेश क़ीमत खिदमत खुरासान के इन सूफी, संतों और शायरों ने की—फरीदउद्दीन अत्तार जिसने 'मनूतकुत्तैर' लिखा। अबुलमज्द सनाई जिसने 'हदीकह-उल-हक़ीकत' लिखी, और इन सबमें बुजुर्ग संत, जो तसव्वुफ के फलसफे के सरताज माने जाते हैं, मौलाना जलालउद्दीन रुसी बलखी ने अपनी मशहूर मसनवी लिखी।

यह भी कुदरती था कि पूरबी ईरान का वही हिस्सा जो हिंदुस्तान के धार्मिक विचारों से ओत प्रोत हो चुका था इसलाम के आने के बाद ईरानी कलचर की बेदारी और इसलामी तसव्वुफ़ का सबसे बड़ा गहवारा साबित हुआ। बलख ही का रहने वाला ख़ालिद, जो बौद्ध नव विहार के सबसे बड़े पुरोहित (प्रमुख) के खानदान से था, अब्बासी ख़लीफाओं का 'बरमकी वज़ीर' हुआ। उसने इसलामी सल्तनत को वास्तविक ईरानी रूप देने में वहुत ज़बरदस्त हिस्सा लिया। ख़ालिद ही ने अब्बासी ख़लीफाओं के दरबार में बहुत सी संस्कृत और पहलवी किताबों का अरबी में तरजुमा कराया। मौलाना रूम के विचारों और हिंदुस्तान के फलसफए वेदांत के विचारों में गहरी समानता है।

मसनवी में बहुत सी कहानियां और क़िस्से हैं। इनमें से कई हिंदुस्तान की कहानियां हैं जो तरजुमों के ज़रिये मौलाना रूम तक पहुंचीं! मिसाल के तौर परः—

(1) शेर और खरगोश की कहानी,
(2) अंधे आदमियों और हाथी की कहानी,
(3) लोमड़ी और ढोल की कहानी,
(4) खरगोशों की कहानी जिन्होंने हाथी के पास अपना संदेश भेजा था,
(5) दरवेश की कहानी जिसने खुद अपनी जान दी थी।

मौलाना रूम के विचारों में बहुत से बुनियादी विचार हिंदुस्तान के विचारों से मिलते हैं, मसलन :—

1. खुदा का विचार

मौलाना "वहदतुलवजूद" के मानने वाले थे जिसका मतलब है कि सिवाय खुदा के और कोई चीज़ है ही नही, बाकी जो दिखाई देता है, फरेब यानी धोखा है।

मसनवी में लिखा है:--

"हक़ यानी असलियत एक ही वजूद है और खल्क यानी दुनिया में जो चीज़ें दिखाई देती हैं वह ऐसी ही हैं जैसे रस्सी एक हो और उसमें जगह-जगह सैकड़ों गिरह लगा दी जायें। एक हक़ीकत का हजारों जगह दिखाई देना उस हक़ीकत को हजार नहीं कर देता। यह सब केवल गिनती का फेर है। खुदा की वहदानियत एक समंदर है, जिसमें एक और दो का सवाल ही नहीं होता। उस समंदर के अंदर मोती, मछली और लहरें सब समंदर ही के रूप और समंदर ही समंदर हैं।"

हिंदू फलसफे मे खुदा की बाबत "एकमेवाद्वितीयम" कहा गया है, जिसका मतलब है--वह एक ही है और दूसरा कोई है ही नहीं।

भगवद् गीता में लिखा है:--

"वह आत्मा सब दैवी शक्तियो में सबसे अव्वल और सबसे प्राचीन है, इस विश्व में जो कुछ है सब उसी के अंदर है।"

मौलाना रूम लिखते हैं:--

"न उसका कोई इशारा मिल सकता है, न वह ज़ाहिर हो सकता है, न किसी को उसका इल्म हो सकता है, न किसी को उसका निशान मिल सकता है। अक्ल उसको सोच सकने या बयान में ला सकने की क़ाबलियत नहीं रखती। वह न आगे है न पीछे, न नीचे है न ऊपर, वह नज़दीक से नज़दीक है, फिर भी न उसकी कोई कैफ़ियत बयान की जा सकती है और न वह कयास यानी गुमान में आ सकता है।"

हिंदुस्तान के फलसफे की किताबें कहती हैं:--

"वह अनिर्वचनीय है यानी उसे शब्दों में बयान नहीं किया जा सकता। न आंख उसे देख सकती है, न ज़बान बयान कर सकती है, न ख़याल उस तक पहुंच सकता है।"

"परम आत्मा" का मतलब ठीक वही है जो "ज़ाते मुतलक" का।

मौलाना रूम लिखते हैं–"खुदा दुनिया में ऐसा ही है जैसे "छाछ के अंदर मक्खन (रौगन अंदर दोग)।" उपनिषदों में लिखा है कि–"परम आत्मा दुनिया में इस तरह रमा हुआ है जैसे पानी में नमक।"

2. दुनिया का विचार

"यह जहान नफ़ी (नहीं) है, तू अगर असलियत को ढूंढ़ना चाहता है तो उसके अदर ढूंढ़ जो है। जितनी सूरतें दिखाई देती हैं वह सब सिफ़र (शून्य) हैं। हक़ीकत (असलियत) शब्दों में नहीं, मानी में है। हम सब अदम (नहीं) हैं, हमारा वजूद एक धोखा है। खुदा वजूदे मुतलक है। अकेले उसी का वजूद है। शकल केवल जिस्मों के लिये हैं और मानी के सामने जिस्म केवल नाम ही नाम है। हम सब एक हैं। सारा वजूद एक मोती की तरह है, न कोई सिर है और न कोई पैर, या यों कहा जाये कि सब एक ही मोती था जैसे एक आफताब। वह पानी की तरह साफ था, उसमें कोई गिरह न थी, वह नूर था। जब इससे सूरतें निकलीं तो वह इस तरह ज़ाहिर हुई जिस तरह अलग-अलग साए आंख को दिखाई देते हैं।"

हिंदुस्तान के फलसफे की किताबों में लिखा है :-

"यह सारा विश्व माया से पैदा हुआ है। यह सब एक धोखा है, इसका कोई वजूद नहीं, यह दुनिया केवल एक दिखावा ही दिखावा है, यह केवल नाम और रुप की दुनिया है। परम आत्मा यानी ब्रह्म ही असलियत है। बाकी सब साये की तरह धोखा है। शुरू में केवल वही वह था–एक जिसके कोई अग या हिस्से न थे, जिसमें कोई फ़र्क न था, जो आत्मा ही आत्मा था, जो अपनी ही रोशनी से रोशन था, जो रोशनी ही रोशनी था। उसी ने प्रकृति यानी गैर आत्मा को रोशन किया जिससे साये बने और हजारों लाखों रूप बने। इस तरह यह विश्व वजूद में आया।"

3. आदमी का विचार

मौलाना रुम के मुताबिक आदमी की जान यानी आत्मा उस प्रीतम खुदा की आत्मा का केवल एक परतव यानी अक्स है। लेकिन आत्मा नूर ही नूर है। मौलाना लिखते हैं :-

"जिस तरह जान का परतव यानी अक्स जिस्म पर पड़ता है इसी तरह मेरी जान भी केवल उस प्रीतम का एक अक्स है। यह जान नूर ही नूर है और यह जिस्म रंग और बू है। तू इस रंग व बू से हट जा, इसे छोड़ दे और मत कह कि कोई दूसरा या ग़ैर है।"

मौलाना के मुताबिक आदमी की रुह शुरू में एक सोई हुई हालत में थी। लेकिन ज्यों-ज्यों उसे मार्फत यानी ज्ञान हासिल होता गया वह अपनी असलियत को समझती गई।

मौलाना रुम लिखते हैं :--

"आदमी जब सोया हुआ होता है तो उसकी रुह आफ़ताब की तरह आसमान पर चमकती है और वह खुद सपनों में लिपटा रहता है। ऐ मेरे दिल, जबकि मार्फत यानी ज्ञान ही जान की पहचान है तो जिसको जितना ज़्यादा ज्ञान हो जायेगा उसकी जान उतनी ही मज़बूत हो जायेगी। रुह की तासीर आगाही यानी ज्ञान है। जिस किसी को पूरा ज्ञान हासिल होगा वही अल्लाह है।"

और आदमी का आखीर यानी अंजाम क्या है?

मौलाना रूम के मुताबिक आदमी का अंजाम उस मुक़ाम यानी जगह को हासिल करना है जहां पर मन्सूर पहुंचा था और जहां पहुंचकर उसने कहा था--"अनलहक़" यानी मैं ही हक़ यानी अल्लाह हूं। इसी मुकाम पर पहुंचकर बायजीद बिस्तामी ने कहा था--"सुबहानी मा आज़म शानी।"

मौलाना रूम लिखते हैं--

"चूंकि आदमी खुदा ही के नूर से पैदा हुआ है और उसी के नूर का एक हिस्सा है इसीलिये वह फ़रिश्तों के लिये भी सिज्दा करने के योग्य समझा गया। प्रीतम वही है जो अपने प्यार करने वाले के साथ एक हो। वही प्यार करने वाले का शुरू हो और वही उसका आखीर हो।

हिंदुस्तान की वेदांत फिलासफी इसी उसूल से शुरू होती है कि आदमी की आत्मा ही परम आत्मा है। "आत्मा वै ब्रह्म" यानी आत्मा ही ब्रह्म है। "वही वह है, वही तू है, वही मैं हूं, वही रोशनियों की रोशनी है।" हिंदू फलसफे के मुताबिक

आदमी की आत्मा वास्तव मे ज्योति यानी नूर है, प्रकृति यानी माया के साथ मिलकर वह अपने को भूल जाती है और फिर जागती है और अपने को पहचानती है। भगवद् गीता मे लिखा है –

"सब लोगो के लिये जो रात है समझदार योगी उसमे जागता है और जिसमे सब जागते है समझदार योगी के लिये वह रात होती है।"

भगवद् गीता मे ईश्वर कहता है कि –

"मुझमे अपने मन को लगा, मुझे प्यार कर, मेरे लिये कुरबानी कर और तू बेशक मेरे पास ही आयेगा। यह मे तुझसे वादा करता हू चूँकि तू मुझे प्यारा है।"

मौलाना रुम ने लिखा है –

"हजरत नूह ने अपने दुशमनो से कहा कि ऐ सर उठाने वालो! मै मै नही हू, मै अपनी जान से मर चुका, अब मै सिर्फ अपने प्रियतम यानी खुदा से ज़िदा हू। चूकि मै अपनी जान से मर चुका और अपने माशूक से जिदा हू इसलिये मेरे लिये अब कोई मौत नही हो सकती। अब मै हमेशा-हमेशा के लिये ज़िदा और कायम रहूगा।"

कला यानी फन मे, साहित्य मे, फलसफे मे, घरेलू और समाजी ज़िदगी मे, फने तामीर मे, गर्जेकि कलचर के हर पहलू मे हिदुस्तान और ईरान के मेल-जोल की हजारो मिसाले दी जा सकती है।

वेद और अवस्ता

हजरत ईसा से तीन हज़ार साल पहले वैदिक आर्यो की कई शाखें सिंधु नदी से लेकर रुम सागर और एशिया कोचक तक फैली हुई थीं। वैदिक देवताओं, मित्र, वरुण, इंद्र और नासत्यों की उपासना सब जगह होती थी। ईसा से कई हज़ार वर्ष पहले एशिया कोचक और सुरिया में 'खत्ती' और 'मित्तन्नी' जैसी आर्य जातियों के बड़े-बड़े राज थे। कब, कहां से और कैसे आर्यो की यह शाखें एक दूसरे से अलग हुई, अभी तक इस पर ऐतिहासिक प्रकाश नहीं पड़ा, परंतु इसमें संदेह नहीं कि धार्मिक विश्वास, आचार-विचार और वेश-भूषा को देखते हुए ये सब जातियां एक ही स्रोत से निकली थीं। इनमें ईरानी और भारतीय सब के बाद एक दूसरे से अलग हुए और इसीलिए इन दोनों की सभ्यता में बहुत बड़ी समानता है। अवस्ता और वेदों में जिन-जिन देशों का वर्णन किया गया है उसे देखते हुए यह स्पष्ट है कि एक दूसरे से अलग होने के समय ये दोनों बख्तियार (बल्हीक) और अफगानिस्तान के बीच के भू-भाग में रहते थे और दोनों एक ही पूर्वज की संतान हैं। यूरोपीय पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार यूरोप की लगभग सब जातियां उसी पुरानी आर्य जाति से अपना निकास मानती हैं, लेकिन भारतवासियों और ईरानियों में जितना अधिक निकट का संबंध है उतना इनमें और किसी यूरोपियन जाति में नहीं है। ईरानियों और हिंदुस्तानियों के पूर्वज एक ही जगह रहते थे, एक ही वंश के थे, एक भाषा बोलते थे, एक धर्म को मानते थे और अपने को 'आर्य' कहते थे। अलग-अलग होने के पहले हज़ारों बरस तक साथ रहकर वे एक सुंदर सभ्यता को जन्म दे चुके थे।

सब से पहले आर्यों की एक शाख, जो 'खत्ती' कहलाती थी, पश्चिम की ओर बढ़कर एशिया कोचक (तुर्की) में जाकर बसी। उसके बाद एक दूसरी शाख जिसे इतिहास लेखक 'मित्तन्नी' कहते हैं, सुरिया (सीरिया) और फलस्तीन में जाकर बस

गई। फिर आज से कम से कम पांच हज़ार साल पहले इसी जाति की एक शाख दक्षिण की ओर चलकर अफ़ग़ानिस्तान और पंजाब में आकर बस गई और धीरे-धीरे गुजरात, काठियावाड़ और विंध्य के उस पार तक फैलने लगी। अंत में एक शाख यानी ईरानी शाख पश्चिम की ओर बढ़कर मादिया के पहाड़ों और पर्सु के मैदानों में जाकर बस गई।

ईरानी

ईसा से एक हज़ार बरस पहले के ईरानी अपने को 'आर्य' कहते थे। उनके सबसे पुराने धर्मग्रंथ अवस्ता में और उसके बाद के ग्रंथों में जगह-जगह इनकी जाति का नाम 'आर्य' जाति लिखा है और कई जगह उनकी अनार्यो से लड़ाई का वर्णन आता है। मशहूर ईरानी सम्राट दारा (521-485 ईसा पूर्व) ने अपनी समाधि पर जो शिलालेख अंकित करवाया उसमें अपने को 'आर्य जाति का एक आर्य' लिखा है। ठीक इसी तरह के शब्द छठी सदी ईस्वी तक के कई सासानी सम्राटों के फरमानों, शिला-लेखों वग़ैरह में मिलते हैं। अपनी बोली को वे 'अर्यन' या अर्वन बोली और अपने देश को 'अर्याना' या 'आर्याना' यानी 'आर्यो, के रहने की जगह' कहते हैं। आजकल का 'ईरान' शब्द इसी आर्याना से बिगड़कर बना है।

अवस्ता की भाषा और संस्कृत

ईरानियों के सबसे पुराने ग्रंथ अवस्ता की भाषा और संस्कृत दोनों में इतनी अधिक समानता है कि प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान ऐंकटिल ने, जो संस्कृत भाषा से अपरिचित था, 18वीं सदी ईस्वी में अवस्ता की भाषा का एक शब्द कोष तैयार किया था। उस शब्द-कोष को पढ़कर रायल एशियाटिक सोसायटी के विद्वान संस्थापक और पहले अध्यक्ष सर विलियम जोन्स ने कहा था--

"जब मैंने इस शब्द-कोष को पढ़ा तो मैं वर्णन नहीं कर सकता कि मैं इस बात को देखकर कितना हैरान रह गया कि हर दस शब्दों में से छै या सात शुद्ध संस्कृत के हैं, यहां तक कि उनके कुछ रूप भी संस्कृत व्याकरण के ही नियमों से बनते हैं। जैसे 'युष्मद' शब्द का षष्ठी बहुवचन उनके यहां भी 'युष्माकम्' है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अवस्ता की भाषा कम से कम संस्कृत का एक रूप

थी जो शायद संस्कृत से उतनी ही मिलती-जुलती थी जितनी 'प्राकृत' या कोई और ऐसी भाषा जो दो हज़ार साल पहले भारत में बोली जाती थी।" (एशियाटिक रिसर्चेज–11.3)।

कुछ समय बाद एक दूसरे विद्वान फादर बारथेलोमी ने अपनी खोजों से नतीजा निकाला कि "बहुत पुराने ज़माने में ईरान में संस्कृत ही बोली जाती थी और उसी से अवस्ता की भाषा पैदा हुई।"

उन्नीसवीं सदी के प्रारभ मे जान लेडन ने अवस्ता की भाषा को "एक तरह की प्राकृत और सौरसेनी भाषा" बतलाया। (एशियाटिक रिसर्चेज)।

तबसे अब तक इस विषय की काफी खोज की जा चुकी है। संसार के विद्वानों की अब पक्की राय है कि "अवस्ता और वेद दोनों एक ही आवाज़ की दो गूंजे हैं, एक ही विचार का अक्स हैं। इसलिये अवस्ता के शब्दो के लिये सबसे अच्छा भाष्य वेद है।" (द सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट, जिल्द-14-'द जेंदवअस्ता', भाग-1)

ऋग्वेद की भाषा ओर उसके विचार और अवस्ता की भाषा और उसके विचार दोनों पर एक सरसरी दृष्टि डालने से भी ऊपर की बात की सच्चाई क़दम-क़दम पर साफ दिखाई देने लगती है। 'अवस्ता' शब्द आ+विद् धातु से बना है और उसका अर्थ वही है जो 'वेद' शब्द का है। अवस्ता की भाषा ओर वैदिक-संस्कृत दोनो एक मां की बेटी और सगी बहने हैं। जिस तरह आजकल की भारतीय आर्य भाषाएं सस्कृत की पोतियां-पड़पोतियॉ हैं, उसी तरह आजकल की फारसी अवस्ता की भाषा की प्रपोत्री है। (ई. डब्लू. वेस्ट–मैन्योखद)।

शुरु के ईरानियों और हिंदुस्तानियों, दोनों के देवताओं, राजाओं आदि के नाम बिलकुल एक दूसरे से मिलते हैं। यह उस ज़माने की बात है जब कि आर्य जाति की ये दोनों शाखें एक दूसरे से अलग हो चुकी थीं और दोनों की दो भाषाएं अलग-अलग रूप ले रही थीं। उसी ज़माने के आस-पास पाणिनि ने गांधार (कंधार) में अपनी प्रसिद्ध अष्टाध्यायी लिखी। ऋग्वेद की अधिकतर ऋचाएं भी चाहे जब लिखी गई हों, अफ़ग़ानिस्तान या पंजाब ही में लिखी गईं। (पाणिनि पख़्तून थे और अफ़ग़ानिस्तान के शालातुर ग्राम में पैदा हुये थे)।

वेद और अवस्ता

"पुराना ईरानी धर्म यानी अवस्ता का धर्म उसी स्रोत से निकला है जिससे हिंदुस्तान के ऋषियों का धर्म, यानी दोनों उस धर्म से निकले हैं जिसका ईरानियों और भारतीयों, दोनों के पूर्वज–और दोनों के एक ही पूर्वज थे–पालन करते थे।" (जेम्स डर्मेस्टेटरः जेंद अवस्ता, भाग-1, भूमिका, पृष्ठ 57)।

तीन हज़ार साल पहले के ईरानी वरुण, इंद्र, अग्नि, वायु, सोम, मित्र जैसे वैदिक देवताओं की पूजा करते थे। नामों में कहीं-कहीं थोड़ा बहुत अंतर पड़ चला था। जैसे अवस्ता में 'वरुण' का नाम 'वरण' है। अवस्ता और ऋग्वेद दोनों में 'वरुण' को देवताओं का सरदार माना गया है। वेदों में उसे 'असुर विश्व देवस्' या 'असुर मेधा' कहा गया है। अवस्ता में 'अहुर मज्द' नाम से पुकारा गया है। अवस्ता का 'अहुर' वेदों का 'असुर' है। 'असुर' बाद की वैदिक ऋचाओं और बाद के संस्कृत साहित्य में बुरे अर्थों में आने लगा, पर ऋग्वेद के प्रारंभिक हिस्से में 'असुर' ईश्वर के अर्थ में आया है। ईरानी 'मज्दा' का वही अर्थ है जो संस्कृत 'मेधा' का। ऋग्वेद के अनुसार 'मेधा' की वैदिक काल में 'देवगण' और पितृगण, सभी उपासना करते थे। 'मित्र' का नाम अवस्ता में 'मिथ्र' है। दोनों शब्दों का, दोनों भाषाओं में, एक ही अर्थ है। अवस्ता में ठीक उन्हीं शब्दों में मिथ्र की स्तुति की गई है जिन शब्दों में ऋग्वेद में मित्र की। संस्कृत में 'मित्र' का अर्थ 'सूर्य' भी है। ईरानी भी सूरज के रूप में मिथ्र की पूजा करते थे। अवस्ता और ऋग्वेद दोनों में मित्र को 'सत्य' (हक) और ज्योति (नूर) का देवता माना गया है। अवस्ता में एक देवता का नाम 'अमेरे तात्' है जिसका अर्थ 'अमरत्व' है। वेदों में भी 'अमरत्व' का आह्वान मौजूद है। वेदों का सुवार्त्त अवस्ता का 'होर्वतात' है। वैदिक 'अरमति' अवस्ता की 'आरमैति' है। वैदिक 'क्षत्रवीर्य' अवस्ता का 'क्षथ्रबइर्य' है। वैदिक 'सुमति' अवस्ता में जाकर 'वो हुमनो' हो गया। वायु का ईरानी नाम 'वर्यु' है और दोनों जगह एक ही रूप में उसका आह्वान किया गया है। वायु का एक ईरानी नाम 'रामहास्त्र' भी है। 'अग्नि' का ईरानी नाम 'आतर' है। इन समस्त देवी देवताओं की उत्पत्ति और अलग-अलग दैत्यों के साथ उनकी लड़ाइयों, विजयों वगैरह के क़िस्से दोनों ग्रंथों में बिलकुल एकसे हैं। मिसाल के लिये दोनों में अग्नि देवता की उत्पत्ति मेघों के अंदर की बिजली से बताई गई है। ऋग्वेद में लिखा है कि 'त्रैतान' ने 'त्रे अहि' नाम के सर्प को

मारकर 'गौओं' यानी मेघों की रक्षा की। अवस्ता में लिखा है कि 'थईतओन' ने इसी तरह 'अजिदहाक' नाम के सांप को मारकर मेघों को बचाया। 'इंद्र' का नाम ज्यूं का त्यूं अवस्ता में मौजूद है। उसका दूसरा नाम वेदों में 'वृत्रहन' है और अवस्ता में 'वेरेथ्रघ्न'। दोनों का एक ही काम और एक ही रूप है। 'व्योम' का ईरानी नाम 'वाह' है, यम का नाम 'यिम' है। 'यिमक्षाएत' का आजकल का रूप 'जमशेद' है। वेदों में यम का पिता विवस्वत् है, ईरान में 'यिम' का बाप वीवहूत है। वैदिक दानव 'यातुः अवस्ता' में ठीक 'यातु' बना रहा। लेकिन हिंदुस्तान की 'अप्सरा' ईरान में 'पैरिका' (परी) हो गई। जिस तरह बाद के संस्कृत साहित्य में लोगों को योगभ्रष्ट कराने का काम अप्सराओं से लिया गया है ठीक उसी तरह का काम ईरानी धर्म ग्रंथों में पैरिकाओं से लिया गया है। मृत्यु के ईरानी नामों में से एक 'हषुः हाथख्तो' यानी 'स्वयं चलने वाला, 'संस्कृत इषु', और दूसरा 'अस्तोवीदोतुः, यानी 'अस्थियां विदीर्ण (चूर) कर देने वाला' है। यज्ञ में आहुतियां देने का मतलब दोनों जगह देवताओं की पूजा के साथ-साथ उन्हें खाद्य पहुंचाना बताया गया है। दोनों जगह आहुतियां मंत्रों के साथ दी जाती थी। 'सोम' का ईरानी नाम 'हओम' है और दोनों एक ही चीज हैं। वेदों में अग्नि को देवताओं और आदमियों के बीच का दूत माना गया है और उसका एक नाम 'नराशंस' है। अवस्ता में अहुरमज्द के दूत का नाम 'नैरयोसंघ' है। वैदिक 'पुरंधि' अवस्ता की 'पारेंदि' है। वैदिक 'पितृ' अवस्ता के 'फ्रवशी' हैं। 'गोमूत्र' को अवस्ता में 'गोमेज' कहा गया है। अवस्ता की भाषा और संस्कृत दोनों में काफी समानता है।

हिंदी-ईरानी भाषा

हिंद-ईरानी शाखा में परस्पर कुछ समान लक्षण हैं जिनके कारण हम इस शाखा की भाषाओं को अन्य आर्य भाषाओं से अलग कर सकते हैं। (1) दोनों समुदायों में तीन मूल स्वरों की जगह एक आकार ही मिलता है। (2) दोनों में उदासीन स्वर की जगह इकार है। (3) अंतःस्थर (ऋ) लृ (लृ), का हिन्द-ईरानी में अभेद मिलता है; कभी आदिभ र् (ऋ) के स्थान पर लृ (लृ), तथा लैटिन रुन करे, संस्कृत लुंचामि, और कभी लृ (लृ) की जगह र् (ऋ), तथा लै. लुपुस, ग्रीक लुके, सं. वृकः अव. वह्को। विद्वानों का विचार है कि यह दोनों अंतःस्थ हिंद-इरानी में एक रूप (र्, ऋ) हो गए हैं, और बाद को जो लृ (लृ) मिलता है वह इसमें परकालीन परिवर्तन

हुआ। (4) इ, उ, र् और क् के बाद आने वाले स् इस शाखा में श् हो गया और यही बाद में भारतीय भाषा में ष् में परिणत हुआ। संस्कृत वक्ष्यामि, अव. वख्श्या, सं. उक्षा, गाथिक ओक्स; सं. पितृषु, ग्री. पत्रासि; संस्कृत स्नुषा, प्राचीन अंगरेजी स्नोरु)। (5) आदिम के प्रथम श्रेणी के कंठ्य स्पर्श हिंद-ईरानी में क्, ख्, ग्, घ्, से श्, श्ह, ज ज्ह में परिणत हुए। (6) बाद में ईरानी में ये स्, ज, ज्ह, के रूप में मिलते हैं और भारतीय में श्, ज्, ह् के रूप में। (7) औष्ठ्य गौण सहायता वाले कंठ्य हिंद-ईरानी में गौणत्व-विहीन पाए जाते हैं और यदि इनकी स्थिति ई, ए स्वरों के पूर्व थी तो यह च्, छ्, ज्, झ् में परिणत हो गए हैं। ध्वनि संबंधी इन भेदक लक्षणों के अतिरिक्त पद-रचना संबंधी दो बातें उल्लेखनीय हैं; (8) एक स्वरांत संज्ञाओं के बहुवचन कर पर-प्रत्यय—नाम् और दूसरे (9) लोट् (आज्ञा) ल कार के अन्य पुरुष में पर प्रत्यय तु न्तु।

हिंद-ईरानी भाषा की उपशाखा ईरानी भाषा में काफी प्राचीन साहित्य रहा होगा। परंतु दुख की बात है कि इनके ग्रंथ दो-दो बार जला डाले गए, एक बार सिकंदर द्वारा 323 ई. पू. में और दूसरी बार अरब विजेताओं द्वारा 651 ई. में। प्राचीन चीजों में जो बची हैं पारसियों के धर्म ग्रंथ स्वरूप अवस्ता और हख्मानी बादशाहों के छठी सदी ई. पू. के शिलालेख। इन्हीं में प्रसिद्ध शाहंशाह दारा के बहिस्तून पहाड़ी चट्टानों पर खुदाए हुए संसार प्रसिद्ध फारसी के लेख हैं।

हिंद-ईरानी की उपशाखाएं

ईरानी की दो उपशाखाएं प्राचीन काल में मिलती हैं, (क) परशि (फारसी), (ख) अवस्ती। पहली पच्छिमी भाग की और दूसरी पूरब की है।

फारसी, इसमें हख्मानी बादशाहों के लेख मिलते हैं। ये कीलाक्षरों में खुदे हुए हैं। इसी भाषा का कई शताब्दी बाद वाला रूप पहलवी है। इसकी एक शैली में सामी शब्दों का (सिरिया की प्राचीन भाषा) का आधिक्य है जिसे 'हुरवारिश' कहते हैं, दूसरी में सामी शब्दों का नितांत अभाव है जिसे पाजंद या पारसी कहते हैं। आधुनिक फारसी का साहित्य नवीं सदी से मिलता है। आकृति में यह बहुत आयोगात्मक हो गई है और सीधी सादी है, सीखने में सरल, सुनने में मधुर। अंगरेजों का राज्य स्थापित होने के पहले यही हमारे देश में सदियों तक राजभाषा रही। इसी कारण

उसके बहुतेरे शब्द भारतीय भाषाओं में खासकर सिंधी, लहंदी, पंजाबी और उर्दू में आ गए हैं। फारसी में स्वयं अरबी भाषा के लगभग एक तिहाई शब्द हैं।

अवस्ती–पारसी धर्म की मूल पुस्तक अवस्ती की भाषा को अवस्ती कहते हैं। इसकी टीका जेंद (पहलवी) में है। इसीलिए भाषा को कभी-कभी जेंद और मूल पुस्तक को जेंदावस्ता कहते हैं।

इससे मालूम होता है कि या तो वेद की बहुत सी ऋचाएं आर्य जाति की इन दोनों शाखों के अलग-अलग होने से पहले बन चुकी थीं और या एक बार अलग होने के बहुत दिनों बाद तक इनमें मेल-जोल जारी रहा।

बहुत से विद्वानों की राय है कि ज्यादह शुरू के ज़माने में यानी हिंदुस्तानियों और ईरानियों के एक दूसरे से अलग होने के पहले वरुण, इंद्र, अग्नि, सोम, मित्र आदि देवता अलग-अलग समूहों या क़बीलों के अलग-अलग देवता थे और बाद में जब उन सब क़बीलों के लोग एक जगह आकर बस गए तो यह–सब देवता भी एक मिली हुई क़ौम के सब लोगों के देवता बन गए।

अवस्ता धर्म के उन्नायकों में सबसे प्रमुख नाम महात्मा जरथुस्त्र का है, जिन्हें जरदुस्त अथवा जोरेआस्तर भी कहते हैं। उनका कार्यकाल हज़रत ईसा से लगभग आठ सौ से एक हज़ार वर्ष पुराना है। जरथुस्त्र ने रूढ़ियों और कर्मकांडों में जकड़े अवस्ता धर्म को मुक्त किया।

जरथुस्त्र के समय ईरानी सभ्यता खानाबदोशी की हालत में थी। ईरान मे अनेक देवी-देवताओं की पूजा की जाती थी। महात्मा जरथुस्त्र ने ऐसी परिस्थिति में अपना उपदेश शुरू किया। उस रूढ़िग्रस्त समय के ईरानी समाज को ऊंचा उठाने का काम कुछ आसान काम न था। अग्नि-पूजक पुरोहितों ने बहुत जोरदार तरीके से जरथुस्त्र का विरोध शुरू किया। नतीजा यह हुआ कि जरथुस्त्र को संकटपूर्ण परिस्थितियों के बीच में अपना प्रचार का काम करना पड़ा। अहुर मज्द से प्रार्थना करते हुए उस समय की अपनी हालत पर जरथुस्त्र कहते हैं–"दस बरस के प्रचार के बाद केवल एक आदमी मेरा अनुयायी हुआ है।" घरवालों ने जरथुस्त्र को निकाल दिया, मित्रों ने साथ छोड़ दिया और जनता उन्हें धर्म-भ्रष्ट समझने लगी। एक दिन वे थके मांदे शाम के समय एक गांव में दाखिल हुये। लोगों ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया।

पुरुषों ने उन्हें धर्मद्रोही कहकर धिक्कारा, स्त्रियों ने श्राप दिया और बच्चों ने उन्हें ढेले मार-मार कर गांव के बाहर खदेड़ दिया। भूखे, प्यासे, जख्म और निराशा से भरे हुये एक पेड़ के नीचे बेठकर वे अहुर मज्द से प्रार्थना करने लगे–

"तेरा संदेश लेकर अब मैं किस ओर जाऊं? तू ही बता अब मैं तेरा संदेश किसे सुनाऊं? न लोग मेरे कहने पर कान देते हैं और न निडर स्वेछाचारी शासकों पर ही तेरे इस भक्त के कहने का कोई असर पड़ता है। ऐ अहुरमज्द! अब मैं तेरी सच्ची उपासना को किस तरह आगे बढ़ाऊं? न मेरा कोई मददगार दिखाई देता है और न कोई साथी। ऐ अहुर मज्द! मैं रो-रोकर तेरी दया की याचना करता हूं! तू ही मेरा हितचिंतक है। मैं तुझसे ही शांति और संतोष की प्रार्थना करता हूं।

जरथुस्त्र का अधिकांश जीवन इसी तरह कष्ट और त्याग में बीता पर वे अपने उद्देश्य से न डिगे। उन्हें अपने मिशन पर अखंड विश्वास था। एक परमेश्वर और सच्चाई की अंतिम विजय में उन्हें जबरदस्त श्रद्धा थी। और अंत में उन्हें सफलता मिली और उन्होंने ईरान को, कबीलों के झगड़ों से, अनेक देवी देवताओं की पूजा से ऊपर उठाकर एक परमपिता परमात्मा की उपासना में लगा दिया। उन्होंने लोगों को अनेक देवी देवताओं की उपासना छोड़कर एक विश्वात्मा, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ अहुरमज्द की उपासना का उपदेश दिया।

जरथुस्त्र की धार्मिक और नैतिक शिक्षाओं को थोड़े शब्दों में यहां बयान कर देना ज़रूरी है। जरथुस्त्र के अनुसार संसार मे दो विपरीत शक्तियां एक दूसरे के विरूद्ध काम करती हैं–एक अच्छाई की शक्ति और दूसरी बुराई की शक्ति। श्रीमद्भगवत्गीता के अनुसार एक दैवी और दूसरी आसुरी सम्पद। एक सारी सृष्टि को बनाने वाले अहुरमज्द की शक्ति और दूसरी उसके विरोधी अंग्रमैन्यु की शक्ति। चराचर प्रकृति और तमाम देवता दो हिस्सों में बंटे हुए हैं। एक अहुरमज्द के साथी और दूसरे अंग्रमैन्यु के। एक पवित्रता, सदाचार, सत्य और प्रकाश की ओर जाने वाले, प्राणिमात्र का भला करने वाले और दूसरे अपवित्रता, अनाचार, असत्य और अंधकार की ओर जाने वाले और दूसरों का बुरा करने वाले हैं। इस भलाई और बुराई के द्वंद में कोई व्यक्ति तटस्थ नहीं रह सकता।

इन दो मार्गों में से मनुष्य को अपने लिये एक न एक मार्ग निश्चित करना

है और उसके परिणाम में अनंत काल तक अपनी रुचि के अनुसार अच्छे बुरे नतीजों को भुगतना है। इस निरंतर होने वाले देवासुर संग्राम में अंतिम विजय अहुरमज्द के ही पक्ष की होगी। मनुष्य का काम केवल अहुरमज्द की उपासना करना और उसकी आज्ञाओं को मानना है। जरथुस्त्र लोगों को सचेत करते हुए कहते हैं–"तुममें से कोई, न तो बुराई के सिद्धांतों पर ध्यान दे और न उनका पालन करे।" (यष्टि 31-18) जरथुस्त्र के अनुसार मनुष्य के लिये 'दुष्मत' यानी बुरे विचारों, 'दुजुक्त' यानी बुरे वचनों और 'दुजवर्ष्त' यानी बुरे कर्मो से बचते हुये 'हुमत' यानी अच्छे विचारों, 'हुक्त' यानी अच्छे वचनों, 'हुवर्ष्त' यानी अच्छे कर्मो की ओर जाना ही मुक्ति का एक मात्र रास्ता है। (यष्टि-19-45, 47)।

जरथुस्त्र के धार्मिक सुधारों ने जो आध्यात्मिक उथल-पुथल पैदा की उसने ईरान को विश्व-संस्कृति और विश्व सभ्यता के निर्माण का केंद्र बना दिया। अहुरमज्द के एकेश्वरवाद की भव्य छाप ईरानी जिंदगी के हर पहलू पर दिखाई देने लगी। लोगों में अच्छे-बुरे का ज्ञान पैदा हो गया। 'एकेश्वर अहुरमज्द' की पूजा में पवित्रता आ गई। आर्यो के जो अग्नि-कुंड मांस की आहुतियों और बलि के पशुओं के रक्त से तर रहते थे वह सब जरथुस्त्र के उपदेशों से मुक्त हो गये।" जरथुस्त्र की मृत्यु के वाद की शताब्दियों में दर्शन का यह पवित्र धर्म उत्तर भारत, कप्पाडोसिया, कमेगेन, पोन्तु, आर्मीनिया, जार्जिया और कोहकाफ की पहाड़ियों में फैल गया। दूसरे धर्मो पर ईरानी धर्म का क्या असर पड़ा इस संबंध में प्रोफेसर ग्रे लिखते हैं–"ईरान के धार्मिक विश्वासों का प्रभाव हमें ईसाई धर्म, इसलाम, नास्टिक संप्रदाय, मेग्डीन संप्रदाय और खास तौर पर मानी संप्रदाय के ऊपर दिखाई देता है। मित्र की उपासना के रूप में ईरानी धर्म समस्त रोमन साम्राज्य पर छा गया था और ईसाई धर्म का सब से प्रबल प्रतिद्वंदी बन गया।"

यूरोप में मित्र देवता की उपासना

जिस तरह भगवान बुद्ध के निर्वाण के कुछ ही शताब्दियों के भीतर भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का 'महायान' संप्रदाय चल पड़ा उसी तरह जरथुस्त्र के स्वर्गारोहण के कुछ शताब्दियों के भीतर ही ईरान में अवस्ता धर्म का मित्री संप्रदाय स्थापित हुआ और उसने थोड़े समय के भीतर समस्त पश्चिमी संसार पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। 'मिथ्र' अथवा 'मित्र' एशिया के पुराने से पुराने देवताओं में से है। ऋग्वेद में मित्र का बड़ा ऊंचा स्थान है। मित्र और वरुण के नाम बहुधा साथ-साथ आते हैं। वरुण को "तेजोमय आकाश" और मित्र को "आकाश का तेजपुंज" कहा गया है। दोनों का साथ-साथ नाम लिया जाता है और दोनों को सब प्राणियों और वनस्पतियों में जान डालने वाला बताया गया है। (ऋग्वेद 5, 69; 5, 51; 6, 6, 7, 5; 7, 61, 3)।

संस्कृत में 'मित्र' शब्द सूर्य के अर्थो में आता है। ईरान के प्राचीन देवताओं में भी मिथ्र (मित्र) का विशेष पद था। जरथुस्त्र ने जहां बहुत से पुराने देवताओं को अहिरमान के सहायक कहकर बुरा ठहराया वहां 'मित्र' और 'वरुण' को अहुरमज्द ही के अलग-अलग नाम बताकर अहुरमज्द के साथ मिला दिया। उसने यह भी उपदेश दिया कि यह इतना बड़ा 'सूर्य' और सबको भक्षण कर जाने वाली 'अग्नि' दोनों ईश्वर या अहुरमज्द की प्रकृति के सबसे बड़े चिन्ह हैं। इसलिये इन पर ध्यान करना या मनन करना मनुष्य के लिये लाभदायक है। मनन करने और पूजा करने में साधारण मनुष्य के लिये अधिकतर अंतर नहीं रह जाता।

अहुरमज्द और मित्र

ईरान के सम्राट उन दिनों अपने को मज्दयस्नी धर्म के मानने वाले कहते थे। इस धर्म के फैलने से लेकर 404 ईसा पूर्व तक सम्राटों के भीतर सिवाय अहुरमज्द

के किसी दूसरे की पूजा का वर्णन नहीं मिला। 404 ई. पू. में सम्राट आर्तक्षत्र द्वितीय गद्दी पर बैठा। इस सम्राट की पूजा में प्रथम बार अहुरमज्द की पूजा के साथ-साथ मित्र की पूजा का भी वर्णन मिलता है। उसी समय से ईरान भर में मित्र और अहुर दोनों की साथ-साथ पूजा होने लगी और 'मिथ्री' संप्रदाय के नाम से जरथुस्त्री धर्म का एक खास और अलग संप्रदाय ईरान में चल पड़ा।

ईरानी धर्म पर बाहरी प्रभाव

दूसरे देशों के धार्मिक विचारों का प्रभाव भी ईरानियों पर पड़ता था। प्राचीन ईरान में मित्र और सूर्य दोनों दा अलग-अलग देवता थे। लेकिन बाबुल में हजारों वर्ष से 'सूर्य' की पूजा होती थी। उसके बहुत से मंदिर थे और पूजा के तरीके बड़े मनोरंजक और दिलचस्प थे। ईरानियों में असीमित उदारता थी। वे जिस देश को विजय करते थे या जिस देश में जाते थे वहां के धार्मिक रिवाजों का खंडन करने या उन्हें बुरा कहने की जगह उनकी ओर आदर दिखलाते थे। दूसरे देशों के देवताओं को वे अहुरमज्द का सहायक कहकर अपने में मिला लेते थे।

मित्र अहुरमज्द का प्रतिनिधि

मित्र को सरलता से सूर्य के साथ मिलाकर एक कर लिया गया। धीरे-धीरे सूर्य ही के रूप में मित्र की पूजा होने लगी। उसके सैकड़ों मंदिर बन गये और दूसरे देशों की कई मनोरंजक रस्में उसकी पूजा के तरीकों में शामिल हो गई। मित्र ही को अहुरमज्द का प्रतिनिधि और सूर्य को उसका सबस अधिक भव्य और चमकदार रूप और जहूर मान लिया गया।

मित्र की पूजा का विस्तार

ईरान से पश्चिम के देशों में जरथुस्त्री धर्म का यह बड़ा ही मनमोहक संप्रदाय एक बार इस जोर के साथ फैला और उसका इतना व्यापक, इतन: अच्छा और इतनी दूर तक प्रभाव पड़ा और शताब्दियों तक पड़ता रहा कि उसकी दिग्विजय के सामने किसी भी सम्राट की राजनीतिक दिग्विजय फीकी प्रतीत होती थी।

न केवल उन देशों में जिन पर ईरानियों का शासन था, बरन् उन देशों में

भी जो बिल्कुल स्वतंत्र थे, यहां तक कि ईरानियों के शत्रु रोमन साम्राज्य के अंदर मित्र धर्म के शांत और सच्चे उपदेशक मार्ग के सैंकड़ों भांति के कष्टों को सहते हुए पहुंचते थे। न उनके दिलों में कोई राजनीतिक उद्देश्य छिपा हुआ था और न किसी तरह का कोई स्वार्थ। केवल मानवता का प्रेम उन्हें बहाये लिये चला जा रहा था। उनकी तपस्या, उनका आत्मबल, उनका चरित्र लाखो के दिलों को खींच लेता था। परिणाम यह हुआ कि इन सब देशों में मित्र धर्म फैलता चला गया। "एक समय था जबकि पश्चिम में स्पेन से लेकर पूर्व में अनातूलिया (एशिया-कोचक) तक और इंगलिस्तान की उस दीवार से लेकर जिस तक किसी समय रोमनों का राज्य था, दक्षिण में सिकंदरिया और मेम्फी (मिस्र की राजधानी) तक लातीनी (रोमी) दुनिया के हर कोने में मित्र की पूजा होती थी; और इससे बढ़कर बात यह थी कि रोमी साम्रा[illegible] के सबसे नीचे की साधारण जनता ही नहीं वरन् रोमी सेनाओं के सेनापति, रोमी प्रातों के गवर्नर आर स्वयं रोम के सम्राट तक मित्र की पूजा करते थे।" (मित्राईज्म-लेखक डब्लू.जे. फिथिएन, एडम्स एम.ए. पृष्ठ-34)।

यूरोप में मित्र की पूजा

आज के दिन यूरोप मे शायद कोई भी अजायबघर ऐसा नहीं है जिसमें इस ईरानी देवता का कोई न कोई चिन्ह, धातु या पत्थर में उभरा हुआ या खुदा हुआ; कोई न कोई लेख या चित्र या कोई न कोई देखने योग्य यादगार मौजूद न हो। (उपर्युक्त, पृष्ठ 4)।

हजरत ईसा के जन्म से चार सौ वर्ष पहले से लेकर उनकी मृत्यु के लगभग चार-पांच सौ वर्ष बाद तक एक-एक कर पश्चिमी एशिया, मिस्र और अफ्रीका के दूसरे उत्तरीय देशों के अलावा यूनान, बलकान, इटली, पौलेंड, जर्मनी, फ्रांस, बेल्जियम, आस्ट्रिया, हंगरी, स्विटजरलैंड, स्पेन और इंगलिस्तान अर्थात् समस्त यूरोप मे–जहां-जहां थोड़े बहुत आदमी भी सभ्य या अर्ध-सभ्य कहला सकते थे, मित्र के असंख्य मंदिर थे और मित्र ही की पूजा होती थी। इंगलिस्तान के नार्थमब्रलैंड, राचस्टर, कैम्बकफोर्ट, आक्सफोर्ड, यार्क, मैनचेस्टर और लंदन में मित्र के मंदिर और उसकी मूर्तियां भरी हुई थीं। रोम और शेष इटली मित्र के उपासकों से ठसाठस थे। (उपर्युक्त, पृष्ठ 21-26)।

बौद्ध धर्म और मित्र धर्म की दिग्विजय

जिस समय बौद्ध धर्म का महायान संप्रदाय प्रशांत महासागर से लेकर मध्य एशिया तक की दुनिया को विजय करता जा रहा था, ठीक उसी समय और उन्हीं तरीकों से अवस्ता और वैदिक धर्म का मित्री संप्रदाय मध्य एशिया से लेकर अटलांटिक महासागर तक की शेष दुनिया को, जिसमें समस्त यूरोप शामिल था, विजय कर रहा था।

रोमी सम्राट और मित्री धर्म

हजरत ईसा के बाद की प्रारंभिक सदियों में रोम के एंटोनाइन सम्राट, जिनके सुंदर शासन में रोम का आदर एक बार चमका, मित्री धर्म के ही मानने वाले थे। उनके समय तक यह धर्म सारे रोमी साम्राज्य में फैल चुका था। सम्राट कैम्पोडस (180-192 ई.) के समय मे लिखा है कि यह धर्म साम्राज्य भर के अंदर "ज्वाला की तरह भभक उठा।" सम्राट डायोक्लीटियन (245-323 ई.) मित्र का बहुत बड़ा भक्त था। सम्राट जूलियन (331-363 ई.), जो अपने पवित्र जीवन, अपनी उदारता, अपने विश्वप्रेम, अपनी विद्वत्ता और प्रजा-पालकता, सबके लिये प्रसिद्ध है, मित्र का अनन्य उपासक था। वह रोम का अंतिम मित्री सम्राट था। इस बीच ईसाई धर्म, जिसने अंत में मिथ्री (मित्री) धर्म की जगह ली, रोम पहुंच चुका था। जूलियन के सौ वर्ष बाद तक स्वयं इटली के भीतर और जगह-जगह यूरोप के देशों में मित्री धर्म के मानने वाले मिल सकते थे। आखिरकार रोम से मित्री धर्म के मिटने के साथ-साथ रोमी सम्राटों के गुण, रोमी साम्राज्य की शान और रोमी प्रजा की सुख-समृद्धि, तीनों का सदैव के लिये अंत हो गया।

मित्री धर्म की इस असाधारण उन्नति और उसके इस तरह यूरोप में फैलने के तीन मुख्य कारण गिनाए जा सकते हैं–

मित्री धर्म की सर्वप्रियता के तीन कारण

(एक) इतिहास से पता चलता है कि शुरू की मानव जातियां जो प्रकृति की किसी न किसी जड़ शक्ति के रूप में ही परमात्मा के दर्शन करना चाहती हैं और कर सकती हैं, किसी भी चीज से इतना प्रभावित नहीं होती थीं जितना समस्त

रोशनी के भंडार, सब प्राणियों को प्राण-शक्ति और गरमी देने वाले चमचमाते हुये सूर्य से। विशेषकर यूरोपीय ठंडे देशों के लिये सूर्य और भी बड़ा दान था और वहां की अर्ध-सभ्य जातियों के लिए इस नये धर्म के पहुंचते ही अपने पुराने देवताओं को छोड़कर या उनके साथ-साथ मित्र की पूजा करने लगना और अंत में मित्र को ही अपना सबसे बड़ा देवता मान लेना स्वाभाविक था।

(दो) मित्र की पूजा के साथ-साथ जो नये-नये कर्मकांड और कई नये त्योहार ईरान से यूरोप पहुंचे वे यूरोप के लोगों के दिलों को और भी अधिक लुभाने वाले थे। हर रविवार को सूर्य का दिन है। इसलिये प्रत्येक रविवार को मित्री लोग काम-काज बंद करके छुट्टी मनाते थे। रविवार की छुट्टी की प्रथा यूरोप में मित्री धर्म से ही आरंभ हुई। मकर-संक्रांति को, जिस दिन सूर्य दक्षिणायन रहने के पश्चात् उत्तर की ओर चलना आरंभ करता है, मित्री लोग सूर्य का जन्म-दिवस मानते थे और बड़े उत्साह से हर वर्ष उसका त्योहार मनाते थे। उसी से 25 दिसबर को बड़ा दिन मनाने का रिवाज पड़ा। तीन महीने के पश्चात् जब सूर्य विषुवत रेखा (ईक्वेटर) को पार कर उत्तर में जाता था, मित्रियों का दूसरा बड़ा त्योहार मनाया जाता था। यही आजकल के ईस्टर का आरम्भ है। मित्री मंदिरों की मूर्तियां, दो मशालों वाले चित्रों के साथ मित्र की अजीव त्रिमूर्ति, मंदिर में पवित्र जल और पवित्र अग्नि और उसे हर समय प्रज्जवलित रखना और वहां की पूजा आदि, सब बडी चित्ताकर्षक होती थी।

(तीन) लेकिन जिस बात ने यूनान के दार्शनिकों, सिकंदरिया के ज्योतिषियों, वैज्ञानिकों तथा रोम के राजनीतिज्ञों को इस ईरानी धर्म की ओर खींचा वह उसके ऊंचे आध्यात्मिक सिद्धांत, उसका कठोर आत्मसंयम और दूसरे धर्मो के साथ उसकी उदारता थी। एडेम्स लिखता है कि उस समय का मित्री धर्म "एक जीवित धर्म था और उसमें बहुत सी ऊंची और प्रकट ज्ञान की बातें और सच्चाइयां शामिल थीं।" (एडम्स : मित्राइज्म, पृष्ठ 81)।

रोम की सेना के भीतर यह धर्म विद्युत-गति के साथ फैला। इसका कारण वर्णन करते हुये एडेम्स लिखता है—"जिन लोगों की जान रोज खतरे में रहती थी, और जिनके उससे पहले के धार्मिक विश्वास के अनुसार मरने के पश्चात् सिवाय

नष्ट हो जाने के और कोई आशा न हो सकती थी, उन्हें इस धर्म ने मृत्यु के बाद भी अनंत जीवन की आशा दिलवाई।" (उपर्युक्त, पृष्ठ-36)।

और आगे चलकर यही लेखक उस काल के यूरोप की ठीक-ठीक दशा और उस पर मित्री धर्म के प्रभाव का वर्णन करते हुए लिखता है–

"रोमी साम्राज्य उस समय एक ऐसी भूमि की भांति था जो वर्षा न होने के कारण सूखी और बंजर पड़ी हो। उस साम्राज्य में न किसी तरह का सदाचार पैदा हो सकता था और न कोई बौद्धिक जीवन। ऐसे अवसर पर मित्री धर्म एक ऐसी जोरदार लहर की शक्ल में एशिया से चलकर सारे रोमी साम्राज्य के ऊपर बह निकला, जिस लहर ने वहां की सोई हुई आत्माओं को फिर से जगा दिया और बंजर जमीन में जान डाल दी। जो आत्माएं सूखी बंजर फिलासफी की बहसों में फंस कर सच्चे ज्ञान की प्यास से तड़प रही थीं, या जो खाली निःशंक अज्ञान और जहालत के जंगल में सूखकर समाप्त हो रही थीं उन सबको इस धर्म ने मानसिक और नैतिक आहार पहुंचाकर फिर से तरोताजा कर दिया। इन सबके सामने उसने एक नई आशा रखी, उन्हें एक नई रोशनी दी, उन्हें एक सच्चा संदेश सुनाया और उन्हें वास्तविक नए जीवन का रास्ता दिखाया।" (उपर्युक्त पृष्ठ-12-13)।

मित्री धर्म से यूरोप वालों को लाभ

इससे पहले यूनानियों के द्वारा पश्चिम एशिया के कुछ धार्मिक विचार, देवी-देवता और पूजा-पाठ के तरीके यूरोप पहुंच चुके थे। तिरहेनियों ने एशिया से इटली पहुंच कर वहां कुछ धर्म-अधर्म के भेद की बुनियाद डाल दी थी। मित्र के धार्मिक विचार भी यूरोप पर अपना प्रभाव डाल रहे थे। लेकिन एक बाजाब्ता धर्म की हैसियत से मित्री धर्म पहला धर्म था जो यूरोप पहुंचा। इसी ने सबसे पहले लाखों यूरोप वालों को भलाई-बुराई का अंतर, आत्मा के अमर होने, मरने के बाद का जीवन, कर्मो के फल और निर्वाण की आशा का विश्वास दिलाया। उस समय तक यूरोप के जन-समाज को इन बातों की कोई कल्पना न थी।

सदाचार के संबंध में इस धर्म के सिद्धांत बिलकुल सरल थे। रोम का अंतिम मित्री सम्राट जूलियन लिखता है कि–"इस तरह के बिलकुल स्पष्ट नियमों की एक

सूची थी जिन पर अमल करने से हर श्रद्धालु भक्त को परमानंद अर्थात् निर्वाण प्राप्त करने का विश्वास हो सकता था।" (एम्परर जूलियन--कनवा-इविअम, पृष्ठ 336)।

मित्री धर्म और आध्यात्मिक उन्नति

मित्री धर्म में साधारण लोगों के लिए सच्चाई, नेकचलनी, एक-दूसरे से प्रेम का व्यवहार और ऊंचा नैतिक जीवन की इच्छा रखने वालों के लिये साधना यानी योग के दरजे-बदरजे नियम और साधकों यानी मालिकों के एक दूसरे के बाद सात दरजे थे। हर दरजे की बाजाब्ता दीक्षा दी जाती थी। सबसे पहले साधक को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि मैं 'जिंदगी भर मित्र के एक सिपाही की हैसियत से अन्याय और बुराई की शक्तियों के साथ लड़ता रहूंगा।' इसके पश्चात् उसे परीक्षाओं में से निकलना पड़ता था। उसे जलती हुई धूप और चीरती हुई सरदी में नंगे बदन खड़ा रहना पड़ता था, उसे लंबे-लंबे सजल और निर्जल उपवास रखने पड़ते थे, उसे डूबने के कष्ट का अनुभव प्राप्त करने के लिये जल के भीतर डुबाया जाता था। इन सब तपस्याओं का उद्देश्य होता था, उसे सख्ती का आदी बनाना और इस योग्य कर देना कि दुनिया की विषय-वासना उसके मन को वश में न कर सकें। इस तरह धीरज, इंद्रिय-संयम, और मित्र के नाम पर पूरे आत्म-समर्पण की शिक्षा देने के पश्चात् उसके माथे पर 'क्रूश' (या सतिये) का सा एक निशान बनाया जाता था। उसका नया 'बपतिस्मा' होता था जिसका अर्थ यह था कि अपने सब पिछले पापों से उसे छुटकारा मिल गया।

मिथ्र (मित्र) देवता की उपासना

इस तरह साधकों के सात दरजों को एक दूसरे के पश्चात् पार करते हुए अंतिम दरजे में हर मित्री साधक की "जीवित-मृत्यु" का एक संस्कार होता था जिसके बाद समझा जाता था कि साधक अब संसार की ओर से मर कर दूसरा नैतिक जीवन प्राप्त कर चुका और शरीर की मृत्यु के बाद वह अनंत जीवन और नित्य सुख का अधिकारी होगा।

निस्संदेह इस तरह का धर्म उस काल के यूरोप की समाजी और दिमागी हालत

में गरीब और अमीर, पढ़े और बेपढ़े सबकी आध्यात्मिक प्यास को बुझाने और उन्हें आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाने का सुंदर ज़रिया था। यही कारण था कि उसे यूरोप में इतनी अद्भुत सफलता मिली।

मित्री सम्राट जूलियन

दूसरे धर्मों के साथ मित्रियों का व्यवहार कैसा था इसका सबसे सुंदर नमूना अंतिम मित्री रोमी सम्राट जूलियन था।

सम्राट जूलियन से पूर्व ईसाई मत रोम में पहुंच चुका था। कांसटैंटाइन पहला रोमी सम्राट था जिसने सन् 324 ई. में ईसाई धर्म स्वीकार किया। कांसटैंटाइन के पश्चात् रोम के तीन और ईसाई सम्राट हुये। कांसटैंटाइन और उसके ईसाई उत्तराधिकारियों ने किस तरह अपने पक्षपात, अपनी अनुदारता और अपने अत्याचार द्वारा समस्त प्रजा को सताया और रोमी साम्राज्य के नाश के बीज बोये उसकी कहानी जग-जाहिर है। इसके पश्चात् सम्राट जूलियन का समय आया। "जूलियन मित्री धर्म का सच्चा भक्त था। कांसटैंटाइन से पहले के रोमी सम्राटों का सा साहस, वीरता, परिश्रम की आदत और बुद्धिमत्ता उसमें फिर से चमक उठी। परहेजगारी में, आत्मसंयम में और प्रजा की भलाई के लिये सदा तत्पर रहने में कोई दूसरा रोमी सम्राट उससे बढ़कर न पहले हुआ था न बाद में हो सका। इन सबके अतिरिक्त संस्कृति और साहित्य की ओर सम्मान और दार्शनिक जिज्ञासा में वह यूनानी दार्शनिकों के बराबर था। उसके सार्वजनिक जीवन में यह एक बड़े अचरज की बात थी कि युद्ध और मुल्की प्रबंध की गहरी से गहरी चिंताओं के साथ वह बहुत ही सरल और सफल ढंग से साहित्य और दर्शन की उन्नति में लगा रहता था।"

"उसका जीवन एक सच्चे फिलासफर और सच्चे तपस्वी का सा कठोर जीवन था।" शासन के तरीकों में से उसने अगणित बुराइयों को दूर किया। प्रजा के ऊपर टैक्सों का भार बेहद कम कर दिया। अपने न्याय और निष्पक्षता के लिये वह इतिहास में प्रसिद्ध है। गद्दी पर बैठते ही सबसे पहले उसने यह आज्ञा दी कि साम्राज्य भर में सब धर्म वालों के साथ एक सी उदारता और निष्पक्षता का व्यवहार किया जायेगा। इन सब बातों से बढ़कर उसने अपने दरबार के अंदर सम्राट हर्षवर्धन, सम्राट अकबर और सम्राट दारा डेरिअस की तरह, सब धर्मो के विद्वानों को जमा करके यूनान के

नये अफलातूनी दर्शन और संसार के उस समय के सब धर्मो की अच्छी और हितकर बातों को लेकर एक समन्वय पैदा करने का प्रयत्न किया, जिसके बारे मे कहा गया है कि "संसार के इतिहास में (धार्मिक) समन्वय की उससे अधिक जोरदार कोशिश कभी नहीं की गई।"

धर्म की कसौटी

किसी भी धर्म का उसके मानने वालों की आत्मिक और नैतिक उन्नति मे सहायक होना इतना अधिक इस बात पर निर्भर नहीं होता कि वह धर्म परमेश्वर की किस रूप में पूजा करता है, जितना इन बातों पर कि उस धर्म के अंदर हृदय की निर्मलता को कितना महत्व दिया जाता है, आत्म संयम और सदाचार का उसमें क्या स्थान ह और उसके मानने वाले मानव-प्रेम से कहां तक ओत-प्रोत हैं। (एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिकाः जूलियन पर आलेख)।

इस दृष्टि से मित्री धर्म दुनिया के बड़े से बड़े धर्मो में से था। उसने कम से कम एक हजार वर्ष तक अज्ञान में डूबे हुये करोड़ों इनसानों का बड़ा उपकार किया।

यूरोप से मित्र धर्म का लोप

किंतु अचानक जूलियन की हत्या के थोड़े दिनों के अंदर मित्री धर्म सिर्फ रोमी साम्राज्य से ही नहीं बल्कि सारे यूरोप से लोप होना शुरू हो गया। फिर भी पांचवीं सदी तक इस संप्रदाय के लाखों अनुयायी स्विटजरलैंड, हंगरी और जर्मनी के दक्षिण में पाये जाते थे। उनकी टूटी हुई मूर्तियां, आलेख और टूटे हुए मंदिरों के पत्थर अभी तक अजायबघरों में देखने को मिलते हैं। धीरे-धीरे ईसाई धर्म ने यूरोप में मित्री धर्म की जगह ले ली। कब, क्यों और कैसे यह संभव हुआ, इसकी एक दर्दनाक कहानी है। इंगलिस्तान में पुरातत्व विभाग ने अनेक मित्री मंदिरों का उत्खनन करके मित्र की मूर्ति के साथ मजबूत जंजीरों में जकड़े हुये दस-दस, पंद्रह-पंद्रह मित्री उपासकों के नरकंकाल खोद निकाले हैं, जिन्हें धर्मांध लोगों ने मित्र की मूर्ति के साथ जिंदा दफन कर दिया था। इतिहास के धर्मांध प्रकरण की ऐसी कोई दूसरी मिसाल नहीं है।

आर्य वैदिक सभ्यता और टर्की

सन् 1950 में मैंने पश्चिम एशिया के देशों की प्राचीन संस्कृति की गवेष्णा के सिलसिले में यह पढ़ा था कि उत्तर अरब का एक स्वतंत्र राज्य टाडमोर सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यंत उन्नत राज्य था। हजरत ईसा से सौ वर्ष पूर्व वहां उदयनाथ नामक एक अत्यंत प्रतापी नरेश राज्य करता था। टाडमोर ज्ञान-विज्ञान और वाणिज्य व्यापार का एक उन्नत केंद्र था। वहां की संस्कृति वैदिक आर्य सस्कृति से मिलती जुलती थी।

अपनी अनुसंधान यात्रा के सिलसिले में मैंने सीरिया, फलस्तीन और टर्की की प्राचीन संस्कृतियों का भी अध्ययन किया। उस अध्ययन से एक बात स्पष्ट हुई कि यह समस्त क्षेत्र हजरत ईसा से साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व खेतसार कहलाता था और यहां खत्ती नामक एक शक्तिशाली जाति की हुकूमत थी। इस पूरे क्षेत्र की संस्कृति आर्य वैदिक संस्कृति थी।

सन् 1978 में जब सीरिया गया तो मैंने टाडमोर जाने की इच्छा प्रकट की। टाडमोर में मैंने विशाल खंडहरों में वहां के प्राचीन सांस्कृतिक वैभव के दर्शन किये। इतिहास के नये पृष्ठ मेरे सामने आये।

रोमन हुकूमत पश्चिम एशिया में अपना प्रभाव फैला रही थी। उसकी सेना ने टाडमोर पर आक्रमण किया। उदयनाथ ने बड़ी वीरता से रोमन सेनाओं का सामना किया। अंत में वीरता पूर्वक लड़ते हुये उसने रणक्षेत्र में अपने प्राण त्यागे। टाडमोर पर रोम का अधिकार हो गया। लेकिन उदयनाथ की विधवा रानी जेनोबिया ने आत्म समर्पण नहीं किया। उसने वीरता पूर्वक अपनी सेना का पुनः संगठन किया और रोमन सेना पर आक्रमण करके टाडमोर को उनके आधिपत्य से मुक्त कर लिया। जेनोबिया की वीरता की कहानी आज भी टाडमोर की लोक कथाओं में चाव से लोग सुनते हैं।

साध्वी जेनोबिया का स्मरण करते हुये मेरे मानस पटल पर प्राचीन खत्तियों का इतिहास उभर आया।

हजरत ईसा से तीन हजार साल पहले एशिया कोचक से लेकर फिरात नदी के किनारे तक खेता या खत्ती नाम की एक आर्य जाति हुकूमत करती थी। यहूदियो के धर्म ग्रंथ 'तौरेत' में इन लोगों को 'हित्ताइत' या हत्ती' नाम से पुकारा गया है। तौरेत में जेशुआ के पहले अध्याय के चौथे सर्ग में इन हत्तियों के देश का जिक्र आता है। मिस्र के पुराने शहर 'तेल अल अमर्न' की खुदाई में पुरातत्व विभाग को बहुत से आलेख मिले हैं। मिस्र के फेरोओं में और खत्ती राजाओं मे हजारों बरस तक कभी लड़ाई और कभी मेल-जोल रहा। दोनों देशों के राजाओं में जो पत्र-व्यवहार हुआ है वह इस खुदाई से निकला है। मेसोपोटामिया में बाबुल ओर असुरिया की पुरानी सभ्यताओं के अवशेष भी पुरातत्व विभाग ने खोद कर निकाले हैं। बाबुल और असुरिया के सम्राटों के साथ भी खत्तियों का संबंध था। हजरत ईसा से 1800 बरस पहले खत्ती सम्राटों ने बाबुल को जीत कर उस पर हुकूमत की थी। मिस्र के शिला-लेखों में इन खत्तियों को 'खेता' नाम से पकारा गया है। प्राचीन बाबुली इन्हे 'खत्ती' कहा करते थे।

वर्तमान टर्की की राजधानी अंकारा के पास बागजकुई नामक गांव में पुरातत्व विभाग ने एक भूमिगत शहर खोद कर निकाला है। उसके शिला लेखों और उसकी मूर्तियों को देखकर विद्वानों ने पता लगाया है कि यह दबा हुआ शहर ही खत्तियों की प्राचीन राजधानी था। पुरातत्ववेत्ताओं की खोजें इस बात को साबित करती हैं कि मौजूदा टर्की ही इन खत्तियों का देश था।

खत्ती एशिया कोचक में कब और कैसे पहुंचे, इसपर अभी तक निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन बागजकुई की खुदाई से जो खंडहर और शिला लेख निकले हैं उनसे यह बात तो साबित हो ही जाती है कि कम से कम पाच हजार साल पहले एशिया कोचक में खत्ती मौजूद थे। अठारहवीं सदी ईसवी से पहले एशिया कोचक, सारा सिरिया, रुस सागर के किनारे के देश, आसपास के टापू, बाबुल और असुरिया सब उनके अधीन थे। खत्तियों की दूसरी शाखाओं ने निकल कर यूनान के कुछ टापुओं पर भी कब्जा कर लिया था।

इतिहास में सबसे पहले खत्तियों का जिक्र सन् 2635 ईसा पूर्व से पहले आता है जब मेसोपोटामिया के प्रसिद्ध सुमेरी सम्राट सरगन प्रथम ने एशिया कोचक के एक खत्ती शहर 'पुरुष खंड' पर हमला किया था। सरगन के उत्तराधिकारी सम्राट नारमसिन का भी खत्ती राजा पम्ब और उसके सत्रह सामंतों के साथ युद्ध हुआ था। अठारहवीं सदी ई. पू. में खत्तियों की सत्ता अपने शिखर पर थी। उन्होंने सन् 1758 ई. पू. में मेसोपोटामिया पर हमला करके प्रसिद्ध हाम्मुराबी राजवंश का नाश कर दिया था।

इसके बाद पूरे दो सौ वर्ष तक खत्ती आपस की लड़ाइयों में उलझे रहे। इस आपसी लड़ाई में आर्यो की एक दूसरी शाखा मित्तन्नी ने समस्त सिरिया, फिलस्तीन, उत्तरी अरब और पूरब में असुरिया की राजधानी निनेबेह तक को अपने अधिकार में कर लिया था। सन् 1600 सदी ई.पू. में मित्तन्नियों की हुकूमत तूनिस, हैलिओपोलि और बालबेक तक थी। मिस्री सम्राट थूतमोसे पहले और थुतमोसे तीसरे से नहारिन के मैदान में मित्तन्नियों की घमासान लड़ाई हुई। मित्तन्नियों का प्रतापी राजा दशरथ अपने समय का शक्तिवान राजा था। अपने रुतवे में वह मिस्री और बाबुली सम्राटों के बराबर था। इन तीनों ताकतों में बाद में प्रेम संबंध कायम हो गया और आपस में शादी-ब्याह भी होने लगे। मित्तन्नियों की सत्ता को 14 सदी ई.पू. में असुरी ताकत ने नष्ट कर दिया।

सन् 1385 ई.पू. में खत्तियों ने फिर अपना एक बार मजबूत संगठन किया। इस समय मिस्र में प्रसिद्ध संत और महात्मा इखनातन राज्य कर रहा था। इखनातन के राज्याभिषेक पर खत्ती कौम के राजा सेपलेल, मित्तन्नी के राजा दशरथ और बाबुल के राजा वरवारिईश ने एशिया से इखनातन को बधाई और दोस्ती के संदेश भेजे। राजा दशरथ ने इखनातन की मां राजमाता तिई को भी, जो राजा दशरथ के ही घराने की थीं, बधाई का एक सुंदर पत्र भेजा था।

इखनातन के बाद तूतनखामन मिस्र का पेरोआ बना। उस समय खत्तियों का राजा शुप्पिलु ल्युमाश था। तूतनखामन की एक विधवा ने शुप्पिलु ल्युमाश के एक बेटे से शादी करनी चाही। इस तरह शादी करके खत्ती राजकुमार मिस्र के सिंहासन का अधिकारी बन सकता था। वह मिस्र गया भी किंतु उसे मिस्री सैनिकों ने मार डाला।

जब मिस्र के सिंहासन पर पेरोअ रामेस दूसरा बैठा, उस समय खत्तियों का बल बहुत बढ़ा हुआ था। रामेस को भी अपना एशियाई साम्राज्य फिर से वापस जीतने का ख्याल था। सन् 1288 ई. पू. में सिरिया के दक्षिण में एक दिन कादेश नामक शहर के पास ओरंती नदी के किनारे खत्ती सम्राट मातुल और रामेस की फौजों में घमासान युद्ध हुआ। दोनों ओर से करीब चालीस हजार सैनिक लड़ाई में काम आये लेकिन कादेश फतह न हो सका। कहा जाता है कि लड़ाई बराबर छूटी। सम्राट रामेस अपनी राजधानी थोबी लौट आया।

आहिस्ता आहिस्ता मिस्र को एशियाई सरहद के सरदारों और वहां के राजाओं ने एक-एक कर अपनी आजादी और मिस्री साम्राज्य से अपनी अलहदगी का ऐलान कर दिया। रामेस फिर फौज लेकर बढ़ा। 15 साल रामेस और खत्ती सम्राट मुत्तलाश के बीच लड़ाई जारी रही। आखिर दोनों के बीच बराबरी की शर्तों पर संधि हो गई।

सन् 1272 ई.पू. से पहले की यह संधि जो चांदी की तख्ती पर लिखी गई है 'दुनिया के दो राज्यों या दो कौमों के बीच की सबसे पुरानी संधि है जो इस समय मौजूद है।' इसमें 18 शर्तें हैं। इस शर्तनामे को पढ़कर पता चलता है कि खत्तियों के देश का नाम 'खेतसार' और उनकी राजधानी का नाम 'खत्तुसास' था। चांदी की तख्ती पर इतनी अच्छी नक्काशी और खुदाई की गई है कि वह कला का सुंदर और उत्कृष्ट नमूना समझी जाती है। तख्ती में सबसे ऊपर 'सुतेख' देवता का चित्र है, जो खत्ती राजा को गले लगा रहा है। एक देवी का चित्र है जो खेतसार की महारानी कूक्षिप को गले लगा रही है। संधि पत्र पर खत्ती देवता 'सुतेख', मिस्री देवता 'रे' (रवि) और दोनों राजाओं–चारों की मोहरें (सील) हैं। उसके बाद लिखा है–"शांति, बराबरी और भाईचारे की भली संधि जो दोनों महाराजाओं के बीच हमेशा के लिये अमन कायम करती है।" पिछले संबंध को बयान किया गया है। पिछली संधियों को फिर से पक्का किया गया है। दोनों में से किसी पर भविष्य में कोई और हमला करे तो दूसरा उसकी मदद को पहुंचे। दोनों तरफ से युद्ध के कैदियों की वापसी का जिक्र है। दोनों मुल्कों में दूसरे मुल्क के लोगों के साथ बहुत अच्छे व्यवहार की शर्त है। दोनों के देवी-देवताओं को गवाह ठहराया गया है। संधि तोड़ने वाले को श्राप और कायम रखने वाले को आशीर्वाद दिया गया है। इत्यादि।

13 साल बाद 1259 ई. पू. में महाराजा खेतसार की लड़की का पेरोअ रामेस के साथ विवाह हो गया। रामेस ने खत्ती राजकुमारी को अपनी पटरानी बनाया।

किंतु इसके बाद खत्ती कमजोर पड़ते गये। इस समय असुरिया (उत्तर मेसोपोटामिया) के सम्राट अपनी विजयों से चारों ओर असुरी साम्राज्य कायम कर रहे थे। इन्हीं में से एक प्रसिद्ध असुरी सम्राट तिगलथोमेलेसर ने सन् 1190 ई.पू. में एशिया कोचक से खत्तियो की सत्ता का सदा के लिये अंत कर दिया।

सन् 850 ई. पू. मे वान झील के किनारे आर्मीनिया के पास 'उरार्तु' में फिर से खत्ती सत्ता कायम हुई। उरार्तु की राजधानी तुष्प नामक नगर में थी। यह शहर वान झील के पूरवी किनारे पर था। उरार्तु के साथ भी असुरिया की आए दिन लड़ाई होती रहती थी। अंत में सन् 717 ई. पू. में उरार्तु के राजा और असुरिया के सम्राट सरगन दूसरे से कारकेमिश के मैदान में युद्ध हुआ। इस युद्ध में उरार्तु से खत्ती सत्ता का अंत हो गया।

उरार्तु से खत्ती अधिक पूरब की ओर बाख्त्री मे आकर बस गये। इसी बाख्त्री को आज कल बख्तियार या बेक्ट्रिया कहते हैं। इतिहासकारों के अनुसार यह बाख्त्री ही आर्यो का मूल स्रोत है। जमाने के हजारों बरस के दौर में खत्ती उस जगह लौट आये जहा से लगभग ढाई हजार बरस पहले उनके पूर्वज खेतमार की ओर गये थे। कितु खत्ती कोम के लिये यह ऐतिहासिक बदकिस्मती का जमाना था। सकसेन से सकों के हमले ने उन्हें बाख्त्री छोड़ने पर मजबूर कर दिया। अनेक इतिहास लेखकों का अनुमान है कि खत्ती बाख्त्री छोड़ कर अफगानिस्तान के रास्ते गांधार और पंजाब की ओर आये और भारत के लोगों में रल-मिल गये।

असुरिया की राजधानी निनेबेह की खुदाई में बहुत सी खत्ती सील मोहरें मिली हैं। शुरू-शुरू की खत्ती लिपि 'चित्र-लिपि' थी। इसमें विविध विचारों को जाहिर करने के लिए सिर, हाथ, पांव, पंजे, लोमड़ी, पक्षी, तलवार आदि के चित्र बनाये जाते थे। एक-एक चित्र एक-एक विचार जाहिर करता था। चित्रों के रुख की तरफ लिपि पढ़ी जाती थी। पहली लाइन दाहिने से बाएं, दूसरी बाएं से दाहिने और तीसरी फिर दाहिने से बाएं लिखी पढ़ी जाती थी। खत्ती लिपि से ही साइप्रस द्वीप की वर्णमाला बनी। लीसियन, कोनियन और पैम्फीलियन लिपि पर भी खत्ती लिपि की छाप है।

बाबुली लिपि में भी खत्ती भाषा के शब्द मिले हैं। तेल अल अमर्न में मित्तन्नी के राजा दशरथ के तीन पत्र और अग्सपि के राजा तरखुनदरव के खत्ती भाषा में लिखे हुए पत्र मिले हैं। आर्मेनिया में भी खत्ती भाषा के कई शिला लेख पाए गए हैं।

खत्ती साम्राज्य के विस्तार के साथ-साथ खत्ती भाषा में भी तब्दीली आई। बाबुल और मिस्र की भाषाओं ने भी उस पर अपना असर डाला। खत्तियों की मूल भाषा संस्कृत थी किंतु धीरे-धीरे खत्तियों, भारतवासियों और ईरानी आर्यो की भाषा में खासा फर्क पड़ गया। भाषा के साथ-साथ उनके रक्त में भी सम्मिश्रण हुआ। चित्रो में उनकी नाक और कपाल देखकर पता चलता है कि उनके आर्य रक्त में दूसरे रक्तों की भी मिलावट हुई।

नीचे लिखे शब्दों से खत्ती और संस्कृत भाषा का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है--

	खत्ती	सस्कृत
एक वचन--	शाश	सा
	जामि	यामि
	जाशि	यासि
	जाजि	याति
	X	X
बहु वचन--	जावेनि	याम·
	जात्तेनि	यात्त
	जांजि	यांति
	जा	याहि
	जाद्दु	यातु
	जात्तेन	यात
	जांदु	यांतु आदि

उनके राजाओं में दशरथ, सुतर्ण, ःर्तात्मा (संस्कृत-ऋतात्मा), शुबदु (संस्कृत सुबंधु), ऋतपूर्ण आदि नाम पाए जाते हैं।

खत्ती आर्यो के प्रमुख देवताओं में 'मित्राश शील', 'अरुणाश शील' और इंदर (वैदिक-मित्र, वरुण और इंद्र) थे। वैदिक 'नासत्य' की भी ये लोग पूजा करते थे। 'अग्निश' (अग्नि) की भी पूजा होती थी। देवी की 'जगज्जननी' के रूप में पूजा की जाती थी। जगज्जननी का वाहन 'हंस' था। पश्चिमी खत्ती 'तकुदेव' की और पूर्वी खत्ती 'तेशुप' की पूजा करते थे। साइलोसिया के खत्ती 'संद' देवता की पूजा करते थे। बान के खत्ती 'खाल्दि' (चंद्रमा) को प्रधान देवता मानते थे। चंद्रमा को ये लोग 'शैलार्दि' नाम से भी पुकारते थे। इनकी त्रिमूर्तियों में प्रमुख त्रिमूर्ति ''आर्दि (सूर्य), खाल्दि (चंद्र) और तेशुप (पवन)'' की है। देवी की मूर्ति के एक हाथ में आइना, फूल या पक्षी होता था।

खुदाई से कुरबानी के चित्र भी मिले हैं। देवता के सामने अंगूरों के गुच्छे और अनाज की बालियां भी चढ़ाई जाती थीं। एक देवता का धड़ शेर का था और सर मनुष्य का था। बाद के खत्ती वैदिक देवताओं के साथ-साथ सुमेरी, मिस्री और दूसरी कौमों के देवताओं की भी पूजा करने लगे थे। मिस्र के फेरोआ रामेश दूसरे और खत्ती राजा में जो सुलह हुई उसमें 100 देवताओं की गवाही लिखी गई थी।

इन देवताओं के अलावा खत्ती पृथ्वी, स्वर्ग, पर्वत, नदी, कुंआ, वायु और मेघ आदि की भी पूजा करते थे। 'खल्कि' अन्न का देवता था। कुलदेव का 'कुल शेष', पितृदेव का 'कुमार्व' और मातृदेवी की 'निनात्तस' नाम से पूजा की जाती थी। निनात्तस की सुमेर में 'निना' नाम से पूजा होती थी।

डाक्टर मणिलाल पटेल, डाक्टर भूपेंद्रनाथ दत्त इत्यादि प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार बागजकुई में हजरत ईसा से कम से कम 3400 वर्ष पूर्व की जो मूर्तियां हैं उनमें मित्र, वरुण, इंद्र और नासत्य प्रमुख हैं। (आर्किव ओरिएनतालिनी, जिल्द-चार, पृष्ठ 258)।

खत्तियों की शिल्पकला और चित्रकला का आदर्श धार्मिक था। बागजकुई की खुदाई में ज्यादातर एक अकेले देवता या मनुष्य की मूर्ति अथवा चित्र पाए गए हैं। कहीं-कहीं पेनल में एक से ज्यादा व्यक्ति भी दिखाये गए हैं। ढलाई और धातुओं के काम में खत्ती बहुत कुशल कारीगर थे। निर्माण कला में भी उन्होंने काफी तरक्की की। उरातु के खत्ती इमारतों के बनाने में रंग-बिरंगे संगमरमर का इस्तेमाल करते

थे। कांसे की मूर्ति ढालने का भी उन्हें ज्ञान था। खत्तियों ने यूनानी कला पर भी काफी असर डाला।

खत्तियों में पुरुष और स्त्रियां दोनों सर पर लंबे बाल रखते थे। दोनों आधी बांह का घुटनों तक का लंबा कुरता पहनते थे। स्त्रियां इस कुरते के ऊपर से लबादा डाल लेती थीं। यह लबादा सर से पैर तक लटकता था। जूते और चप्पल पहनने का भी रिवाज था। स्त्री पुरुष दोनों हाथों में कड़े और कानों में बाली पहनते थे। स्त्रियां हार भी पहनती थीं। मर्द हाथ में लंबा डंडा लेकर चलते थे। खत्ती सेना में पैदल, घुड़सवार और रथवाले होते थे। रथ में दो घोड़े जुतते थे। धनुष-बाण, फरसा, तलवार और गदा उनके हथियार थे। बागजकुई की खुदाई से दो भागों में लिखा हुआ खत्तियों का दो सौ सफे का एक न्यायग्रंथ मिला है। सजा देने में खत्ती उदारता बरतते थे। वे खेती और पशुपालन को बहुत महत्व देते थे। शहद की मक्खियां भी पालते थे। अनाज में जौ और गेहूं प्रमुख थे। जौ की शराब भी बनाई जाती थी। तोल के बाट बाबुल की ही तरह के थे। सिक्के की जगह वे चांदी के टुकड़े इस्तेमाल करते थे। खुदाई में रहन, बैनामा, खरीद-फरोख्त के लेखों के अलावा ज्योतिष, गणित और वैद्यक के भी ग्रंथ मिले हैं।

खत्तियों में पुरुषों की तरह स्त्रियां भी स्वाधीन थीं। परदे की प्रथा का उनमें जरा भी रिवाज न था, जबकि असुरी समाज में हजरत ईसा से एक हजार साल पहले स्त्रियों को परदे के भीतर रखा जाता था। खत्ती स्त्रियां हथियार लेकर युद्ध क्षेत्र में शत्रुओं का मुकाबला करती थीं। खत्ती 'दुर्गा' की भी उपासना करते थे। ये अपने सरों पर लंबी चोटी भी रखते थे।

बागजकुई की खुदाई से चट्टान पर बना हुआ पांच हजार साल पुराना एक चित्र मिला है। इस चित्र के संबंध में प्रसिद्ध अंगरेज पुरातत्ववेत्ता सर जार्ज बर्डबुड ने लिखा है–

"उसके कपड़े पहनने का तरीका गुजरात के सवर्ण हिंदुओं के तरीके से मिलता जुलता है। उसकी बल दी गई पगड़ी, कंधे का दुपट्टा और भारतीय शैली के नोकदार जूतों से यही मालूम होता है कि वह किसी हिंदू की मूर्ति है।"

टर्की के इस बागजकुई गांव के खंडहरों में वैदिक आर्य सभ्यता का खजाना दफन पड़ा हुआ है।

प्राचीन मिस्री संस्कृति और वैदिक विचारधारा

अति प्राचीन मिस्री आलेखो के अनुसार मिस्र के प्राचीन निवासी ईसा से पाच हजार वर्ष पूर्व पंत देश से जलमार्ग से मिस्र आये थे। उपलब्ध दूरी ओर वर्णन के अनुसार पंत देश के उस भूभाग में नारियल, काली मिर्च, चंदन, इवदंत (आइवरी) आदि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे।

दुनिया के सारे मनुष्य, चाहे किसी रंग और रूप के हो, एक ही कुटुब की शाखें बल्कि एक ही विशाल कुटुंब हैं। सब धर्म यही कहते हे और प्रकृति ओर इतिहास यही सिद्ध करते हैं। फिर भी इतिहास लेखक अब इस बात पर एक राय हैं कि पुराने मिस्रियो का निकास उसी पुरानी जाति से हे जिससे आजकल के भारतवासियों, ईरानियो और यूरोप निवासियों का निकास हुआ है। आर्यो या भारतवासियों के साथ उनकी एकता उनके जीवन के हर पहलू से प्रकट होती है। पर यह तथ्य सबसे अच्छी तरह उनके नामो और उनकी भाषा से चमकता है।

पांच-सात हजार वर्ष पहले की मिस्री भाषा के जो थोड़े से शब्द इधर-उधर बिखरे हुए रूप में मिलते हैं उनसे कोई राय कायम कर सकना कठिन है। फिर भी शब्दों की समानता इतनी अधिक है कि कुछ उदाहरण हम नीचे देते हैं।

उनका सबसे बड़ा देवता 'रे' 'रवि' या सूर्य था जिसके भारतीय और मिस्री नामों में समानता थी। हिंदी शब्द 'राव' या 'राय' राजा या सरदार के अर्थो में 'रवि' से लिया गया है। जिस तरह बहुत से हिंदी नाम राय से अंत होते हैं उसी तरह अनेक मिस्री सम्राटों के नाम 'रे' से अंत होते हैं। कुछ मिस्री सम्राटों के नाम ये थे--साहुरे, उसरकेरे, शिशेरे, नाथुरे, शशांक, रामेस, सेसुश्री आदि। साहुरे नाम में 'साहु' शब्द का ठीक वही अर्थ है जो 'साधु' का। उसरकेरे में उसर का अर्थ 'ऐश्वर्यवान'

या 'ईश्वर', 'के' का अर्थ 'आत्मा', (संस्कृत में 'क' आत्मा का वाचक) है। और रे, का अर्थ है 'रवि'। शशांक नाम के चार और रामेस नाम के बारह नरेश मिस्र में हुए हैं। कई सेसुश्री नाम के हुए हैं। उनके एक प्रसिद्ध मंदिर का नाम 'रामेसियम' था। 'वाज' पक्षी को, जिसे फारसी में 'शाहीन' और संस्कृत में 'श्येन' कहते हैं, मिस्री 'हेन' कहते थे। हिंदुओं में 'श्येन' विष्णु का वाहन है। मिस्री उसे अपना मुख्य देवता मानते थे। रहने के स्थान को संस्कृत में 'निकाय' कहते हैं, मिस्री 'नेक' कहते थे। नरसल को संस्कृत में 'वंश' कहते हैं और मिस्री में 'इंसी'। 'देह' यानी शरीर को मिस्री में 'दे' कहते थे। योद्धा को 'ओहे' कहते थे। युद्ध में नेतृत्व करने वाली देवी को मिस्री 'नीत' या 'नेइत' कहते थे। संस्कृत में 'नीति' का अर्थ है वह (स्त्री या देवी)—'जो नेतृत्व करे'। नीत का पति 'हरशोफ', संस्कृत हरशिव से मिलता-जुलता है। जगत के पालन करने वाले 'पिता' को मिस्री 'ताह' कहते थे। 'असोसो' देवता की पत्नी का नाम 'इशी' था। ऋग्वेद में एक देवी का नाम 'इशा' आता है। दुष्टों का विध्वंस करने वाली एक बहुत बड़ी देवी उनकी 'शेखमेत' थी। जिसका अर्थ संस्कृत में 'शक्ति माता' है। हिंदुओं में शक्ति का वाहन सिंह है। मिस्री 'शेखमेत' का शेर का मुंह बनाते थे। 'मत' या माता का अर्थ उनके यहां 'माता' था। मिस्री बेटे को 'सि' कहते थे, संस्कृत में वही 'सनु' है। बेटी को वे 'सित' कहते थे, संस्कृत में वह 'सुता' है। 'शुचि' यानी पवित्र को वह 'सोसेर' कहते थे। बैल को संस्कृत 'गो' की जगह वह 'के' कहते थे। 'नेतृ' या 'नेता' को वे 'नेतेर' कहते थे। पृथ्वी को, जिसे संस्कृत में 'गो' या 'कु' कहते हैं वे 'गैव' कहते थे। 'नभ' आकाश की देवी को 'नथ' या 'नस' कहते थे। 'कुमेत' का अर्थ मिस्री भाषा में काली मिट्टी है (कु=काली, मेत=मिट्टी)। संस्कृत वाक्य है 'सत्याय मित भाविणाम्'। मिस्री सत्य को 'माइत' भी कहते थे। संस्कृत में 'तथ्य' भी सत्य का एक नाम है। मिस्र में सत्य का देवता 'थाथ' कहलाता था। संस्कृत 'इरामति' को मिस्री 'इरिमाइत' कहते थे। गाय को वे 'हासोर' कहते थे, संस्कृत में वह 'उस्रा' है। संस्कृत में 'मार' प्रेम का देवता है, मिस्री प्यारे को 'मेरी' कहते थे। 'यम' प्राचीन मिस्र में भी प्रेतों का देवता माना जाता था। कामदेव का एक संस्कृत नाम 'मैन' है, मिस्री उसे 'मिन' कहते थे।

आर्यों में 'अग्नि' देवताओं का दूत माना गया है। मिस्रियों में भी अग्नि को पवित्र माना जाता था। मंदिरों में पवित्र अग्नि हर समय प्रज्वलित रखी जाती थी।

उसीं में दूसरे देवताओं के नाम की आहुतियां मंत्र पढ़-पढ़ कर डाली जाती थीं। हर साल बड़े समारोह के साथ नई अग्नि प्रज्वलित की जाती थी। हिंदुओं में मेढ़ा अग्नि का वाहन माना जाता है। मिस्री मेढ़े की विशेष रूप से पूजा करते थे। 'सातेत', 'अनुकेत' और 'खनुम' की उनके यहां एक मुख्य त्रिमूर्ति थी। संस्कृत में 'तनु विस्तारे' है जिससे 'ताना' बना है। मिस्री कपड़े या कफन की देवी को 'ताइत' कहते थे। संभव है 'ताबूत' इसी से बना हो। अरबी 'कोइल' को मिस्री भी 'कोहल' कहते थे। प्राण को वे 'पानि आः' कहते थे। ईश्वर को 'अश्त' या 'उभ्र'। एक राजा का नाम था 'देघोत पेरे' जिसके शाब्दिक अर्थ हैं—दे=दो बार, घोत=धृत यानी धारण किया हुआ, पे=प्रेम, रे=रवि, "यानी दो बार धारण किया हुआ प्रेम में रवि के।" हर टुकड़ा संस्कृत से मिलता है। इसी तरह बहुत से राजाओं के नामों का एक-एक टुकड़ा संस्कृत से मिलता है। युद्ध के देवता 'मंगल' को वह 'मेंतु' कहते थे। 'अंशु' से अंत होने वाले चंद्रमा के नामों की तरह वे चंद्रमा को 'खोन्शु' (ख=आकाश) कहते थे। प्रजा को 'पेरु' या 'पेर' कहते थे। 'शुराय' एक व्यक्ति का नाम था जो 'शिवराय' या 'सुराय' से मिलता है। समुद्र को संस्कृत में अर्णव और लहर को संस्कृत में 'उर्मि' कहते हैं। मिस्री समुद्र को 'इयुम' या 'इआम' कहते थे। 'क्रूर' और 'परमेश' भी वहां के खास नाम थे। सरदार को वे 'सर' या 'सार' कहते थे, संस्कृत—श्री। 'क्षेम' को 'खे', 'उत्थान' को 'उथ' कहते थे। एक राजा के लड़के का नाम 'सियामन' और लड़की का 'सीतामनश्या' था। 'पुष्ट' को 'पेहतो' कहते थे। हृदय को 'हिबु' जिससे शायद 'हुब' और 'मुहब्बत' बने। सलाम के अर्थो में 'सलाम' शब्द प्राचीन मिस्री शब्द है। 'श्रेष्ठ' अर्थात् सेठ को वे 'हेट' कहते थे। 'व्योम' को 'आम्मौन' और श्रंगार को 'शिनार' कहते थे। आदि आदि।

ये थोड़ी सी समानताएं चार-पांच हजार वर्ष पुरानी मिस्री भाषा के कुछ इधर-उधर बिखरे हुए शब्दों को संस्कृत से मिलाकर यहां दी गई हैं। स्पष्ट है भारतीय, ईरानी और पांच-सात हजार वर्ष पहले के मिस्री सब एक ही पूर्वज की संतान थे और उनकी भाषाओं का निकास, संभवतः एक ही आदि भाषा संस्कृत से था।

जगत के सिरजनहार अनंत ईश्वर की प्रार्थना में छंद रचे गये। छंद की पक्तियां हैं :

अनंत के स्वामी की जय हो!
लाखों वर्षो की यात्रा तय करके वह अनंत में प्रवेश करता है।
उत्तर और दक्षिण उसका अभिषेक करते है!
और देवता तथा मनुष्य उसकी अभ्यर्थना करते हैं!
उसके हाथ में दया का छत्र और शक्ति की चंवर है!
हे राज राजेश्वर! हे देव देवेश्वर! और हे नरेंद्र!
तुम्ही पृथ्वी को शस्य-श्यामल बनाते हो।
जो वस्तु नष्ट हो चुकी वह तुम्हारी ही निर्मित थी!
जो बनने वाली हे वह तुम्हारे द्वारा ही रची जायेगी!
मेरा हृदय पहाड़ के गर्भ मे भी शांति पाएगा!
तुम्हारा शरीर चमचमाती धातु से अधिक चमकीला है!
जहा-जहां तुम जाते हो नीलिमा तुम्हारे पद-चिन्हों को अलंकृत करती है।
हे देवेश्वर तुम्हे शताधिक प्रणाम है!
(मार्क वान डोरेनः एन एंथालाजी आफ वर्ल्ड पोएट्री)।

'रे' रवि अथवा सूर्य की प्रतिभा का इन शब्दों में वर्णन किया गया है :

मे ही दिव्स्पति सूर्य हू!
मै जन्म-मृत्यु से ऊपर हू!
मै ही आदि-जीवन हूं!
मैं ही प्रथम नाम-रूप हू!
मैं ही समय और काल का स्वामी हूं!
मैं ही अमरत्व हूं!
और मैं ही अनंत हूं!

मिस्रियों के अनुसार मरने के बाद मनुष्य की आत्मा पाताल में, पाताल-नील या काल-नदी के किनारे वास करती है। बारहवें राजकुल तक कलाकार मृतात्मा के जीवन से संबंधित सभी वस्तुओं का चित्रण करता था। यह इसलिये ताकि मृतात्मा उसके द्वारा अपने अस्तित्व से अवगत हो सके। यह सब चित्र एक जगह एकत्रित

किए गए और उन्हे पुस्तक का रूप दिया गया। उसका नाम ''मृतात्माओ का ग्रथ'' (बुक आफ डेड) रखा गया।

इस 'बुक आफ दि डेड' दर्शन ने भी धर्म की भावना का ठोस नैतिक आधारो पर स्थापित करने की चेष्टा की। मध्य काल समय के एक कवि ने अपनी कविता मे लिखा है

उस दिन को याद करो जब तुम अतिम यात्रा आरभ करोगे।
जहा मनुष्य एक बार जाता है तो फिर नही लौटता।
इसलिये ईमानदारी का जीवन व्यतीत करो।
न्याय करो और मर्यादा का उल्लघन न करो।
जो न्याय करता है उसे शाति प्राप्त होती है।
भीरु अथवा साहसी कोई भी कब्र को तोडकर न निकल सकेगा।
घमडी और मित्रहीन सब मृत्यु के समक्ष बराबर है।
तब जितना दान दे सकते हो दो।
प्रेम, और सत्य के देवता तुम्हे आशीर्वाद देगे।
तुम्हे लबी आयु प्राप्त होगी।

(लुडविग स्टन द वर्ल्ड ग्रेट क्लासिक्स)।

मिस्र म अठारहवे राजकुल क समय धर्म भावना अपन चरम उत्कर्ष पर पहुची। सम्राज्ञी हेतरोप सूत ओर अमेन होतेप द्वितीय आर तृतीय ने एकेश्वरवाद की भावना को प्रोत्साहन दिया। किंतु यह विचार-धारा अमेन होतेप चतुर्थ अर्थात् इखनातन के समय अपनी पूणता को पहुची। इखनातन ने सब देवताओ की जगह एक परम पिता परमात्मा की उपासना का उपदेश दिया। इखनातन अपनी एक कविता मे सर्वेश्वर आतन (सूर्य) की स्तुति मे कहता है

तेरे सब कार्य कितने अनत है।
वे हमारी आखो से ओझल है।
हे अनन्य ईश्वर। तेरे सिवाय कोई दूसरा ईश्वर नही है।
तूने अपनी इच्छा से इस पृथ्वी की रचना की।
उस समय जबकि तू ही तू था।

तूने मनुष्य को बनाया, सब छोटे-बड़े पशुओं को!
उन सबको जो धरती पर रहते हैं!
जो अपने पैरों पर चलते हैं!
उन सबको जो आकाश में हैं!
जो अपने परों से उड़ते हैं!

इस अनोखे मिस्री पैगम्बर-पेरोए के उपदेश दो हजार वर्ष तक सभ्य संसार में इतनी अच्छी तरह गूंजते रहे कि 1300 वर्ष बाद हजरत ईसा के उपदेशों में उसके वाक्य ज्यों के त्यों मिलते हैं।

इखनातन के समय की धार्मिक विचार-धारा ने उस समय के कविता साहित्य को भी बहुत दरजे तक प्रभावित किया। एक छोटी सी कविता की पंक्तियां हैं :

में पवित्र पद्म हूं,
संपूर्णता के साथ विकसित हो रहा हूं।
'रा' (रवि) की किरणें मुझे जीवन देती हैं!
मिट्टी और अंधकार से सूर्य के प्रकाश में आता हूं!
अपनी समग्रता के साथ खिलता हूं!

(मार्क वी. डारेन : एन एंथालाजी आफ वर्ल्ड पोएट्री)

मिस्री सभ्यता ने मंदिरों और समाधियों की दीवारों पर तथा ममियों के आवेष्टन पर साहित्य और कला के असंख्य नमूने छोड़े हैं। आधुनिक खोजियों को यह जानकर आश्चर्य होता है कि वह समस्त साहित्य पद्य और छंदों में है। मिस्री साहित्य धार्मिक पूजा-पाठ का एक अंग था। उनकी कविताएं ताल और स्वर में बंधी होती थीं। वे सब संगीत के स्वरों पर सधी होती थीं। यद्यपि मिस्री धार्मिक पूजा-पाठ संगीतमय होता था किंतु अब तक यह जाना नहीं जा सका कि उनके गीतों में स्वरों के आरोह-अवरोह का क्या नियम था। किसी-किसी पंक्ति को दोहराने के चिन्ह अवश्य मिलते हैं। उनके वाद्य-यंत्रों का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकलता है कि वे अपने संगीत में पांच अथवा सात स्वर प्रयुक्त करते थे। मिस्रियों का अधिकांश संगीत धार्मिक होता था किंतु उनके यहां सामाजिक उत्सवों में अथवा परिश्रम करते समय गाये जाने वाले गीतों का भी प्रचलन था। उनके श्रम-गीत काफी प्रभावोत्पादक थे।

उन्नीसवें राजकुल के समय के एक श्रमगीत की पंक्तियां हैं:

> हे बैलों! खलिहान में अपने स्वामी के लिये मड़ाई करो,
> जिस अनाज को तुम माड़ रहे हो उसमें तुम्हारा भी भाग है!

हजारों वर्षो से मिस्री जनता सूर्य को अपना सबसे बड़ा देवता मानती आई थी। एशिया के दूसरे देशों में भी सूरज की पूजा होती थी। आमेन होतेप ने सूर्य को निराकार ईश्वर का सबसे बड़ा चिन्ह, उसकी सबसे बड़ी सृष्टि और सबसे बड़ी विभूति बताया और इस विचार से सूर्य की पूजा को सर्व साधारण के लिये उचित ठहराया। मिस्र में सूर्य की कई नामों से और कई रूपों में पूजा होती थी। इनमें मुख्य नाम 'आमन' और 'रे' थे। इनके अलग-अलग मंदिर थे। आमेन होतेप ने इन दोनों नामों को सूर्य ही के नाम बताया। लेकिन इन मंदिरों के पाखंडों को तोड़ने के लिये उसने पुरानी पुस्तकों में से सूरज का एक नया नाम 'आतन' ढूंढ़ निकाला। उसने 'आतन' ही को सूर्य और ईश्वर दोनों का वास्तविक नाम बताया जिनमें निर: र—आतन, साकार आतन अर्थात् सूर्य का भी बनाने वाला और चलाने वाला था। निराकार आतन और साकार सूरज इन दोनों के अतिरिक्त और किसी भी देवी-देवता की पूजा करे उसने निरर्थक बताया।

पेरोए आमेन होतेप चौथे ने इस बात की घोषणा की कि निराकार आतन ने मुझे विशेष संदेश देकर मनुष्यों के विचारों और विश्वासों को सुधारने के लिये भेजा है।

पेरोए आमेन होतेप ने आतन के कई सुंदर भजन बनाए जो दुनिया के धार्मिक साहित्य में बहुत ऊंचे दरजे के माने जाते हैं। ये भजन इस सुधारक पेरोए के विचारों को उजागर करते हैं:

> ए जीवित 'आतन' तुझही से जीवन का प्रारंभ है!
> तू ही माता के पेट में शिशु को गढ़ता है!
> तू ही पुरुष के अंदर वीर्य बनाता है!
> तू ही मां के गर्भ में शिशु में जीवन डालता है!
> तू ही शिशु को धीरज बंधाता है ताकि वह क्रंदन न करे!
> गर्भ के अंदर तू ही शिशु को भोजन पहुंचाता है!



ईरान के सम्राट दारा विद्रोही गौमान को कुचलते हुए।



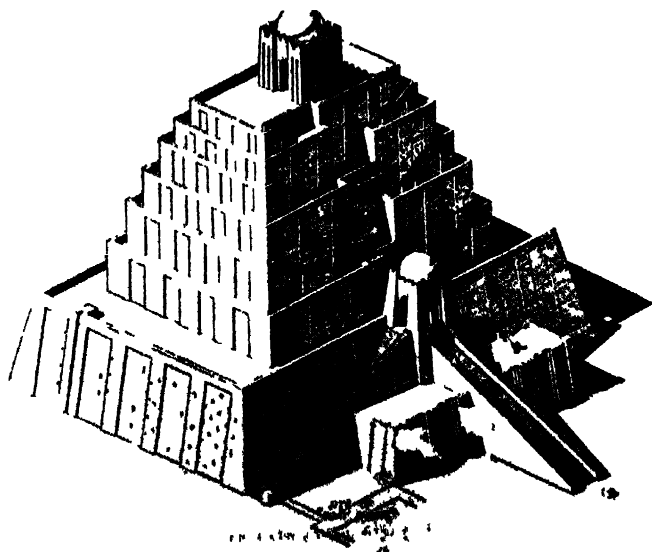
भारत पर आक्रमण करने वाले अलक्षेन्द्र महान (ईसा पूर्व 336-323) का सिक्का



ईसा पूर्व 1365 के मिस्र के सम्राट रामोज के माता-पिता नेवी और अपूय



ईसापूर्व 375 का ऐलिस प्रदेश का सिक्का जिस पर जेउस्(द्यौष्पिता) की प्रतिमा अकित है



बाबिलोन के राजा नाबोनिडस के काल का सुमेरु-मदिर (ईसा पूर्व 2112-2015)



ज़ेउस् (द्यौष्पिता) वज्रपात करते हुए।

ईसा पूर्व 450 की ग्रीक कांस्य-प्रतिमा जो एथेन्स के राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित है।

तेरे सब कार्य कितने अनंत हैं!
वे हमारी आंखों से ओझल हैं!
ऐ अनन्य ईश्वर! तेरे सिवा कोई दूसरा ईश्वर नही है!
तूने अपनी इच्छा से इस पृथ्वी की रचना की!
उस समय जबकि तू ही तू था!
तूने मनुष्य को बनाया, इन छोटे-बड़े पशुओं को!
उन सबको जो धरती पर रहते हैं!
जो अपने पैरों पर चलते हैं!
उन सबको जो आकाश में है!
जो अपने परों से उड़ते हैं!

तूने हर आदमी के लिए उसकी जगह निश्चित की!
वे अलग-अलग भाषाएं बोलते है,
उनकी शक्लें अलग-अलग हैं;
उनके रंग अलग-अलग है।
तू ही अलग-अलग करने वाला है, तूने अलग-अलग जातियां बना दी हैं!

इस नीचे की दुनिया मे नील नदी का बनाने वाला तू है!
एक नील नदी तूने आसमान मे बहा रखी है!
ताकि उसका जल सबके लिये बरसे!
ऊपर की नील नदी खेतों को पानी पहुंचाती है!

तेरा प्रबंध कितना उत्तम है,
ए अनंत के मालिक!
आकाश की नील नदी सब देशों के लिये है!
और सब देशों के पशुओं के लिये है,
जो अपने पैरों पर चलते हैं!
इस नीचे की दुनिया की नील नदी मिस्र के लिये बहती है!
इस तरह तेरी किरणें हर बगीचे को हरा-भरा रखती हैं!

तू ही ऋतुओं का बनाने वाला है!
तू अकेला तरह-तरह की शक्लों में सौंदर्य पैदा करता है!
शहर, कस्बे और आबादियां!
राज—मार्गो के ऊपर या नदियों के किनारे!
सब आंखें तुझे अपने सामने देखती हैं!
क्योंकि इस पृथ्वी के ऊपर दिन का 'आतन' तू ही है!

इसी भजन के ये दूसरे पद साकार आतन, सूरज की सुंदर स्तुति में हैं--

क्षितिज के सिरे पर तेरा उगना कितना सुंदर है!
जब तू आसमान के पूर्व के सिरे पर उगता है!
सारी पृथ्वी को तू अपनी सुंदरता से भर देता है!
तेरी किरणें पृथ्वी को घेर लेती हैं!
तू सबको अपने प्रेम में बांध लेता है!
तू दूर है, लेकिन तेरी किरणें पृथ्वी पर हैं।

तू आसमान पर है, लेकिन हमारे दिन तेरे कदमों के चिन्ह हैं!
जब तू आकाश के पश्चिमी सिरे में डूब जाता है!
दुनिया के ऊपर मृत्यु का सा अंधेरा छा जाता है।
सिंह अपनी मांदों से निकल पड़ते हैं!
सांप, जो काटते हैं!
अंधकार राज करने लगता है!
दुनिया खामोश हो जाती है!
जिसने इन सबको बनाया था,
वह अपने क्षितिज में विश्राम करने गया!

पृथ्वी चमकने लगती है!
जब तू अपने क्षितिज से निकलता है!
जब तू दिन में 'आतन' बनकर चमकता है!

अंधकार दूर हो जाता है!
जब तू अपनी किरणें फैलाता है!
तब दुनिया भर में सब अपने अपने कामों में लग जाते हैं।
सब पशु अपने चरागाह पर पहुंच जाते हैं!
पेड़ पौधे लहलहाने लगते हैं!
दलदलों में पक्षी उड़ते फिरते हैं!
तेरी स्तुति में अपने-अपने पर ऊंचे किये हुए!
नौकाएं नदी के ऊपर नीचे आने-जाने लगती हैं!
चूंकि तू निकल आया, सब मार्ग खुल जाते हैं!
तेरे सामने नदी की मछलियां कूदने लगती हैं!
विशाल समुद्र के बीच में तेरी किरणें पड़ती हैं!

मिस्रियों के धार्मिक सिद्धांत

कतिपय विद्वानो की इस बारे में अब एक राय है कि प्राचीन मिस्री जाति एशिया ही से गई थी। वह उसी नसल से थी जिससे पुराने वैदिक आर्य थे। उनके कद, उनका रंग, उनके चेहरे-मोहरे, उनके बाल, उनकी खोपड़ियों की बनावट सब यही साबित करती हैं।

(सर ए.जी. विलकिंसन : ए पापुलर एकाउंट आफ द एनशिएट इजिप्शिएंस, जिल्द 2, अध्याय पांच, पृष्ठ 50)

लेकिन इस एकता का सबसे अधिक प्रमाण किसी जाति के धार्मिक विचारों और उनकी बोली से मिलता है। इनका थोड़ा सा वर्णन हम ऊपर कर चुके है। कुछ और बातों का वर्णन यहां किया जाता है।

मिस्र के मुख्य धार्मिक विचारो को मिस्री विद्वानों ही के शब्दों मे वर्णन करना ठीक है। मिस्री जाति बहुत से देवी-देवताओं को पूजती थी जिनमें विशिष्ट स्थान सूरज का था। सूरज के जो अनेक नाम प्रचलित थे वह सब संस्कृत नामों से मिलते हुए थे। जैसे–

मिस्री	संस्कृत	वैदिक
रे	रवि	रे
होर	सूर्य	...
आतन	आतप	..
आमन	...	आउम्
प्राह	प्राची	...

मिस्री आचार्य अपने धर्म का सबसे बुनियादी उसूल यही बताते थे कि ईश्वर—एक, अव्यक्त और निर्गुण है। लेकिन जब वह सृष्टि का बनाने वाला, सबका पालने वाला और कर्मो का फल देने वाला इत्यादि रूपों में व्यक्त होता है तो सगुण हो जाता है और अनेक देवी-देवताओं के रूप मे उसके अनेक गुणो की पूजा होने लगती है। इस तरह मिस्री एक में अनेक और अनेक में एक को देखते थे। निर्गुण उपासना बिरलों के लिये है, साधारण व्यक्तियों के लिये सगुण उपासना ही हो सकती है। निर्गुण उपासना को वह 'मोन उपासना' भी कहते थे। ईश्वर के नामों मे एक 'थोथ' था, जो सत्य का देवता (संस्कृत-'तथ्य') मांना जाता था। थौथ से एक मिस्री विद्वान की प्रार्थना इन शब्दों में दी हुई है–

"ए तू! जो रेगिस्तान में प्यासे के लिये एक मीठा कुंआ है। जो बोलता हे उसके लिये यह कुंआ पटा है, लेकिन जो मौन रहता है उसके लिये खुला है। जब ऐसा आदमी आता है जो मौन रखे है, तो उसे यह कुआ तुरत मिल जाता हे।"

मिस्री सच्चाई पर बहुत जोर देते थे और हर तरह की बुराई से बचने को कहते थे। इनकी पूजा हृदय की पूजा थी।

इससे उतर कर इस तरह की प्रार्थनाएं भी थीं, जैसे—"मुझे मेरे पापों का दण्ड न दे।"

सम्राट रामेस चौथे की ओसिरि से नीचे लिखी प्रार्थना ऋग्वेद की ऋचाओं का शाब्दिक अनुवाद मालूम होती है–

"...मेरे शरीर को स्वास्थ्य प्रदान कर, मुझे जीवन दे, मैं बड़ी उमर तक जिऊं, और बहुत दिनों राज करूं। मेरे हर अंग को बल दे जो देर तक स्थापित रहें। मेरी

आंखों को रोशनी दे, मेरे कानों को सुनने की शक्ति, मेरे दिल को प्रतिदिन खुशी दे... मुझे हर स्थिति में संतोष और शांति दे। मेरी हर प्रार्थना को सुन... और हर चीज के साथ मुझे अपना प्रेम प्रदान कर। मेरे लिये नील नदी की खूब बढ़ती हो, खूब पानी आवे ताकि मेरे यज्ञों की आहुतियों के लिये खूब पैदावार हो सके। ...ताकि तेरे सब मुल्कों के लोग जियें, उनके पशु जियें और उनके बाग हरे-भरे रहें। ये सब तेरे ही हाथ के बनाए हुए हैं। तू ने ही उन सबको बनाया है, तू उन्हें नहीं छोड़ सकता। कोई काम असत्य तुझसे नहीं हो सकता।''

मिस्री बहुत से देवी-देवताओं को मानते थे, फिर भी उनका धर्म बहुदेववाद नहीं था। उनका धर्म अद्वैतवाद था। सूर्य को वे ईश्वर ही का बनाया हुआ और उसका सबसे बड़ा रूप और सबको जीवन देने वाला मानते थे, चंद्रमा को समय का माप और देवताओं का दूत। उसी को विद्या का देवता मानते थे। थोथ और चंद्रमा को एक़ मानते थे। हर पौधे, हर पत्थर में ईश्वर का प्रतिबिंब देखते थे। ब्रह्मा को वे 'ताह' कहते थे जिसके साथ सत्य की मूर्ति रहती थी। (विल्किंसन) सबके पिता के रूप में ईश्वर को 'खेम' (क्षेम)–सबकी माता के रूप में 'मात' कहते थे जो स्वयं अपने से पैदा हुई थी। आइसिस देवी के रूप में उसके हजारों नाम थे, इसलिये उसे 'हजार नामवाली' भी कहते थे।

शनि को वे 'शेब' कहते थे जो देवताओं का पिता था। अच्छाई का देवता 'ओसिरि' और बुराई का देवता 'शेथ' दोनों प्रारंभ में देवता और भाई-भाई थे। शस्त्रों का उपयोग और हिंसा करना सबसे पहले 'शेथ' ने राजा को सिखाया। धीरे-धीरे शेथ (अरबी-शैतान) अपनी बुराई के कारण मिस्र से निकाल दिया गया। पाप को वह 'अपौप' कहते थे, उसकी सांप की शक्ल बनाते थे जो देवताओं और मनुष्यों का शत्रु है।

भारत की पौराणिक कथाओं की तरह मिस्र में देवताओं की बहुत सी दिलचस्प कथाएं थीं। जैसे ओसिरि का मनुष्य के कल्याण के लिये पृथ्वी पर जन्म लेना, उसका पृथ्वी पर नेकी और सच्चाई की स्थापना करना, शेथ का द्वेष से ओसिरि को मार डालना, उसका दफन किया जाना, फिर से जी उठना, और अंत में धर्मराज का मृत आत्माओं को उनके कर्मों की सजा-जजा देने वाला मुकर्रर होना। इस कथा में पौराणिक हिंदू धर्म, का थोड़ा-थोड़ा रंग है।

वीनस (शुक्र) को वह "आथौर" या "हाथौर" कहते थे, उसे प्रेम की देवी मानते थे। दो और देवियां थीं जिनमें से एक गर्भ की रक्षा करने वाली और दूसरी बच्चे को जन्म देने वाली मानी जाती थी।

संसार के और देशों की पौराणिक कथाएं, जैसे अरज, असुरिया, ईरान, भारत, यूनान, रोम और मैक्सिको, बहुत थोड़े से अंतर के साथ मिस्री कथाओं से मिलती-जुलती हैं।

सुमेर का सांस्कृतिक वैभव

दजला, और फिरात के दो-आब में, ईसा से तीन-चार हजार साल पहले सभ्यता की एक कड़ी शुरू हुई। यह इलाका बहुत ही उपजाऊ है। इसीलिए सुमेर, बाबुल, असुरिया और काल्डिया के नाम से चार बड़ी सभ्यताएं इसमें दो हजार बरस से ऊपर तक इल्म और फन, कला और दस्तकारी, समृद्धि और संस्कृति का घर बनी रहीं। इसी हिस्से को आजकल इराक कहते हैं। सुमेरी सभ्यता इराक की सब में पहली सभ्यता थी।

सिंध में मोहन-जो-दड़ो, इराक में 'उर' और नील नदी के किनारे 'अबिदा' के पुराने खंडहरों को खोदकर पुराने इतिहास के खोजियों ने ईसा पूर्व पांच हजार साल पुरानी जो-जो चीजें हमारे सामने रखीं हैं उनसे पता चलता है कि उस जमाने के भारत, सुमेर और मिस्र तीनों की सभ्यताएं एक दूसरे से बिल्कुल मिलती हुई थीं और इन तीनों देशों में आना जाना और आदान-प्रदान बराबर जारी था। सुमेर दोनों के बीच में था और इसीलिए वहां की सभ्यता मिस्र और भारत के बीच की कड़ी थी।

सुमेर और मिस्र

उर इराक का सबसे पुराना शहर था। उर की सबसे पुरानी कब्रें जिनमें वहां के राजाओं के पंजर और सजावट का कीमती सामान मिला है, 3500 ई. पू. से पहले की मानी जाती हैं। यह ज़माना मिस्र के पहले राजकुल के पहले सम्राट मेनी से पहले का था।

अबिदा (मिस्र) को खुदाई में उसी ज़माने की बहुत सी ऐसी चीजें मिली हैं जो उसी ज़माने की सुमेरी चीजों से मिलती हुई हैं। मसलन एक खास शक्ल की सील मोहरें, खास तरह की पत्थर की गदाएं, खास तरह के बाजे, बरतन, कई कई

मंज़िल के मकान, एक तरह के जानवरों की तसवीरें और बिल्कुल एक सी मज़हबी कहानियां। ये चीजें यकायक मिस्र में मेनी के समय में दिखाई देती हैं। मेनी के समय से पहले ये चीजें मिस्र में नहीं मिलतीं जबकि मेसोपोटामिया में ठीक ये ही मेनी के सैंकड़ों बरस पहले से मिलती हैं। ज़ाहिर है मिस्र में ये नए लोग एशिया ही से गए थे। यह, सुमेरी और भारतीय कभी न कभी एक ही क़ौम थे और उनका एक ही उद्‌गम स्रोत था।

सुमेर में जो उर का पहला राजकुल माना जाता है वह असल में एक अधिक पुरानी सभ्यता की आखरी कड़ी था। उर के पहले राजकुल के समय की दस्तकारियां वहां की सभ्यता के ढलते काल की दस्तकारियां हैं। उन्हें देखने से मालूम होता है कि हजारो साल की सभ्यता के बाद ही आदमी इस तरह की चीजें बना सकता था।

उर वालों को धातुएं गलाकर उनकी चीजें बनाने का जो ज्ञान थ। और जिस तरह की चीजें वे बनाते थे वह सदियों के सीखने और कोशिशों के बाद ही आ सकता था। कुम्हार के चाक का इस्तेमाल मिस्र में मेनी के ज़माने के आस-पास शुरू हुआ। सुमेर में कम से कम सदियों पहले से लोग उसका इस्तेमाल जानते थे। मेनी के समय में सुमेर की सभ्यता मिस्री सभ्यता से ऊंची थी। मिस्री सभ्यता में उस समय नयापन था, सुमेरी सभ्यता पुरानी हो चुकी थी। बहुत से विद्वानों की राय में मिस्र के मेनी से पहले के राजघरानों से भी सुमेर की सभ्यता ज्यादह पुरानी थी।

सुमेर और सिंधु

कुछ इतिहास लेखकों की राय में मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता का तरक्की का ज़माना ईसा से कम से कम 3250 बरस पहले का है। लैंगडम की राय है कि मोहन-जो-दड़ो की लिखावट, वहां की सील मोहरें सुमेरी लिखावट और सील मोहरों से मिलती हैं। दोनों फारसी की तरह दाहिने से बाई तरफ लिखते थे। दोनों चित्रलिपि इस्तेमाल करते थे। इराक में उर के पास अल-उबेद के गांव में जो खुदाई हुई है उसमें हिंदुस्तान की अबरकी मिट्टी के बर्तन मिले हैं। मोहन-जो-दड़ो में एक मूर्ति मिली है जो सुमेरियों के पवित्र वृषभ (बैल) से मिलती हे। मोहन-जो-दड़ो की एक सींगवाली मूर्ति सुमेर के शक्ति के देवता 'अबनी' से मिलती है। हड़प्पा (पंजाब)

में बाद के समय का एक सिंगारदान मिला है, जिसमें बालों के जूड़े के कांटे, कान का मैल निकालने की सलाई और बाल उखाड़ने की चिमटी रखी है। इस सिंगारदान की बनावट ठीक वैसी ही है जैसी उस सिंगारदान की है जो उर के पहले राजकुल के समय का उर में मिला है। मोहन-जो-दड़ो में अकीक की एक सुंदर माला मिली है जो इराक में सम्राट सरगन से पहले की किश की कब्रों में मिली है। मोहन-जो-दड़ो का एक खास शक्ल का घड़ा इराक में निप्पर के एक घड़े से मिलता है। सर जान मार्शल लिखते हैं–"इस किस्म की मिलती जुलती चीजों को बहुत बढ़ाया जा सकता है और यह चीजें इस बात को साबित करने के लिये काफी हैं कि उस जमाने में, यानी सरगन से पहले या सरगन के समय में, हिंदुस्तान और सुमेर में आना-जाना, लेना-देना और सभ्यता की दूसरी बातों में गहरा संबंध था। "सर जान मार्शल यह भी लिखता है कि इन पुराने देशों में मिट्टी के बरतनों के जो नमूने मिले हैं उनसे साबित होता है कि "सिंध, बलूचिस्तान और ईरान की संस्कृतियों का एक दूसरे से गहरा संबंध था।"

सुमेरी जाति

सुमेरी जाति ने सबसे पहले दक्षिण मेसोपोटामिया पर क़ब्जा किया। वहां से वह उत्तर की तरफ बढ़ी। लोगों का अनुमान है कि वे पूरब में इलाम की ईरानी पहाड़ियों की तरफ आए। उनके पहले मेसोपोटामिया में 'मर्तु' नाम की एक क़ौम रहती थी। कुछ इतिहासकारों की राय है कि सुमेरी क़ौम काठियावाड़ से ईरान की खाड़ी के रास्ते इलाम और फिर मेसोपोटामिया पहुंची। सुमेरी लेखों में सुमेरी क़ौम का पुराना नाम 'शू' है। सन् 1936 में काठियावाड़ में एक पुराना ताम्र-पत्र मिला है जिसमें काठियावाड़ के पुराने रहने वालों का नाम 'श' लिखा है। काठियावाड़ का पुराना नाम भी 'सुराष्ट्र' था। सुमेरी लेखों में भी इस बात का ज़िक्र है कि वे सुवर्तु देश से आकर सुमेर में बसे थे। लोगों की राय है कि सुराष्ट्र ही 'सुवर्तु' है।

सुमेरियों के बाल काले और शरीर की गठन बिल्कुल भारतीय आर्यो की सी थी। वे विद्वान और समझदार थे। उनकी किताबों में उनके देवताओं का वास पर्वत पर बताया गया है। इससे अंदाज़ा होता है कि वे शुरू में कभी न कभी किसी पहाड़ी देश में रहते थे।

सुमेरी इतिहास का प्रसिद्ध विद्वान सर आर्थर कीथ लिखता है–"पुरानी और आजकल की मेसोपोटामियन क़ौम ईरानी और सामी क़ौमों के मेल से बनी है। लेकिन सामी से ज़्यादह वे ईरानी हैं।"

कीथ अपनी पुस्तक 'अल-उबेद' में लिखता है–"अब भी पुराने सुमेरियों के से चेहरे पूरब की तरफ अफगानिस्तान, बलूचिस्तान और मेसोपोटामिया से 1500 मील दूर सिंधु नदी के आस-पास खोजने से पाए जा सकते हैं। मोहन-जो-दड़ो और सुमेर की सभ्यता इतनी मिलती हुई है कि देखकर अचरज होता है।"

कीथ की राय में इन दोनों सभ्यताओं की शुरू की जगह कहीं न कहीं फिरात और सिंधु नदियों के बीच में थी, जहां से ये दोनों फटकर अलग अलग हुईं।

ऋग्वेद में वरुण को समुद्र का और पश्चिम दिशा का देवता कहा गया है। आर्य कौम के समुद्र यात्रा करने वाले व्यापारियों का वरुण इष्ट देवता था। इंद्र किसानों का नेता था। वरुण और इंद्र में अपने अपने बड़प्पन के लिये झगड़ा हुआ। मत्स्य पुराण और अग्नि पुराण में लिखा है कि वरुण ने 'सुषा' नाम की नगरी बसाई। कुछ विद्वानों का ख्याल है कि यह सुषा ही इलाम का शहर 'सुसा' है जिसे आजकल 'शाशान' कहते हैं। पुराने इलामवालों का देवता 'वन्नीज' और वरुण एक मालूम होते हैं। हिंदू पुराणों में लिखा है कि वरुण की राजधानी 'पाताल' नगर में थी। सिंधु नदी के मुंह पर सुराष्ट्र में 5000 ई. पू. से लेकर यूनानियों के समय (300 ई.पू.) तक 'पाताल' एक बहुत बड़ा बंदरगाह था।

खेतसार (आधुनिक टर्की) में पांच हजार साल पुरानी एक आदमी की तसवीर एक चट्टान पर खुदी हुई मिली है, जिसके बारे में सर जार्ज वर्डवुड ने लिखा है–"उसके कपड़े पहनने का तरीका गुजरात के सवर्ण हिंदुओं के तरीके से मिलता हुआ है। उसकी बलदार पगड़ी, दुपट्टा और नोकदार हिंदुस्तानी तर्ज के जूतों से यही मालूम होता है कि वह किसी हिंदू की तसवीर है।"

'शतपथ ब्राह्मण' और सुमेर वालों की किताबों, दोनों में प्रलय का किस्सा आता है और दोनों कहानियां नामों को छोड़कर बिलकुल एक-सी हैं। मालूम होता है कि दोनों एक ही घटना को बयान करती हैं। सुसा तथा मुस्यान, इरीदु और उर नगरों

की खुदाई में सब जगह सुमेरी सभ्यता के निशानों के नीचे इलामी सभ्यता के निशान मिले हैं। और इन दोनों सभ्यताओं के निशानों के बीच में पानी की एक बहुत बड़ी बाढ़ की मिट्टी पायी गयी है। कुछ विद्वानों का ख्याल है कि इस बाढ़ के बाद इलामी पूरब में सिंधु नदी और पश्चिम में मेसोपोटामिया की तरफ गए। 'शतपथ ब्राह्मण' और सुमेरी ग्रंथ दोनों में इसी बाढ़ का ज़िक्र है।

भारत और सुमेर

ऐतिहासिक काल शुरू होने से भी पहले हिंदुस्तान का पश्चिम से संबंध जोड़ने वाले तीन तिजारती रास्ते थे। इनमें सबसे सीधा और सबसे पुराना रास्ता सिंधु नदी से होकर ईरान की खाड़ी और वहां से फिरात नदी के मुहाने से आगे बढ़कर फिलिस्तीन के रास्ते टर्की होता हुआ यूरोप की ओर जाता था। दूसरा उत्तर के पहाड़ी दर्रों से होकर बलख और बलख से कास्पियन झील और वहां से उत्तर की ओर यूरोप की तरफ जाता था। तीसरा रास्ता ईरान की खाड़ी, अरब सागर और लाल सागर होते हुए सुएज और सुएज से टायर, सिडान होता हुआ फोनीशिया और यूनान की तरफ निकल जाता था। अरब सागर से एक और रास्ता सोमालीलैंड होते हुए जिसे पुराने मिस्री 'पंत' के देश की ओर कहते थे, अफरीका के दूसरे देशों की ओर जाता था।[1]

इसमें सबमें पुराना रास्ता सिंधु और फिरात का रास्ता था। पुराने लेखों से साबित है कि बाबुल, खत्ती, मितन्नी आदि देशों के साथ आज से कम से कम चार हजार साल पहले हिंदुस्तान की तिजारत होती थी। कपास उन दिनों सिर्फ हिंदुस्तान में होती थी। बाबुली कपास को 'सिंधम' कहा करते थे। संस्कृत में कपास को 'करपास' और हिब्रू में 'करपस' कहते हैं। उर के पुराने मंदिरों में हिंदुस्तानी सागोन की धन्नियां पाई गई हैं। मिस्र में हिंदुस्तान से मसाले, चंदन, हाथी-दांत का सामान जाता था और वहां से मिस्री उसे यूरोप के देशों में पहुंचाते थे। हाथी दांत को संस्कृत में 'इव दंत', मिस्री में 'इबु', इतालियन में 'इबुर' और अंग्रेजी में 'आइवरी' कहते हैं, बन्दर को 'कपि', हिब्रू में 'कोफ', और मिस्री में 'काफु' कहते हैं। इसी तरह के और सैकड़ों शब्द हैं। इसमें शक नहीं कि हिंदुस्तान, सुमेर, मिस्र और खेतसार में उन दिनों खूब आना-जाना, लेना-देना, तिजारत और हर तरह का संबध था।

ज़मीन और पैदावार

सुमेर की भूमि अत्यंत उपजाऊ थी। स्ट्रेबो लिखता है कि जौ की पैदावार वहां तीन सौ गुना होती थी। उम्दा और अच्छे किस्म का खजूर बेहद होता था। खजूर खाने के काम आता था और उससे शराब, सिरका, शहद और मिठाइयां भी बनाई जाती थीं। प्लिनी लिखता है कि गेहूं वहां 150 गुना होता था। लाफतु लिखता है कि वहां की जमीन उतनी ही उपजाऊ थी जितनी नील के किनारे मिस्र की। तरह-तरह के साग-सब्ज़ियां और सेब, अंजीर, खुबानी, पिस्ता, अंगूर, बादाम और दूसरे मेवे बहुतायत से होते थे। तरह-तरह के सुंदर और खुशबूदार फूल होते थे। नदियां मछलियों से पटी पड़ी थीं। गाय, बैल, गधे, बकरी, भेड़, सूअर, ऊंट वगैरह जानवर पाले जाते थे। शेर का शिकार लोग बड़े चाव से करते थे। चीता, लकड़बघा आदि जंगली जानवरों से जंगल भरा हुआ था। 1330 ई.पू. तक वहां के जंगलों में हाथी भी पाये जाते थे।

ऐतिहासिक सुमेरी सभ्यता

सुमेर का संबध आस-पास के बहुत से देशों से था। सुमेरियों का अपना सबसे बड़ा धंधा खेती था। न वहां धातुए पाई जाती थीं और न पत्थर। उर की खुदाई से पता चलता है कि सुमेर में तरह-तरह का कच्चा माल दूसरे देशों से आता था और चतुर सुमेरी दस्तकार उनकी तरह तरह की चीजें बनाकर अन्य देशों को भेजते थे। बिटुमन आर्मीनिया से आता था, तांबा ओमन से, चांदी उत्तर साइलेशिया और दक्षिण इलाम के पहाड़ों से, सोना इलाम, कप्पाडोशिया, खाबूर और शाम से पत्थर, शाम और अरब से चूना, सेलखड़ी वगैरह वहीं ईरान की खाड़ी के पास से आता था। वैदुर्य, लाजवर्द पूरब के देशों से आता था। भारत का पश्चिमी घाट का नाम संस्कृत ग्रंथों में 'वैदुर्य स्थान' था। उर में हस्तलेख मिले हैं जिनसे पता चलता है कि सुमेरी जहाज भारतवर्ष आते थे और यहां से सोना और कई तरह के जवाहरात अपने देश ले जाते थे। उर की खुदाई से पूरी तरह साबित है कि उस पुराने ज़माने में सुमेर का हिंदुस्तान और मिस्र दोनों से बहुत बड़े पैमाने पर तिजारती संबंध था। दोनों देशों में सुशासन और अमन था। तिजारत के रास्ते पूरी तरह सुरक्षित थे। असूरिया में 2700 ई.पू. के सुमेरी मकान मिले हैं। शाम के उत्तरी हिस्से में 3000

ई.पू. की बनी हुई सुमेरी सील (मोहरें) पाई गई हैं। कास्पियन समुद्र के दक्षिण पूरब में अस्त्राबाद में सुमेरी कारीगरों की बहुत सी चीजें पाई गई हैं।

ज़ाहिर है कि उर के पहले राजकुल से पहले सुमेरी संस्कृति और सुमेरी सभ्यता ने अपनी जड़ें काफी मजबूत जमा ली थीं। सुमेर में जो कई तरह की धातुएं आती थीं उनसे सुंदर पदार्थ बनकर दूसरे देशों के बाजारों में जाकर बिकते थे। सिंध से कपास जाती थी जिससे सुमेरी कारीगर सुंदर कपड़े बुनते थे, जो चारों ओर बिकते थे। पूरे इराक पर सुमेर का राज्य था। सुमेर का राजा मेसान्निपद–"सुमेर (दक्षिण मेसोपोटामिया) और अक्कद (उत्तर मेसोपोटामिया) दोनों का राजा था। कारीगरी और तिजारत ने थोड़े ही दिनों में सुमेर को मालामाल कर दिया और वह दुनिया के सबसे उन्नत देशों में गिना जाने लगा।"

उर के पहले राजकुल से पहले का कोई सिलसिलेवार इतिहास नहीं मिलता। सिवाय इसके कि दज्ला और फिरात के किनारे किनारे बहुत से शहर आबाद हो चुके थे। हर शहर का एक खास मंदिर होता था। मंदिर में देश के और देवताओं के साथ उस शहर के खास देवता की भी मूर्ति होती थी। मंदिर का सबसे बड़ा पुजारी ही शहर का हाकिम या राजा होता था। उसे 'पटेसी' कहते थे। आहिस्ता आहिस्ता ये बहुत से अलग अलग नगर-राज मिलकर सारे देश में एक राज कायम हुआ। इस एक राज की सबसे पहली राजधानी 'किश' नगर में थी। फिर किश से हटकर एरेक नामक नगर में चली गई और एरेक के बाद उर का पहला ऐतिहासिक राज कुल शुरू हुआ। उर से पहले किश और एरेक में 25 राजा हो चुके थे। उर के राजधानी बनने का समय 3100 ई.पू. के लगभग माना जाता है। इस कुल के 5 राजाओं ने 177 बरस राज किया। इस कुल का संस्थापक मेस-अन-नि-पदद, (मेसान्निपद) समझा जाता है।

उर का अति प्राचीन कब्रिस्तान

उर में एक कब्रिस्तान मिला है जिसकी शुरू की कब्रें ईसा से कम से कम 3500 बरस पहले की हैं। इस कब्रिस्तान से सुमेर की सभ्यता, रीति-रिवाज और दस्तकारियों का काफी परिचय मिलता है। मामूली लोगों को दफन करने के लिये ज़मीन में पांच फुट लंबा चौड़ा गड्डा खोद दिया जाता था और उसी में चटाई से

लपेटकर मृतक को दफन कर दिया जाता था। अंडे की शक्ल के मिट्टी के बरतन मिले हैं जिनमें मुरदे को पैर सिकोड़ कर बंद कर देते थे और फिर दफन कर देते थे। मुरदे के हाथ में एक बर्तन होता था जिसे वह मुंह में लगाए रखता था और पानी के लिये पत्थर या मिट्टी का एक घड़ा भी उसके पास रख दिया जाता था। उसकी अपनी कुछ निजी चीजें, जिन्हें वह जिंदगी में इस्तेमाल करता था, उसकी कब्र में रख दी जाती थीं। बाज-बाज मुरदे धड़ से ऊपर जले हुए मिले हैं। इस तरह की अधजली लाशें और ज्यादा पुरानी होती हैं। प्रमुख नागरिकों की लाशों को भी जमीन में गड्ढा खोदकर दफनाया जाता था लेकिन उनके ऊपर ईट या पत्थर की इमारत होती थी। इन मकबरों में चारों ओर मेहराबें होती थीं। छत और दीवारों में मिट्टी का गारा इस्तेमाल होता था लेकिन दीवार के भीतर की तरफ उम्दा चूने का पलस्तर होता था। बाज-बाज मकबरों में फर्श पर भी चूने का पलस्तर पाया गया है। लिओनर्ड वूली लिखता है कि "कितने अचरज की बात है कि इतने पुराने ज़माने में भी सुमेरी लोग स्तूपों, मेहराबों, डाट, और गुम्बद जैसी उन सब इमारती कारीगरियों से पूरी तरह परिचित थे जिनका बनाना उसके हजारों साल बाद तक भी यूरोपवालों को न आता था।"

इन कब्रों में सोने और चांदी का बेहद सामान पाया जाता है। न सिर्फ पहनने के ज़ेवर बल्कि बरतन, हथियार और औजार कीमती धातुओं के बने हुए मिले हैं। रोजमर्रा के इस्तेमाल की चीजें तांबे की बनी हुई हैं। पत्थर की बहुत सी गगालें मिली हैं। सेलखड़ी को लोग ज्यादा पसंद करते थे लेकिन सोपस्टोन, लाइम स्टोन और दूसरे पत्थर भी काम में आते थे। तरह-तरह के कीमती पत्थर खासकर लाजवर्द, कारनेलिया और आक्सीडियन तश्तरियों, प्यालों और गहनों के बनाने में काम आते थे। इन सबसे पता चलता है कि सभ्यता ने उस ज़माने में खासी तरक्की कर ली थी।

मेस-कलम-दुग नाम के एक राजा की कब्र में राजा के सिर पर सोने का एक शिरस्त्राण है जो विग की शक्ल का है और जिसमें बारीक धारियां बनाकर सर के बाल दिखाए गए हैं। लाश के साथ दो मामूली प्याले और एक सीपी की शक्ल का सोने का दीपक है। इन तीनों पर राजा का नाम खुदा हुआ है। एक सोने के बेंट वाला खंजर, एक सोना जड़ी चांदी की पेटी और दो इलेक्ट्रम यानी सोने और

चांदी के मेल से बनी धातु के फरसे मृतक के पास पड़े हुए थे। राजा के शरीर पर जो गहने थे उनमें एक लाजवर्द और सोने के तिकोने दानों का बना हुआ बाजूबंद, कान के बाले, सोने-चांदी के कड़े, बैल की शक्ल का सोने का तावीज, बैठे हुए बछड़े की शक्ल का लाजवर्द का तावीज, दो चांदी के लैंप, और लाजवर्द से मढ़ा हुआ सोने का एक पिन मिला है। कफन के बाहर चांदी और तांबे के लगभग 50 कटोरे और प्याले, तरह-तरह के हथियार, सोने के मूठ की तलवारें, कांसे के भाले, फरसे, कुल्हाड़े और तीरों का एक दस्ता आदि कब्र में रखे मिले हैं।

एक दूसरे मजार में कब्र के नीचे उतरती हुई सीढ़ियों पर कतार की कतार कांसे के बफर पहने और भाले लिये पहरेदारों के हड्डियों के ढांचे मिले हैं। जिस कमरे में कफन है वहां दीवार के सहारे सरों पर खूबसूरत सुनहरे साज पहने हुए नौ स्त्रियों के पंजर मिले हैं। मकबरे के दरवाजे पर दो भारी-भारी चार-चार पहियों की गाड़ियां पाई गइ हैं जिनमें एक-एक में तीन-तीन बैल जुते हैं। गाड़ीवान की हड्डियों के पंजर गाड़ी में पड़े हैं और बैलवानों की हड्डियां बैलों के पंजरों के सामने पड़ी थीं।

एक दूसरे मकबरे में जो रानी शुब-अद्स (शुबत्स) का है, दो कतारों में महल की दासियों के पंजर मिले हैं। इन कतारों के आखीर में एक तार का एक बाजा, बजाने वाले का ढांचा उसके टूटे हुए बाजे के ऊपर पड़ा मिला है। जिस कमरे में रानी का कफन है वहां भी कफन को सहारा दिये दो हड्डियों के ढांचे मिले हैं।

इन दो कबरों से मालूम होता है कि सुमेर में कबरों के अंदर जिंदा दास-दासियों को दफन करने का रिवाज भी था। लेकिन ये कब्रें बहुत ज्यादा पुरानी हैं। इसके बाद की किसी कब्र में इस तरह हड्डियां नहीं मिलीं जिससे मालूम होता है कि उर के पहले राजकुल के समय में ही यह रिवाज बंद हो चुका था।

उर का पहला राजकुल

अल उबेद में एक मंदिर मिला है जो उर के पहले राजकुल के राजा मेसन्निपद के बेटे सन्निपद का बनवाया हुआ है। मंदिर पर बनाने वाले का नाम वगैरह खुदा हुआ है। यह मंदिर उस जमाने की कारीगरी और चित्रकला का एक बढ़िया नमूना है।

सोना, चांदी, इलेक्ट्रम, लोहे या तांबे की ढलाई में जरा भी दोष नहीं मिलता। हर चीज का अपना-अपना डिजाइन मार्के का है। यहां तक कि भाले, खंजर और फरसे भी कारीगरी और सुंदरता के नमूने दिखाई देते हैं।

रानी शुब-अद्स की कब्र में गाय का एक चांदी का सिर और दो शेरनियों के चांदी के सिर मिले हैं जिनकी खूबसूरती को देखकर आजकल के अच्छे से अच्छे कारीगरों का भी मन मुग्ध हो जाता है। बारीक से बारीक काम इस चतुराई से किया गया है कि ढूंढ़ने से भी कहीं कोई दोष दिखाई नहीं देता।

इस सब काम में रंगों का मेल, बारीकी, सूफियानीपन और हर चीज के तर्ज में नयापन सब कमाल के हैं। सुमेरी ऊंचे दरजे के कारीगर थे। वे हर चीज का पहले से नक्शा बनाने के काम में खूब होशियार थे। इसीलिए उनकी बनाई हुई चीजें दोष-रहित होती थीं। आज से लगभग साढ़े पांच या छै हजार साल पहले सुमेरी कला अपनी चरम सीमा को पहुंच चुकी थी। उसके बाद के जमाने में हमें उस दरजे की सुंदर चीजें नहीं मिलतीं जैसे उर के शुरू जमाने के कब्रिस्तान में। बूली लिखता है--"3500 ई.पू. में सुमेरी कला जिस दरजे तरक्की कर चुकी थी उस दरजे कोई दूसरी प्राचीन सभ्यता नहीं पहुंची।"

जिस काल का ऊपर जिक्र किया गया है उसमें और उर के पहले राजकुल में कम से कम 1500 बरस का अंतर रहा होगा। इस तरह सुमेरियों की सभ्यता का प्रारंभ कम से कम 5000 ई.पू. से मानना पड़ता है।

सुमेरी सभ्यता अपने ही देश तक सीमित न रही। वह आस-पास चारों ओर छा गई। सम्राट सरगन के समय कप्पाडोशिया में सुमेरियों ने 'गनेश' नाम का शहर आबाद किया। धीरे धीरे सुमेर का राजनैतिक असर भी फैलने लगा। सुमेर की ताकत एक मजबूत राजनैतिक ताकत थी। उसने अपने यहां की जनता को अलग अलग जमातों, श्रेणियों और वर्गों की एक भाषा, एक सभ्यता, एक संस्कृति और एक राज के बंधनों में बांधे रखा। आस-पास के देशों पर भी उसकी एकता की गहरी छाप पड़ी।

उर की खुदाई में 5500 साल पुराना एक राष्ट्र-ध्वज मिला है। यह झंडा सीप और लाजवर्द का बना हुआ है। इस पर ऊपर नीचे तीन पंक्तियां चित्रकारी की हैं।

नीचे की पंक्ति में रथ हैं जिनमें चार-चार गधे जुते हुए हैं। घोड़ा उस समय तक सुमेर में न था। हर रथ में एक रथवान और एक-एक योद्धा है। बीच में पैदल सिपाही हैं। ऊपर की पंक्ति में राजा लड़ाई के कैदियों का मुआयना कर रहा है। दूसरे उल्लेखों से मालूम हुआ है कि उस जमाने में तनखाहदार फौज न थी। सुमेर का हर नागरिक सैनिक था। लड़ाई के मौके पर हर नागरिक को हथियार लेकर आना पड़ता था। राजा इस फौज का नेता होता और हर लड़ाई में खुद सबसे आगे रहकर लड़ता था।

उर के पहले राजकुल ने 177 बरस राज किया। उसके बाद अवन के पटेसिया ने आस पास के इलाके पर कब्जा कर लिया। वे बहुत दिनों तक इस राज को संभाल न सके। एक दूसरे के बाद नौ और राजकुलों ने थोड़े थोड़े समय के लिये अपने अपने राज चलाए। इनमें से कोई भी देर तक न रहा। इसके बाद भयंकर खानाजंगियों और आपसी लड़ाइयों का समय आया। 2900 ई.पू. में लगाश के बलवान पटेसी उर-निना ने सारे सुमेर पर कब्जा कर लिया। इस कुल के दस राजाओं ने सुमेर पर राज किया। इनमें दसवां और आखरी राजा सन् 2630 ई. पू. के लगभग मरा।

अगादे का राजकुल

लगाश के राजकुल के बाद अगादे के एक मामूली गरीब आदमी ने महज अपनी योग्यता और बहादुरी से सुमेर की गद्दी पर कब्जा कर लिया। इसका नाम 'सरगन' था। सरगन पहले 'अगादे' शहर का 'पटेसी' बना। फिर फौज जमा करके उसने सुमेर के उत्तरी और दक्षिणी प्रांतों पर यानी सारे सुमेर पर कब्जा कर लिया। इसके बाद सुमेर की सरहद से निकल कर आस-पास के देशों को जीतना शुरू किया। यहां तक कि 2600 ई. पू. में उसका साम्राज्य पूरब में इलाम की पूरबी सरहद तक और उत्तर और पश्चिम में रोम सागर के किनारे तक फैला हुआ था। सारा शाम उसके साम्राज्य में शामिल था और कुछ लेखकों का कहना है कि रोम सागर में साइप्रस टापू भी उसके साम्राज्य में शामिल था। अरब का कुछ हिस्सा भी उसके अधीन था। इतिहास में पहली बार सुमेरी मालिक दिखाई देने लगे। सरगन अपने

समय में "सम्राट सरगन महान" कहलाता था। उसने बड़े बड़े महल और मंदिर बनवाए। उसके बनाए हुए एक चबूतरे की पक्की ईटें मिली हैं, जिनमें से एक-एक ईट बीस इंच लंबी, बीस इंच चौड़ी और करीब तीन इंच मोटी है। निप्पर में बेल देवता का और अगादे में अनुनिल देवी का मदिर दोनों सम्राट सरगन ने बनवाए थे। उसी समय का सरगन का एक उल्लेख मिला है जिसमें लिखा है–

"मैं अगादे का बलवान सम्राट सरगन हूं। मेरी मां बहुत ही गरीब थी। मैं नहीं जानता कि मेरा बाप कौन था। मेरा चाचा पहाड़ पर भेड़ें चराया करता था। फिरात नदी के किनारे अजुरपिरानी गाव में मैंने जन्म लिया। मेरी मा ने जो हद दर्जे की गरीब थी, चुपचाप मुझे पेदा किया और एक टोकरी में रखकर मुझे नदी में बहा दिया। भाग्य मेरे अनुकूल था। किसी गांव के एक दयावान आदमी ने मुझे नदी से निकाल कर बचा लिया।"

यह उस सम्राट सरगन का जन्म-चित्र उसी के शब्दों में है जिसका राज आज से साढ़े चार हजार साल पहले सारे फ्रांस के बराबर विशाल देश पर फैला हुआ था। 55 साल तक राज करने के बाद लगभग 2580 ई.पू. में सरगन की मृत्यु हुई। सरगन के बाद उसका बेटा नारमसेन गद्दी पर बैठा। नारमसेन भी काबिल और बहादुर था। उसने अपने बाप के साम्राज्य को कायम रखा। निप्पर में उसने शहर की एक चहार दीवारी बनवाई जो 18 फुट ऊंची और 45 फुट चौड़ी थी।

राजधानी उर से हटकर अगादे नगर आ गई थी। लेकिन सरगन और नारमसेन के समय में भी सुमेर का धार्मिक और तिजारती केंद्र उर ही बना रहा। उर में निन-गल के मंदिर में एक शिलालेख मिला है, उससे पता चलता है कि उस समय भी उर में सबसे बड़ा मंदिर चंद्रमा देवता का था। और यह रिवाज था कि राजा की सबसे बड़ी बेटी उर के रक्षक 'नन्नार' यानी चंद्रमा देवता की प्रधान पुजारिन बना दी जाती थी। यह रिवाज बाबुल के सम्राट नवनिदु (600 ई.पू.) के समय यानी ढाई हजार बरस तक रहा। उसी मंदिर से एक दूसरी सेलखड़ी की शिला मिली है जिसमें सरगन की लड़की एन-खेदु-अन्न की तस्वीर का खाका है जो अपने बाप सम्राट सरगन के फरमान से अन्नार के उसी मंदिर की प्रधान पुरोहित थी। बाद में सम्राट नारमसेन की पोती इसी मंदिर की प्रधान पुरोहित बनी।

नारमसेन ने भी अपने पिता की तरह 55 साल राज किया। नारमसेन के मरने के बाद सुमेरी जनता उसे भी देवता के रूप में पूजने लगी। नारमसेन के बाद इस कुल का आखरी सम्राट शारगलेश्वर हुआ। उसने 24 बरस राज किया। उसके बाद सन् 2470 ई.पू. में अगादे के इस महान राजकुल का खात्मा हो गया। इराक से बाहर सुमेरियों का साम्राज्य इसके बाद बराबर घटता बढ़ता रहा।

गुटिअम का राजकुल

अगादे के बाद 'शिरपुरला' सुमेर की राजधानी बना। वहां के राजा 'गुटिअम राजकुल' के नाम से मशहूर हैं। इस कुल ने 'सुमेर और अक्कद' के देश पर 155 बरस राज्य किया। इस राजकुल का सबसे प्रतापी सम्राट गुडीअ था। इसने देश में शांति और अमन-अमान क़ायम किया। देवताओं की पूजा के लिए विधि-विधान बने। लिखने-पढ़ने की विद्याओं ने तरक्की पाई। संस्कृति की दृष्टि से गुडीअ का ज़माना सरगन के जमाने से भी बढ़कर समझा जाता है। सरगन का जितना ज्यादा ध्यान मुल्क फतह करने पर था, गुडीअ का उतना ही ध्यान सब मुल्कों के साथ प्रेम और शांति से रहने और दस्तकारियों, तिजारत और विद्या को तरक्की देने पर था। सुमेरी इतिहास में सम्राट गुडीअ का एक बड़ा ऊंचा स्थान है।

देश में अमन होने से दूसरे देशों के साथ तिजारत ने फिर वैसी ही तरक्की की जैसी सरगन के समय में की थी। व्यापारियों को हर तरह की सुविधाएं दी गई। दस्तकारियों को जो तरक्की गुडीअ के समय मिली वह शायद फिर कभी नहीं मिली। सम्राट गुडीअ की 18 मूर्तियां खुदाई में मिली हैं। ये सब लगाश के मंदिर को समर्पण की गई थीं।

चाहे अक्कद के किसी राजकुल के हाथों में हुकूमत रही हो परंतु गुटिअम की सुमेरी सभ्यता की बढ़ोतरी रुकी नहीं। राजकुलों के बदलते रहने ने देश की संस्कृति पर कोई बुरा असर नहीं डाला।

2280 ई.पू. में गुटिअम राजकुल को हटाकर 'एरेक' नगर के एक राजा ने सात बरस सारे सुमेर पर राज किया।

उर का तीसरा राजकुल

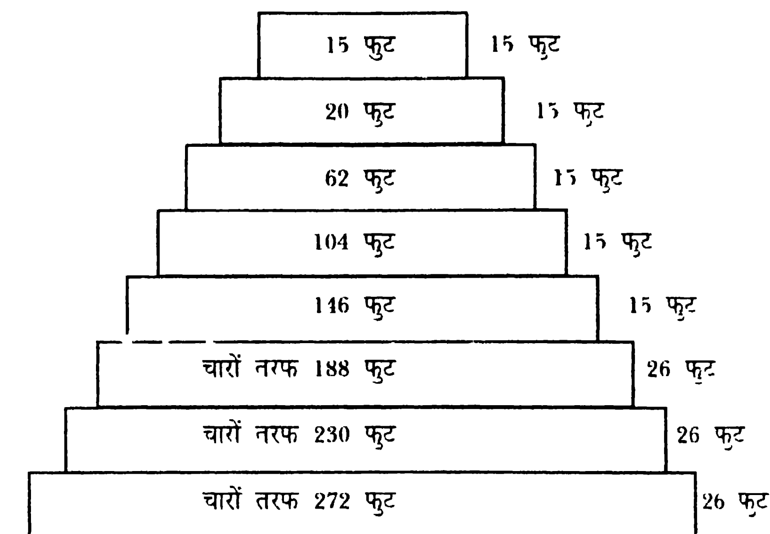
अंत में फिर उर नगर को राजधानी बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उर का यह तीसरा राजकुल कहलाता है। इस कुल में उर नाम्मु एक मशहूर राजा हुआ। शिलालेखों में उसे ''सुमेर ओर अक्कद का राजा'' कहा गया है। उर मे उसने चद्रमा देवता का एक बहुत बड़ा मदिर बनवाया। एरेक नगर में उसने निना देवी का एक मंदिर बनवाया। लारसा मे सूर्य देवता का एक मंदिर बनवाया। निप्पर में उसने एक बहुत बड़ा और ऊचा 'सिग्गुरात' बनवाया।

सिग्गुरात

'सिग्गुरात' सुमेरियों का एक खास तरह का मंदिर होता था। 'सिग्गुरात' का शाब्दिक अर्थ ''स्वर्ग का पर्वत'' है। आकार प्रकार में यह तमिल 'गोपुरम' या द्रविड 'विमान' से बहुत कुछ मिलता था। इसकी चार या सात मंजिलें होती थी। नीचे की मंजिल सबसे ज्यादा लवी ओर चौडी होती थी और ऊपर की हर मंजिल अपने नीचे की मंजिल से छोटी। इस नरह मिस्र की 'पिरेमि' की शक्ल की यह एक आसमान से बात करती हुई ऊचीं इमारत होती थी। हर मंजिल में कई-कई कमरे होने थे और सबसे ऊपर चोटी पर देवता का स्थान होता था। उरनाम्मु का बनाया हुआ सिग्गुरात सबसे नीचे करीब 196 फुट लंबा और 130 फुट चौड़ा था। यह अब तक ज्यों का त्यों क़ायम है।

सुमेरी धर्म-ग्रंथों में लिखा है कि वे शुरू में किसी पहाड़ी देश के रहने वाले थ। उनके देवता ऊंचे पहाडों पर वास करते थे। सुमेर में पहाड़ो का नाम निशान नहीं। शायद इसीलिये वे एक बनावटी पहाड़ बनाकर उस पर अपने देवताओं को बैठाते थे। हर सिग्गुरात के साथ एक भंडार घर होता था जिसे 'गोमुख' कहते थे। अंदर एक बड़ा कमरा होना था जिसे न्याय-भवन कहते थे। सिग्गुरात ही के अदर पुरोहितों और पुजारियों के रहने की जगह होती थी। जो लोग ऊपर न चढ़ सकते थे उनके लिये नीचे एक मंदिर होता था। इस मंदिर में सोने चांदी की मूर्तियां होती थीं। मंदिर के बाहर खुले आकाश के नीचे कई वेदियां होती थीं जिन पर पशुओं की बलि दी जाती थी। वेदी कोई सोने की होती थी और कोई पत्थर की।

सिग्गुरात के सात चबूतरे साल ग्रहों को समर्पित होते थे। हर ग्रह का अलग रंग था।



सबसे नीचे का चबूतरा शनि ग्रह का था इसलिये उसके पलस्तर के ऊपर काला रंग पोत दिया जाता था। दूसरा चबूतरा बृहस्पति का था इसलिये नारगी रग की पक्की ईटों का बना होता था। तीसरा मंगल का था जो चमकदार लाल मिट्टी की अधपकी ईटों से बनाया जाता था। चौथा सूर्य का था। इस चबूतरे के चारो तरफ खालिस सोने की पतली चादर मढ़ दी जाती थी। पांचवां शुक्र का था जिसे पीले रंग की ईटों से बनाया जाता था। छठा बुध का था जो गहरे नीले रग का होता था। सातवां चबूतरा चंद्रमा का था, उसके चारों तरफ सफेद चांदी की चादर जड़ी होती थी। इस तरह पूरा सिग्गुरात तरह तरह के रंगों के ऊपर चादी की चमकती हुई चादर से खत्म होकर आकाश को चूमता था। सातों चबूतरों के ऊपर का मंदिर बाहर भीतर सोने, चांदी और जवाहरात से भरा होता था। इस मंदिर के बाहर भी उसी तरह बलि के लिए वेदियां होती थीं, जिस तरह नीचे के मंदिर के बाहर।

सुमेरी स्वभाव से फुर्तीले और कार्यशील होते थे। उनके मंदिर केवल मंदिर ही न थे। वे एक तरह के विहार थे, जहां पूजा-पाठ के अलावा बच्चों को तालीम दी जाती थी और तरह तरह की कारीगरी, उद्योग धंधों और ढलाई वगैरह के कारखाने होते थे। सिग्गुरात इतने ऊचे होते थे कि उनके ऊपर से आकाश के ग्रहों और नक्षत्रों को खूब देखा जा सकता था, इसलिए ज्योतिष विद्या सीखने वालों के लिए सिग्गुरात आब्जरवेटरी यानी वेधशाला का काम देते थे। सुमेरी मंदिर विद्या के केंद्र थे।

सिग्गुरात ही के पास एक दूसरा मंदिर होता था जिसे 'गिगपरकु' कहते थे। यह देवता की पत्नी का मंदिर समझा जाता था। इसके चारों तरफ ऊंची चहारदीवारी होती थी जिससे यह मदिर किला सा लगता था। मंदिर के एक हिस्से में देवी के सोने का कमरा था। शयन कक्ष के पीछे भण्डार घर होता था जहां बड़े-बड़े तेल के मटके रखे हुए मिले हैं। भण्डार घर से लगा हुआ भोजन घर होता था। जाहिर है इन मंदिरों में वड़े-वड़े भोज होते थे। इस मंदिर का रकबा 400 X 200 गज होता था। 'सिग्गुरात' ओर 'गिगपरकु' का रकबा मिलाकर कभी कभी छः वर्ग मील होता था।

उरनाम्मु ने 18 साल राज किया। बाहर के कई देश उसे खि़राज देते थे। दूसरे देशों से तिजारत बढ़ रही थी। उरनाम्मु अपने इन्साफ के लिए मशहूर था। सुमेरी या गैरसुमेरी वह सबके साथ एक सा निष्पक्ष व्यवहार करता था। उसने कई नए मंदिर और महल बनवाए। आबपाशी और जहाजरानी दोनों के लिए उसने नहरें खुदवाई। एक चौड़ी नहर उसने समुद्र से उर तक खुदवाई ताकि बड़े से वड़े माल से भरे जहाज सीधे उर में आकर अपना माल उतार सकें।

उरनाम्मु के बाद उसका बेटा डुंगी पिता की गद्दी पर बैठा। डुंगी ने कई लड़ाइयां जीतीं और अपने राज की सरहदें बढ़ाईं। उसने सुसा (ईरान) में वहां के शुशिनाग देवता का एक आलीशान मंदिर बनवाया। वह दूसरे देशों के देवताओं का भी आदर करता था। सुमेर में भी उसने कई मंदिर बनवाए। डुंगी के समय देश में बड़ी खुशहाली थी। तिजारत खूब बढ़ी हुई थी। लोगों के रहन-सहन का तरीका पहले से खरचीला और शानदार होता जा रहा था। डुंगी ने देश के उस समय तक के तमाम कायदे-कानूनों और रिवाजों को एक जगह लिखवाकर एक जाब्ते ताजीरात

की शक्ल में तैयार करवाया और मुकदमों के लिए अधिकारियों और जजों का ठीक-ठीक इंतजाम किया।

शहर की जिंदगी

डुंगी के समय शहरों के रहने वालों का रहन-सहन खासे ऊंचे दर्जे का था। दो मंज़िल के पक्के मकान होते थे जिनकी बनावट मोहन-जो-दड़ो के नीचे दर्जे के मकानों मे मिलती है। घर का सदर दरवाजा आंगन में खुलता था। आंगन पक्की ईटों से पटा होता था। आंगन में पानी का एक घड़ा रखा रहता था। जो भी आदमी बाहर से मकान में आता था उसे पहले यहां पैर धोने पड़ते थे। पानी फेंकने की जगह से पकी हुई मिट्टी के गोल पाइप की बनी हुई एक नाली सहन के पटाव के नीचे से मकान के बाहर की बड़ी नाली में जाकर गिरती थी। मकान पक्की ईटों के बने होते थे। दीवारों पर गारा फिरा होता था और बाहर भीतर सफेद चूने की पुताई होती थी। गरमी के दिनों में गरमी बेहद पड़ती थी, इसलिये मकान के नीचे के तल्ले में खिड़कियां न होती थीं। हर मकान में नीचे का एक बड़ा कमरा जो गली मे खुलता था, मेहमानों के लिये होता था। रसोई, पक्का पाखाना, गुसलखाना और नौकरों के रहने की जगह नीचे के तल्ले में होती थी। अकसर मकानों में एक मंदिर और बलि के लिए वेदी भी होती थी। कमरों में लोग ज़मीन पर चटाई बिछाकर बैठते थे। भोजन करते समय सामने छोटी छोटी चौकियां होती थीं जिन पर रखकर खाना खाया जाता था। ज्यादा खुशहाल घरों में दरियां और कालीन और तांबे या चांदी से मढ़े हुए सोफे और आराम कुर्सियां होती थीं जिन पर कामदार गद्दे पड़े रहते थे।

नीचे के तल्ले में घर के छोटे से मंदिर या वेदी के ठीक नीचे परिवार का कब्रिस्तान होता था। फर्श के नीचे बंद डाटदार तहखाना होता था। परिवार में जब किसी की मौत होती थी तब यह तहखाना खोला जाता था। मुरदे को कपड़े पहनाकर चटाई में लपेटकर उसमें रख दिया जाता था। पानी का एक प्याला उसके होठों से लगाकर रख दिया जाता था और इसके बाद वह छोटा सा कब्रिस्तान फिर ईटों से चुन दिया जाता था। बच्चों की लाश को मिट्टी के घड़े में बंद करके रखा जाता था। रहने के मकान के नीचे ही मुरदे गाड़ना, वहां का आम रिवाज था। कभी-कभी उस मकान का दरवाजा ईटों से बंद करके घरवाले कहीं और रहने लगते थे। लेकिन

ज्यादातर लोग उसी मकान में रहते थे। हाल की खुदाई में किसी मकान में दस, किसी में बीस और किसी मे तीस लाशों के पंजर मिले हैं।

डुंगी के बाद उसका लड़का बर-सेन गद्दी पर बैठा। बर-सेन की भी बाद में देवता की तरह पूजा होने लगी। उर के इस तीसरे राजकुल ने 2278 ई.पू. से 2170 ई.पू. तक राज किया।

सुमेर को आबाद हुए दो हजार साल से ऊपर हो चुके थे। उर का नगर कम से कम डेढ़ हजार साल से वीच-वीच में सुमेर की गजधानी रह चुका था। दूसरे बड़े-बड़े शहरों में सुमेर के ओर उसके राजकुल के प्रतिस्पर्धी पैदा हो चुके थे। यह प्रतिस्पर्धा और आपसी द्वेष बढना गया। कोई बलवान राजा सबको काबू में कर लेता था। कमजोर राजा के दिनो मे फिर जगह जगह बगावतें होने लगती थीं। होते होते उर के तीसरे राजकुल के आखीर के दिनों में आइसिन, लारसा एरेक, सिप्पर, बावुल और किश कई शहगे के 'पटेसी' या सरदार अपने-अपने छोटे-छोटे खुद मुख्तार राज बनाकर बैठ गए। मुमेर की मिली हुई ताकत कमजोर हो गई।

सरहदी कौमों का हमला

इमी अग्से मे दजला के इस पार से आइसिन और इलाम के कुछ सरहदी सरदारों ने एक वड़ी फाज लेकर सुमेर पर हमला कर दिया। उर का पुगना शहर वग्बाद कर दिया गया, वहां के गजा को केद करके वे इलाम ले गए। ये लोग इराक और ईगन के वीच की सग्हद के रहने वाले थे। वे जो कुछ लेकर जा सके, ले गए, जो वचा उसे नष्ट कर गए।

निप्पर मे एक शिलालेख मिला है जिसमें उस घटना को इस तरह वयान किया गया है–

"उन्होंने देश को बरबाद कर दिया और मुल्क का शासन-प्रबंध नष्ट कर दिया।

"वे प्रलय की नरह आए और चारों ओर तवाही फैला गए।

"ऐ प्यारे सुमेर! तुम्हें उन्होंने क्या से क्या कर दिया? पवित्र राजकुल के वारिस को उन्होंने देश निकाला दे दिया। शहर को जमीन से मिला दिया और मंदिरों को गिरा दिया!"

इस शिलालेख से उर और सुमेर की उस समय की कमजोर हालत का पता चलता है। तमाम देश में अब एक तबाही सी छा गई। केंद्रीय सत्ता खत्म हो गई। देश छोटे-छोटे खुदमुख्तार और सदा आपस में लड़ने वाले राज्यों मे बट गया।

सुमु अबु नाम के एक साधारण से व्यक्ति ने धीरे-धीरे अपनी होशियारी और हिम्मत से बाबुल नगर में एक छोटी सी सेना जमा कर ली। 2010 ई.पू. में वह बाबुल का 'पटेसी' बन गया। धीरे-धीरे उसने अपनी ताकत को बढ़ाया। बाबुल की रियासत आइसिन की रियासत का मुकाबला करने लगी। सुमु अबु ने 11 साल राज किया। अंत में सन् 1940 ई.पू. मे इस कुल का छठवां राजा हाम्मुराबी गद्दी पर बैठा जो थोड़े ही दिनों के अदर दुनिया के बड़े से बड़े सम्राटो म गिना गया।

सुमेर का इतिहास और सभ्यता

सुमेर की सभ्यता के खत्म होने ओर बाबुल के उभरने मे पहले कुछ दिनो के लिए सरहदी इलाम वालो का उर पर कब्जा रहा। उन्होने उर को छोड़कर 'लारसा' नगर को अपनी राजधानी बनाया। लेकिन वहीं से बैठकर उन्होंने उर के शहर को फिर से आबाद किया, वहां की तिजारत को तरक्की दी और सबसे बड़ी बात यह कि विद्वानों और लेखकों को नियुक्त करके और खोज करके सुमेरी सभ्यता का दो हजार बरस का पूरा इतिहास तैयार कराया। उसी इतिहास के रहे सहे पन्नों मे हमें आज सुमेरी सभ्यता की झलक मिल सकती है। इन लेखकों ने सारे सुमेरी साहित्य को फिर से ताजा किया। धार्मिक ग्रथों की शोध करके उन पर भाष्य लिखे। पौराणिक कथाओ का संग्रह किया। लारसा में इलामी राजाओ के इस महान काम ने सुमेरी धर्म को भी हम सबके लिये सुलभ बना दिया। बाद में राज बदले, धर्म बदले, जबाने बदलीं, वेश भूषा बदली, लेकिन पूरे डेढ़ हजार साल तक सुमेरी धर्म, सुमेरी सस्कृति और सुमेरी रहन सहन बाबुल और असुरिया की सभ्यताओं का आधार बना रहा। उसी पर उन्होंने अपनी सभ्यताओं के महल खड़े किये।

हाम्मुराबी के शुरू के जमाने में इराक भर में सबसे ज्यादा बलवान लारसा का इलामी राजा रिमसेन था। कहते हैं सुमेर की प्रजा उससे बहुत खुश थी। हाम्मुराबी ने तख्त पर बैठने के छः साल बाद रिमसेन से एक एक नगर छीनना शुरू किया। पूरे 25 साल की छोटी-मोटी लड़ाइयों के बाद हाम्मुराबी ने लारसा पर हमला किया

और उसे जीत कर शहर पर बाबुल का झण्डा फहरा दिया। लारसा की विजय के बाद हाम्मुराबी 'सुमेर और अक्कद' यानी पूरे इराक का एकछत्र सम्राट बन गया। सुमेरी क़ौम की राजनैतिक ताकत अब सदा के लिये खत्म हो गई।

कहा जाता है कि हाम्मुराबी सुमेरी नहीं था। वह किसी दूसरी कौम से था। लेकिन हाम्मुराबी ने थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ सुमेरी धर्म और सुमेरी कानूनों को अपनाया। केवल पुराने देवताओं के कोई कोई नाम अब बदल गए। बोलचाल की भाषा भी समय के साथ कुछ बदली, लेकिन पुराने सुमेरी साहित्य का नई बोलचाल की भाषा में तर्जुमा हो गया। लिपि ज्यों की त्यों रही। सुमेरी दस्तकारियों का असर ज्यों का त्यों रहा। यहां तक कि 1200 साल यानी आठवीं सदी ई.पू. की असुरिया की इमारतों पर भी उर के तीसरे राजकुल का असर साफ दिखाई देता है। बाबुल और असुरिया की सभ्यनाओ की बुनियाद में सुमेर की ही सभ्यता थी।

सुमेर की देन

सुमेरियों ने इराक मे एक ऐसी सभ्यता को जन्म दिया था जो अपने जन्म देने वालों के खत्म हो जाने के बाद भी पूरे 1500 बरस तक फलनी फूलती रही। बाबुल और निनेवेह (असुरिया की राजधानी) दोनों ने बड़े बड़े साम्राज्य कॉयम किये। मिस्र जैसे दुनिया के बड़े बड़े देशो ने उनके चरणों पर सर झुका दिये। लेकिन अपने साम्राज्यों के जरिये भी इन्होने दूर दूर के मुल्कों में सुमेरी सभ्यता ही को फैलाया। खेतसार के खत्तियों ने सुमेरियों की कोणदार लिखावट को अपनाया। बाबुली भाषा अपने समय में सुरिया (सीरिया), मिस्र और दूसरे देशों के आपसी संबंध की राजनैतिक भाषा बन गई। सुरिया और कप्पाडोमिया ने सुमेरी सील-मोहरों की नकल की। कारकेन्शि की दस्तकारियों पर सुमेरी असर था। फोनीशया में सोने-चांदी और दूसरी धातुओं के कई तरह के मेल सुमेर से ही गए।

इमारतों में मेहराब बनाना यूरोप में सिकंदर से पहले कोई नहीं जानता था, यूरोप में सबसे पहले यूनानियों ने और बाद में रोमियों ने मेहराब बनाना सीखा। मेसोपोटामिया में मेहराब एक आम चीज थी। 600 ई.पू. के बाबुली सम्राट नेबुचेदनेश्वर की इमारतों में मेहराब का इस्तेमाल किया गया है। नेबुचेदनेश्वर से पहले 1400 ई.पू. में बाबुल के एक दूसरे सम्राट कुरिगात्सु के बनाए हुए एक मंदिर में भी मेहराब

मिली हैं। 2000 ई.पू. के उर के मकानों में मेहराब का इस्तेमाल मिलना है। निप्पर में 3000 ई.पू. की पक्की नालियां मिली हैं जो मेहराव देकर बनाई गई हैं। इससे भी पहले उर के शाही कब्रिस्तान मे ईसा से 3500 साल पहले की जा इमारतें खोदकर निकाली गई हैं उनमें भी मेहराव इस्तेमाल हुई हैं। इस तरह आजकल की इमारतों की सबसे बड़ी देन मेहराब कम से कम 5500 साल पहले सुमेर ने दुनिया के लिए बिरसे में छोड़ी थी। गुम्बद और इंटों का इस्तेमाल भी सुमेर मे कम से कम 5500 साल पुराना है।

किंतु सुमेर की इस ईट-पत्थर की देन से बढ़कर दुनिया को उसके विचारो की देन है।

यूरोप की सभ्यता साफ सुमेरी विचारों की नींव पर ही कायम हुई है। बाईबिल को पढ़ने से मालूम होता है कि पहले यहूदियों ने और उसके बाद उनके जरिये सारे यूरोप ने इधर से उधर तक सुमेरी विचारों और विश्वासों को अपना लिया। दुनिया की पैदाइश और प्रलय के किस्से वाइबिल में ज्यों के त्यों सुमेरी कहानियो मे ले लिए गए। सुमेरी सभ्यता का मशहूर विद्वान बूली लिखता है कि—"हजरत ईसा की दस आज्ञाओ की बुनियाद में सुमेरी आज्ञाएं ही हैं। दसों आज्ञाएं ज्यो की त्यो सुमेरी ग्रंथों मे ली गई हैं। सुमेरियों से ही यहूदियों ने समाज की व्यवस्था या नियम और कानून बनाना सीखा और यहूदियों से आजकल की सारी ईसाई दुनिया, अमली तौर पर नहीं तो कम से कम उसूल के तौर पर उसी को अपना आदर्श मानती है।"

आगे चलकर बूली लिखता है--"वह जमाना बीत चुका जब समझा जाता था कि यूनान ने दुनिया को ज्ञान सिखाया। इतिहास की खोजों ने हमें बताया कि किस तरह यूनान के जिज्ञासु हृदय ने लिबिया से, खत्तियों से, फोनेशिया स, क्रेट से, बाबुल से, मिस्र से, भारत से ज्ञान की प्यास को बुझाया। लेकिन उस ज्ञान की जड़ें कहीं अधिक गहरी जाती हैं और इन सब सभ्यताओं के पीछे हमें सुमेर का छिपा हुआ हाथ नजर आता है।"

एक और इतिहासकार बेरोसुए, जो तीसरी या चौथी सदी ई.पू. में हुआ था, लिखता है—"हजारों साल हुए ईरान की खाड़ी से एक अजीब प्राणियों का गिरोह निकला जिनके सिर आदमियों के से और धड़ मछलियों के से थे। वे सुमेर के नगरों में आकर बस गए। उन्होंने खेती करना, धातु का इस्तेमाल और लिखने की कला

ईजाद की। एक शब्द में मानव जाति की तरक्की की सारी बातें इस गिरोह के नेता ओन्नि से ही दुनिया ने सीखीं। और उस समय के बाद से फिर दुनिया में कोई नई ईजाद नहीं हुई।"

सृष्टि की रचना

सुमेरी बहुत स देवी-देवताओं को पूजते थे जिनमें चन्द्र और सूर्य भी थे। चन्द्रमा उनका इष्ट देवता था। चांद को वे सूरज से बड़ा मानते थे लेकिन इन सब देवी-देवताओं से ऊपर और इन सबका बनाने वाला वह एक परमेश्वर को मानते थे जिसे वे 'इल्ल' कहते थे। यहूदी ईश्वर को 'इल्लोई' कहते थे। बाइबिल में 'इल्लोहिम' आता है, अरबी में 'इल्लाम' या 'अल्लाह' और यूनानी मे 'इलु' और संस्कृत में 'इला'।

ऋग्वेद में 'इला' की उपासना में एक पूरा सूक्त दिया हुआ है।

सुमेर में 'इल' का कोई मंदिर न था। उसे निराकार ही माना जाता था। सुमेरी ग्रंथों में यह भी कहा गया है कि 'इल्ल' की कोई व्याख्या नहीं हो सकती। ठीक जिस तरह उपनिषदों में ब्रह्म को अनिवर्चनीय कहा गया है।

सुमेरी ग्रंथां मे लिखा है कि सृष्टि के शुरू में केवल 'इल्ल' था और सब शून्य था। इस शून्य मे से मीठे पानी का एक चश्मा 'अप्सु' (संस्कृत अपस्=जल) पुरुष रूप में प्रकट हुआ और चारों तरफ फैल गया। अप्सु के बाद प्रकृति ने 'तियामत' यानी खारे समुद्र के रूप मे प्रकट होकर अप्सु के साथ मिलकर सृष्टि की रचना की। इस तरह मीठे और खारे पानी के मेल मे पृथ्वी की और सारी सृष्टि की रचना हुई।

सुमेरी ग्रंथों में इस तरह 'अप्सु' को सबका पिता और 'तियामत' को सबकी माता कहा गया है। इन्हीं से और सब देवी-देवता पैदा हुए।

'अप्सु' और 'तियामत' से पहले 'लहमु' और 'लहामु' पैदा हुए, फिर 'अनशार' और 'किशार' हुए। फिर तीन देवता हुए जिनसे सुमेरी देवताओं की पहली त्रिमूर्ति बनी। 'अनु', 'एनलिल' और 'इया'। इन तीनों ने सारी सृष्टि का राज आपस में बांट लिया। अनु को स्वर्ग का राज मिला, एनलिल को इस लोक और इया वरुण की तरह, सब सागरों और समुद्रों का राजा हुआ। यह त्रिमूर्ति आकाश में रहती है।

सुमेरियों की दूसरी त्रिमूर्ति में 'सिन' (चांद), 'सन' (सूरज), और 'वुन' (वायु) शामिल थे। इन दोनों त्रिमूर्तियों के बाद पांच ग्रहों की पूजा होती थी। 'बार' (शनि) जो दुश्मन का नाश करने वाला और योद्धाओं का देवना था, 'बार' (मछली) के रूप में पूजा जाता था। 'बेल' बुध को कहते थे जो न्याय का देवना था। 'नरगल' (मंगल) आखेट, युद्ध और आंधी का देवता था। शुक्र की कई नामों मे और देवी और देवता दोनों रूप में पूजा होती थी। सारे देश में इसका बड़ा सम्मान था। देवी रूप में यह 'इश्तर' या 'नाना' कहलाता था। 'इश्तर' स्वर्ग के गजा 'अनु' की बेटी मानी जानी थी। इश्तर के हाथ में तलवार रहती थी और 'दुर्गा' की तरह उसकी सवारी शेर की थी। इश्तर फोनीशिया में 'अस्तातें', बाबुल में 'नाना', मंडइन मे 'अशतर' के नाम से पुजती थी। संस्कृत में इश्तर का अर्थ 'तारा' है। जिस तरह 'शक्ति', 'चडी', 'अन्नपूर्णा' आदि एक ही देवी के अलग अलग रूप हैं उसी तरह इश्तर भी कई रूप में पुजती थी। बाबुल, असुर, निनेवे और अरवेला में इसके मंदिर थे। आखरी ग्रह 'नेबो' (बृहस्पति) ज्ञान और विज्ञान का देवता था। इन पांच ग्रहो के अलावा ओर भी बेशुमार छोटे बड़े देवता थे। क़रीव-क़रीब हर देवता की एक पत्नी होती थी जो छाया की तरह अपने पति के साथ रहती थी और उसी के गुणों का अक्स होती थी।

सुमेरी मानते थे कि देवता भी इनसान की तरह वासनाएं रखते हैं। लेकिन उनका रुतबा आदमी से ऊचा है। वे अमर हैं और आदमी के ऊपर दया रखते हैं।

देवताओं और आदमियों के अलावा सृष्टि में दानव भी रहते हैं। इनकी शक्ति देवताओं से कम लेकिन आदमी से ज्यादा है। इनकी किसी तरह की पूजा न की जाती थी। समझा यह जाता था कि यही दानव आदमी को पाप के पथ की तरफ ले जाते हैं।

सुमेरी त्रिमूर्ति में सूर्य से चन्द्रमा का रुतबा कहीं अधिक था। सूर्य चन्द्रमा का बेटा समझा जाता था। अनु की पत्नी का नाम 'अनुता' था। बुल और मर्तु (मृत्यु) अनु के बेटे थे। सुमेरी अनुता और मिस्री अमेन्ते एक ही देवी के नाम मालूम होते हैं। 'एनु' या 'एनलिल' की पत्नी का एक नाम 'अन्नाता' (अन्नदाया=अन्नपूर्णा) था। वह पृथ्वी को अन्न से भरती थी। 'इया' या 'हिया', जिसके गुण विष्णु से मिलते

हैं, उस की पत्नी का नाम 'देव-किना' (देव कन्या) या 'देवकी' था। इया का एक बेटा था जिसका नाम 'मारदूक' था। 'सिन' यानी चन्द्रमा एनलिल का सबसे बड़ा बेटा था। उसकी पत्नी महादेवी कहलाती थी। 'सिन' महीनों का राजा था। सूर्य दिवस्पति था और उसकी पत्नी के तीन नाम 'ऐ', 'गुल' और 'अनुनीत' थे। 'ऐ' का अर्थ सुबह, गुल का दोपहर और अनुतीत का अर्थ है सूर्यास्त। दोपहर की देवी 'गुल' जीवन देनेवाली है। वही जनन के काम को देखती है। 'बुल' या 'इवा' (अरबी-हवा) वायु देवता का नाम था। बिजली और आंधी उसके इशारे पर नाचती थीं। वह नहरो और नदियों को जल से भरता था। 'सिर बनित' मारदूक की पत्नी थी और असुरियावालों से समरिया के यहूदियों ने उसकी पूजा सीखी। यही 'सिर बनित' बाइबिल की 'सक्कथ बेनथ' है। 'नरगल' (मंगल) की पत्नी का नाम 'लाज' था। 'नेवो' (बृहस्पति) की पत्नी का नाम 'वर्मित' या 'उर्मित्र' था।

सैंकड़ों किस्से सुमेरी धर्म ग्रंथों में मौजूद हैं जो हिंदू पोराणिक किस्सो से ज्यूं के त्यूं मिलते हैं। बाइबिल में 'जीनोसिस' के अध्याय में सृष्टि की रचना का जो बयान दिया हुआ है वह शब्दशः एक सुमेरी किस्से से मिलता है और उसी से लिया गया है।

प्रलय

सुमेरी पोराणिक कहानियों में एक मनोरंजक कहानी प्रलय की है। यूनानी पुराणों और यहूदी बाइबिल (हजरत नूह के तूफान का किस्सा) ने इसी सुमेरी कथा को ज्यों का त्यों ले लिया है। केवल नाम बदल दिए गए हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' के और सुमेरी प्रलय के बयान में भी बहुत बड़ी समानता है। सुमेरी किस्सा इस तरह है–

ईश्वर ने जिसुथ्रु को सपने में आगाह किया कि 'दायसु' महीने के पन्द्रहवें दिन एक बढ़ी भयंकर बाढ़ आयेगी जिससे सब लोग नष्ट हो जायेंगे। ईश्वर ने उसे आज्ञा दी कि तुम फौरन सूर्य के नगर सिप्पर में जाकर सब विद्याओं की लिखी हुई किताबें वहां गाड़ आओ और वहां से लौटकर तुम एक नाव बनाओ। उसमें अपने परिवार वालों और कुछ और लोगों को बैठाओ। नाव में हर तरह का खाने-पीने का सामान रख लो। जमीन के सब चौपायों और पक्षियों का एक एक जोड़ा भी नाव में रख लो। जब सब तैयारी हो जाये तो सिप्पर की ओर रवाना हो जाओ।

उसने पांच फरलांग लम्बी और दो फरलांग चौड़ी एक नाव वनाकर उसमें सबको बैठा लिया और चल दिया। ठीक दिन बाढ़ आई। जव बाढ़ घटी तो जिसुथ्रु ने पक्षियों के एक जोड़े को उड़ाया। थोड़ी देर में वह जोड़ा लौट आया। कुछ दिनों बाद फिर उड़ाया। अब की बार जव वह जोड़ा लौटा तो उसके पंजों में कीचड़ लगा हुआ था। थोड़े दिनों बाद फिर एक जोड़े को उड़ाया। अब की बार वे पक्षी नहीं लौटे। जिसुथ्रु को यकीन हो गया कि अव सूखी जमीन निकल आई है। बीवी-बच्चों के साथ वह नाव से उतरा और उसने परमात्मा की पूजा की। पूजा करने के वाद वह लोप हो गया। नाव के लोगों ने घबराकर पुकारा तो गैब से जवाब आया—"मुझे देवनाओं के बीच में रहने की जगह मिल गई है। तुम लोग बाबुल जाओ। सिप्पर से गड़े हुए पुराने ग्रंथ निकालो और उनका प्रचार करो। परमात्मा की प्रार्थना करो। इस समय तुम लोग आरमीनिया में हो।" वे लोग लौटकर बाबुल गए। वहां उन्होंने कई शहर आवाद किए; रि। ⌐ से गड़े हुए ग्रंथ निकाले, यज्ञ किया और परमात्मा को धन्यवाद दिया। उस बाढ़ से देवना भी इतने डर गए थे कि 'अनु' के पास स्वर्ग में भागकर अबु के किले की दीवार के ऊपर कुत्तों की तरह चिपटकर लेट गए। जिसुथ्रु के बेटे ने जब यज्ञ किया और यज्ञ की सुगंध उनकी नाकों में पहुंची तब उनका डर छूटा और वे मक्खियों की तरह यज्ञ की वेदी के चारों ओर भिनभिनाने लगे। यज्ञ में जब देवताओं का भाग निकाला जाने लगा तो देवी इश्तर ने एतराज़ किया कि एनलिल को यज्ञ का भाग न देना चाहिए क्योंकि इसी ने बाढ़ करके मेरी औलाद का नाश किया है। इया ने भी एनलिल को उलाहना देते हुए कहा—"तुम तो इतने बुद्धिमान हो! तुमने क्या प्रलय के नतीजे को नहीं सोचा था?" इया ने इस प्रलय से जगत के सर्वनाश को बचाया। एनलिल मृत्युलोक का देवता था इसलिये उसने अपने यज्ञ के भाग को वसूल लिया।

कुर्दिस्तान के गोर्डियन पहाड़ को लोग जिसुथ्रु की नाव का एक हिस्सा बताते हैं। अब तक लोग वहां से मिट्टी लाकर, ताबीज में भरकर उसे बच्चों को पहनाते हैं।

यह क़िस्सा, हजरत नूह के तूफान का किस्सा जिसे यहूदी, ईसाई और मुसलमान सब मानते हैं और हिंदू किस्सा तीनों में गज़ब की समानता है। इनमें सुमेरी सब से पुराना है।

कुछ धार्मिक विश्वास

सुमेरी आत्मा या रुह को "एदिग्मु" कहते थे। मरने के बाद यानी शरीर से अलग होने के बाद उसे 'उतेक्के' कहा जाता था। वे मानते थे कि मनुष्य देह आत्मा को केवल एक ही बार मिलती है। वे ईश्वर और देवताओं से बहुत दिन तक जीने की प्रार्थना करते थे। मौत के बाद मनुष्य को कुछ दिनों तक अंधेरे में रहना पड़ता है जहां खाने को केवल मिट्टी मिलती है। अगर मरने वाले की बाज़ाब्ता अन्त्येष्टि क्रिया हुई है तो उस देश यानी परलोक में उसे शांति मिलती है, नहीं तो उसकी आत्मा अतृप्त मंडराती रहती है। जब तक श्राद्ध कर्म नहीं हो जाता, आत्मा तड़पती रहती है। जिसकी लाश मैदान में खुली पड़ी है, उसकी आत्मा को कोई शांति नहीं। इसलिए इराक में उस युग की सबसे बड़ी गाली और सबसे बड़ी सज़ा थी–"इसकी लाश को कोई क़ब्र न मिले।"

स्वर्ग केवल देवताओं के रहने के लिये है। मनुष्य में से कोई कोई बिरले ही वहां पहुंचते हैं और आइन्दा बिरले ही पहुंचेंगे।

सुमेरियों का सिद्धांत था कि पाप की सजा मनुष्य को इसी जन्म में मिल जाती है। ईश्वर और देवनाओं की सेवा के लिये मनुष्य पैदा हुआ है। स्वर्ग के दूत 'सबितू' ने 'गिलगमेश' से कहा था "जब देवताओं ने मानव समाज की रचना की तो मौत मनुष्य को देकर अमरत्व अपने लिये सुरक्षित रखा।"

"हर मनुष्य को किसी न किसी देवता की पूजा करनी ही चाहिये। जिसका कोई देवता नहीं सरदर्द उसके माथे को इस तरह ढक लेता है जिस तरह कपड़े देह को।"

सुमेरी आठ पाप मानते थे–

(1) ईश्वर और देवताओं की पूजा में अश्रद्धा रखना,
(2) आपस में फूट फैलाना,
(3) झूठ बोलना,
(4) झगड़ा करना,
(5) व्यापार में बेईमानी करना,
(6) पड़ोसी का माल हड़प जाना,
(7) पड़ोसी के साथ बुरा सलूक करना, और
(8) व्यभिचार करना।

पाप के प्रायश्चित में अपने को सुधारने की कोशिश करने के साथ-साथ देवता की पूजा करना ज़रूरी था। देवता को खुश करने के लिये शहद, शराब, दूध, जौ, गेहूं, माखन, रोटी और तरह तरह के फूलों का देवता को भोग लगता था और किसी जानवर की बलि भी दी जाती थी। पुजारी भक्त की ओर से कहता था--

"हे देव, इसके अपराध क्षमा करो। इसने अपने बदले एक भेड़ चढ़ाई है! अपने प्राणों के बदले इसने भेड़ के प्राण चढ़ाए हैं! अपने सर के बदले इसने भेड़ का सर दिया है! दया करके इसके अपराध क्षमा करो।"

धर्म ग्रंथों का आदेश था--

"प्रतिदिन ईश्वर के चरणों में सर नवाओ!
बलिदान से प्रार्थना करो और हवन करो।
अपने देवता के सामने पवित्र हृदय लेकर जाओ!
इससे देवता प्रसन्न होते हैं।
स्मरण, प्रार्थना और दण्डवत करो!
तुम हर रोज सुबह यह करोगे तो प्रभु तुम्हें धन देंगे!
अपने लाभ पर अपने प्रभु को धन्यवाद देना!
इस बात पर खूब गौर करना--
ईश्वर का भय शुभाकांक्षा पैदा करता है!
बलिदान जीवन बढ़ाता है।
प्रार्थना पाप से बचाती है।"

सुमेरियों का विश्वास था कि मनुष्य किसी न किसी पाप के कारण ही बीमार पड़ता है। बीमार आदमी के शरीर के इलाज के साथ-साथ उसे पाप से मुक्त करने के लिये सूअर की कुरबानी दी जाती थी।

सम्राट गुडीअ के समय लगाश के मंदिर में मछली, बैल, बछड़े, भेड, मेमने, पक्षी और खास-खास त्यौहारों पर घोड़े की भी बलि दी जाती थी। सम्राट डुंगी ने सब सूबेदारों को चेतावनी दे दी थी कि देवताओं के मंदिर में जो हर महीने बलि दी जाती हैं उसमें किसी तरह की भूल न होने पाए।

शिक्षा

पूजा-पाठ के साथ-साथ सुमेर के मंदिर विद्या के घर थे। हर मंदिर में सैकड़ों लड़के-लड़कियों को शिक्षा दी जाती थी। सबसे ज्यादा जोर लिखने और पढ़ने पर दिया जाता था। उनकी लिपि क्यूनिफार्म थी यानी उनके अक्षर खास तरह के कोणदार होते थे। सुमेर तिजारत का केंद्र था। देश के कानून के अनुसार, यह ज़रूरी था कि हर बड़ा लेन-देन रहन-बैनामा और शादी-ब्याह जैसी चीज़ें लिखा-पढ़ी करके की जायें, इसलिये लिखे-पढ़े लोगो की बहुत ज़रूरत पड़ती थी। लिखना पढ़ना सीखने के बाद विद्यार्थी को व्याकरण और कोष पढ़ाया जाता था। उनके व्याकरण के नियमों की तख्तियां मिली हैं जिनमें क्रिया और संज्ञा के इस्तेमाल के अलग अलग क़ायदे हैं। इसके वाद गणित की शिक्षा होती थी। अंकगणित, बीजगणित और ज्यामिति की अनेक किताबें खुदाई में मिली हैं, उस समय के नाप और तोल के बाटों का भी नक्शा मिला है। सुमेरी शब्दों का कोश भी पाया गया है। हर विद्यार्थी को इसे याद करना पड़ना था।

शिक्षा खत्म करने के बाद बहुत से शिक्षार्थी सरकारी काम में लग जाते थे। बहुत से व्यापारियों के यहां काम करने लगते थे और कुछ मंदिर ही में रहकर आगे ऐतिहासिक और वेज्ञानिक खोज करते थे। कुछ डाक्टरी सीखते थे और कुछ अलग अलग दस्तकारियों में होशियार होने की कोशिश करते थे। सुमेर की खुदाई में ज़मीन का एक नक्शा मिला है जिसे 2700 ई.पू. में अगादे के एक राजा ने तैयार करवाया था। इस नक्शे में जमीन गोल दिखाई गई है। उसके चारों तरफ सात बड़े-वड़े समुद्र दिखाए गए हैं। बीच में कई वड़े-वड़े द्वीप हैं।

नक्शे में इस बात का भी ज़िक्र है कि सागर के उस पार ठेठ उत्तर में एक ऐसा देश है जहां सूरज के निकलने-डूबने का कोई असर नहीं पड़ता। वहां सदा रात रहती है। उसके नीचे वह देश हैं जिनमें कई महीने दिन और कई महीने रात रहती है। इस बयान से साफ ज़ाहिर है कि सुमेरियों को ध्रुव और उसके पास के देशों का पता था।

सुमेर में वैद्य और डाक्टरों का काम बड़ी ज़िम्मेवारी का काम समझा जाता था। दवाओं और चीर-फाड़, दोनों से काम लिया जाता था। सर्जन अपनी ज़िंदगी

को खतरे में डालकर चीर-फाड़ का काम करता था। क्योंकि देश का कानून था--"अगर डाक्टर आंख का आपरेशन करे और उसकी बेपरवाही से रोगी की आंख जाती रहे तो डाक्टर की आंख निकाल ली जायेगी। और अगर वह किसी जख्म का आपरेशन करे और आपरेशन से रोगी की मौत हो जाय तो इस तरह के अनाड़ी डाक्टर का दाहिना हाथ काट लिया जायेगा।"

देवदासी

दक्षिण भारत के हिंदू मंदिरों की तरह सुमेर में भी देवदासियों का रिवाज था। देवताओं का स्त्रियों के साथ विवाह किया जाता था। कानून ने इन स्त्रियों को समाज में आदर का रुतबा दे रखा था। जब कोई मनुष्य अपनी लड़की को देवदासियों में दाखिल करना चाहता था तो लड़की का पिता देवता को दहेज देता था। देवदासियों में कई दरजे थे।

सबसे ऊपर देवता की पटरानी थी जो 'एन्तु' कहलाती थी। वह देवता की धर्म-पत्नी समझी जाती थी। आमतौर पर वह राजा या किसी सरदार की लड़की होती थी। देवदासियों में उसका सबसे ऊंचा स्थान था। उसको जीवन भर अपना चरित्र निर्दोष और बेदाग रखना पड़ता था। उर के मंदिर की 'एन्तु' सदा सम्राट की लड़की होती थी। एन्तु के चरित्र पर इतना ध्यान रखा जाता था कि अगर वह किसी शराब की दुकान पर दिखाई दे जाये तो उसे ज़िन्दा जला दिया जाता था।

दूसरे दरजे की देवदासी 'ताल-मे' कहलाती थीं। इनकी तादाद काफी थी और ये मंदिर की तरफ से व्यापार वाणिज्य भी करती थीं। ये मंदिर में ही रहती थीं। इनकी संतान भी होती थीं लेकिन संतान के पिता का नाम गोपनीय होता था।

तीसरी श्रेणी की 'सिकु' या 'कदिश्तु' कहलाती थीं। ये सीधी सादी मंदिर की वेश्याएं होती थीं। इनके संबंध में कोई रहस्य न था। ये निकृष्ट दरजे की स्त्री समझी जाती थीं। उनके खिलाफ अनेक कहावतें समाज में प्रचलित थी। इनकी वेश्यावृत्ति से जो कुछ आमदनी होती थी, उसका एक-एक पैसा मंदिर के खजाने में जाता था।

सुमेर के मंदिरों में बेशुमार देवदासियां रहती थीं। इनकी वजह से किसी-किसी मंदिर की शान और रौनक महल से कम न थी। धर्म ने इस रिवाज पर पवित्रता

का मुलम्मा फेर रखा था। समझा जाता था कि किसी भी स्त्री के लिये इससे बढ़कर क्या क़ुर्बानी हो सकती है कि वह अपना कौमार्य देवता के चरणों में चढ़ा दे। देवदासियों को छोड़कर सुमेरी समाज में सतीत्व का उतना ही ज़्यादा ख्याल रखा जाता था जितना किसी भी समाज में कभी भी रखा गया है। व्यभिचार या बलात्कार के लिये कड़ा दण्ड दिया जाता था।

समाज

जहां तक विवाह का सबंध है सुमेर में एक आदमी की एक स्त्री का ही नियम था। लेकिन एक विवाहिता के अलावा रखेल स्त्रियों के रखने का भी रिवाज था। विवाहिता पत्नी की इज्ज़त का बेहद ध्यान रखा जाता था। कोई दूसरी स्त्री उसके अधिकारों में बाधा न डाल सकती थी। शादी परिवार के बड़े बूढ़े ही तय करते थे। लड़के वाले लडकी के बाप को एक रक़म ज़मानत के तौर पर देते थे और इसके बाद सगाई पक्की हो जाती थी। अगर लड़का बाद में अपनी राय बदलता था तो यह रकम ज़ब्त हो जाती थी। अगर लड़की अपनी राय बदलती थी तो उसका बाप लड़के वालों को जमानत से दुगनी रकम देता था। सगाई के बाद लड़की अपने भावी श्वसुर के यहां जाकर रह सकती थी। शादी की कोई खास धार्मिक रस्म न थी। हर शादी की अलग अलग शर्तें होती थीं और दोनों तरफ हर शादी की ज़ाब्ते से रजिस्ट्री होती थी। शादी की शर्तें एक तख्ती पर लिखी जाती थीं। बदचलनी पर क्या सज़ा मिलेगी और किन सूरतों में तलाक हो सकेगा, यह भी उस तख्ती में लिखा जाता था। इसके बाद उस पर गवाहों के दस्तखत होते थे और तख्ती सील करके मंदिर में रख दी जाती थी ताकि वक्त ज़रूरत काम आए।

शादी के बाद दहेज की सब चीजें स्त्री अपने अधिकार में ले लेती थी। यह सारी सम्पत्ति उसकी निजी सम्पत्ति समझी जाती थी। अगर वह इस सम्पत्ति को मरने से पहले अपने बच्चों को न दे जाती थी या उनके नाम वसीयत न कर जाती थी तो स्त्री का बाप या भाई उसका मालिक हो जाता था।

पति के शादी के पहले के क़र्ज़ों के लिये पत्नी की यह जयदाद महाजन न ले सकता था। लेकिन शादी के बाद के क़र्ज़ों के लिये स्त्री भी ज़िम्मेवार होती थी। पत्नी अलग व्यापार वगैरह कर सकती थी। पति के मरने पर पत्नी को पति

की जायदाद से लड़कों के बराबर हिस्सा मिलता था। विधवा अपनी मर्ज़ी से दोबारा विवाह कर सकती थी। दोबारा शादी करने पर पहले पति की जायदाद पर उसका कोई अधिकार न रहता था। अगर एक स्त्री के औल न हो तो उसका पति संतान के लिये दूसरा विवाह कर सकता था। ऐसी सूरत में उसे पहली पत्नी के गुज़ारे के लिए इन्तज़ाम करना पड़ता था। दूसरी पत्नी के मुक़ाबले में पहली पत्नी का रुतबा, बावजूद संतान न होने के भी, ऊंचा समझा जाता था। दूसरी पत्नी को पहली पत्नी के पैर धोने पड़ते थे। पैग़म्बर इब्राहीम ने, जो उर के रहने वाले थे, इसी क़ायदे के अनुसार अपनी पत्नी सारा के होते हुए गुलाम हाज़रा से विवाह किया था।

सुमेरी कानून के अनुसार मां और बाप दोनों का औलाद पर पूरा अधिकार होता था। मां-बाप बच्चों को अपनी विरासत से वंचित रख सकते थे, शहर से दाग देकर निकाल ... थे, गुलामी में बेच सकते थे या गिरवी रख सकते थे। मां बाप अगर कोई खास वसीयत न कर गए हों तो उनकी जायदाद में सब लड़के-लड़कियों का हिस्सा मुक़र्रर था। लड़का चाहे तो बाप की ज़िन्दगी में ही अपना हिस्सा मांग सकता था और हिस्सा पाने पर फिर वह बाप की बाक़ी सम्पत्ति का हक़दार न रह जाता था।

रखेल की औलाद जायज़ समझी जाती थी हालांकि उन्हें विवाहित स्त्री के बच्चों के बराबर रुतबा न मिलता था। दूसरे के बच्चों को गोद लेने का भी रिवाज था। देवदासियों यानी मंदिरों की वेश्याओं के लड़के, जिनके बाप का पता न होता था, अक्सर अच्छे से अच्छे घरों में गोद ले लिए जाते थे।

गुलामी की प्रथा

सुमेरी समाज में गुलामी का रिवाज था। आपसी लड़ाई तक में लड़ाई के क़ैदी गुलाम बना लिये जाते थे औद दूसरों के हाथ बेचे जा सकते थे। इसलिए सुमेरियों में गुलामों की तादाद काफी थी। लेकिन गुलामों के साथ खासा अच्छा सलूक किया जाता था। इतिहास लेखक बूली लिखता है–

"अमरीका वाले अपने हब्शी-गुलामों को मानव समाज से ही बाहर समझते थे और यूनानी सब असभ्य क़ौमों को पैदाइशी गुलाम मानते थे। लेकिन सुमेरियों

की नज़र में गुलामी एक मुसीबत थी, एक दुर्भाग्य थी जिसमें कोई भी आदमी किसी समय फंस सकता था।"

मां बाप ज़रूरत पड़ने पर अपने बच्चों को गुलामी में बेच सकते थे। कर्ज के एवज़ पति अपनी पत्नी, लड़के या लड़की को तीन साल की गुलामी में गिरवी रख सकता था।

अगर कोई आज़ाद आदमी किसी दासी को अपनी रखेल बनाकर रखता था तो उसकी मौत के बाद वह दासी और उसके बच्चे सब आज़ाद शहरी समझे जाते थे। अगर कोई आज़ाद आदमी किसी दासी से विवाह करता था और इस तरह के विवाह समाज में अनादर से नहीं देखे जाते थे, तो इस विवाह से पैदा हुए बच्चे आज़ाद शहरी समझे जाते थे।

एक ऐसे समाज में जहां रोज लड़ाईयां होती रहती थीं और जहां युद्ध के बादल छाते ही गुलाम आजाद हो सकते थे और आजाद लोग गुलाम बन सकते थे, गुलामों के साथ बुरा बर्ताव नहीं हो सकता था। सुमेरियों में गुलामों के साथ इतना अच्छा बर्ताव होता था कि दूसरे देशों, खासकर रोम जैसों की गुलामी की प्रथा के साथ उसकी कोई तुलना नहीं हो सकती।

सुमेर में हर गुलाम अपनी बिक्री के ख़िलाफ एतराज़ करके अदालत में मामला ले जा सकता था। मुकदमों में वह गवाही दे सकता था, गुलाम रहते हुए अपनी निजी जायदाद रख सकता था, अलग व्यवसाय कर सकता था, कर्ज ले सकता था और मुआवज़ा देकर आजाद हो सकता था और एक आजाद शहरी का रुतबा पा सकता था।

क़ानून

जायदाद का बेचना, खरीदना, कर्ज़े, आपस के मुआहिदे, वसीयतनामे, गोद लेना, शादी, तलाक वगैरह सबके लिए कानून बने हुए थे। इस तरह की हर बात ज़ाब्ते से लिखी जाती थी और उस पर गवाहों के दस्तखत होते थे। जब कभी कोई झगड़ा होता तो वह लिखी हुई तख्ती अदालत में पेश की जाती थी। अदालत के सामने बयान और गवाहियां भी होती थीं। सुमेर में दो तरह की आदलते थीं–मामूली और

धार्मिक। हर मंदिर न्यायालय था और हर पुरोहित जज। इनके अलावा राजा की तरफ से भी सामान्य जज मुकर्रर होते थे। नगर के नगरपति, पटेसी, इशाक्कु या गवर्नर को भी मुकदमों के फैसले करने के अधिकार मिले हुए थे।

किसी अदालत में मुकदमा चलाने के पहले मुद्दई को एक सरकारी 'मशकिम' (पंच) के सामने, जो पंच की हैसियत से आपस में समझौता कराने की कोशिश करता था, दरखास्त देनी पड़ती थी। 'मशकिम' का फ़र्ज था कि पूरी कोशिश से मुद्दई और मुद्दाइले में सुलह करवा दे। अगर उसे कामयाबी न होती थी तो मुद्दई का अधिकार था कि वह 'दिकुद' (जज) के सामने अपना मामला पेश करे। एक-एक मुकदमे में दो-दो और चार-चार तक जज बैठते थे। 'दिकुद' के साथ 'मशकिम' भी बैठता था। वह मुकदमे के बारे में अपनी निष्पक्ष जानकारी जजों के सामने पेश करता था। मुद्दई, मुद्दालह और गवाहों को 'राजा' के नाम पर हलफ लेकर बयान देना पड़ता था। दस्तावेजों के अलावा नजीरें भी पेश की जा सकती थीं। जज के फैसले के खिलाफ ऊपर की अदालत में अपील की जा सकती थी। ऊपर की अदालत-आलिया चाहे तो मातहत अदालत के फैसले को रद्द कर सकती थी। अदालतों के फैसले की तामील के लिए सिपाही और कर्मचारी होते थे। अदालत के मुन्शी मुकदमे का संक्षिप्त खुलासा, उसके खास-खास पहलू, मुद्दई-मुद्दाइले के नाम, गवाहों के नाम और जज का फैसला, मिट्टी की तख्ती पर लिख लेते थे। इस तख्ती पर दोनों पक्ष की सील मोहर हो जाती थी और वह तख्ती अदालत के स्टोर में सम्हालकर रख दी जाती थी ताकि वक्त मुनासिब पर काम आए। कभी-कभी उस तख्ती को मिट्टी के एक लिफाफे में भी बंद कर दिया जाता था।

प्राचीन सुमेर में गरीब से गरीब आदमी इन्साफ़ की आशा कर सकता था। कोई कोर्ट फीस नहीं थी। झूठी गवाही और दरोग हलफ़ी के लिये सख्त से सख्त सजाएं थीं। अपील करने का सबको मुफ्त अधिकार होता था।

कुछ रस्म-रिवाज

खेती और तिजारत सुमेरियों के खास रोजगार थे। दज्ला और फिरात जैसी नदियां हर साल अपने बहाव में उपजाऊ मिट्टी लाकर सारे दोआब में बिखेर देती थीं। इन नदियों के अलावा नहरों का एक जाल बिछा हुआ था। सुमेरी ग्रंथों में

2800 ई.पू. में वहां के दोआब की जरखेजी का जिक्र है। जमीन से इतनी पैदावार होती थी कि एक साल की फसल पर वहां की आबादी का दो बरस का गुजारा हो सकता था। जमीन कुछ सरकारी थी, कुछ मंदिरों की, कुल अलग-अलग मालिकों की, और बहुत सी जमीन ऐसी थी जो गांव की पंचायती मिलकीयत समझी जाती थी। इस पंचायती जमीन पर पंचायती तरीके से मिलकर खेती होती थी और पैदावार बराबर-बराबर हिस्सों में बांट दी जाती थी। बाज़ाब्ता सैनिकों को जो जमीनें गुजारे के लिए मिलती थीं उन्हें 'इल्कु' कहते थे। अपने अपने पास की नहरों को किसान खुद साफ करते थे। खड़ी फसल को नुकसान पहुंचाने या फसल की चोरी करने वालों को सख्त सजाएं मिलती थीं।

हिंदुस्तान की तरह हल में बैल जोते जाते थे। फसल काटकर खलिहान में इकट्ठी की जाती थी जहां बैलों ही से मड़ाई कराई जाती थी। भूसा अलग और दाना अलग करके रख लिया जाता था। अनाज को पत्थर की चक्की में पीसा जाता था और उसकी रोटियां बनती थीं। गेहूं और जौ का दलिया भी बनाया जाता था। सुमेरी जौ खाना ज्यादा पसंद करते थे। दूध के लिये गाय और बकरियां पाली जाती थीं। मक्खन, पनीर और मठे का भी रिवाज था। जौ, खजूर और अंगूर की शराब बनाई जाती थी। अमीर लोग मछली और मांस भी खाते थे। गरीबों का खाना आम तौर पर निरामिष होता था। खास-खास त्यौहारों पर या बलिदान के दिन गरीबों के यहां भी मांस पकता था।

सुमेर में चरखे से सूत निकालकर बारीक से बारीक कपड़ा बुना जाता था। कपड़े के कई कारखाने मंदिरों की तरफ से चलते थे। सैकड़ों कारखाने व्यापारी लोग अपनी-अपनी पूंजी से चलाते थे। सुमेरी कपड़े की दूसरे देशों में बेहद मांग थी। मलमल के लिए अंगरेजी शब्द मसलिन इराक ही के शहर 'मोसल' से बना है। मोसल सुमेर के उत्तर में दज्ला के किनारे एक पुराना शहर है जहां की मलमल किसी समय यूनान और रोम में बहुत पसंद की जाती थी। लेकिन मोसल के बनने के भी हजारों बरस पहले सुमेर की मलमल दूर दूर तक के देशों में जाती थी। कपड़े और भोजन को छोड़कर और बहुत सा कच्चा माल दूसरे देशों से सुमेर में आता था।

दूसरे देशों से माल के लदे हुए जहाज दक्षिण के बंदरगाहों में आकर खाली होते थे। इसलिए दक्षिण के शहर ज्यादा खुशहाल और बड़े-बड़े थे। वहां से दज्ला

और फिरात के रास्ते यह सब माल नावो में लादकर उत्तर के शहरों में पहुंचाया जाता था। 2048 ई.पू. के एक जहाज का बयान मिलता है जिसका माल उर में उतारा गया था। उसमें सोना, तांबा, कच्चा लोहा, हाथी दांत, इमारती लकड़ी, जवाहरात और मूर्तियां और बर्तन बनाने के लिये धातुएं वगैरह थीं। सुमेर के चतुर कारीगर इस सब माल की सुंदर चीजें बनाते थे और फिर ये सब चीजें उत्तर और पश्चिम के देशों की मंडियों में बिकने के लिये भेज दी जाती थीं। दक्षिण के व्यापारियों की देश के दूसरे व्यापारिक केंद्रों में शाखें और एजेंसियां थीं। पत्र-व्यवहार से व्यापार चलता था। लेन-देन में हुण्डी चलती थी। कानून ऐसे एजेंटों को सख्त सजा देता था जो हिसाब मे गड़बड़ करते थे या मालिक के माल में गबन करते थे। उस जमाने के सुमेर के बड़े बड़े सौदागर करोड़ों रुपए का व्यापार दूर-दूर के मुल्कों, खासकर हिंदुस्तान और मिस्र के साथ बिलकुल आजकल के व्यापारियों की तरह करते थे। ज्यादातर तिजारत आजकल की तरह बदलौअल से चलती थी। बड़ी बड़ी रकमों के बदले में सोने-चांदी के तोड़े इस्तेमाल होते थे। सोने की कीमत उस समय चांदी से अठगुनी थी। बड़े पैमाने पर खरीद फरोख़्त की लिखा-पढ़ी जरूरी थी। स्त्रियां उसी आजादी से व्यापार करती थीं जिस तरह पुरुष। राज की तरफ से मकानों, गोदामों, दुकानों, जहाजों, गाड़ियों ओर ज़मीनों के किराए मुकर्रर थे। राज ही ने मजदूरों, कारीगरों और दस्तकारों की मजदूरी मुकर्रर कर दी थी। राज्य की तरफ से सूद की दर भी बंधी हुई थी। राज के मुकर्रर किये हुए इन कायदों के खिलाफ जाना जुर्म था।

सुमेरी सभ्यता ने ईसा से हजारों साल पहले एक ऐसे समाज की रचना की जिसमें समाज की संहति को कायम रखते हुए आदमी को पूरी आजादी थी। हर एक के लिये उन्नति के साधन मौजूद थे। राज के कानून निर्जीव कानून न थे। वे सदाचार की बुनियाद पर कायम थे और उसी बुनियाद पर समाज के हर आदमी की सच्चाई और ईमानदारी के साथ अमल करने के लिये तैयार करते थे। यही वजह थी कि सुमेरी समाज हजारों साल तक व्यवस्थित और खुशहाल बना रहा और जब सुमेरी शासन खत्म होकर हाम्मुराबी के अधीन बाबुल में नई ताकत क़ायम हुई तो हाम्मुराबी ने समाज में ज़्यादा तब्दीली की आवश्यकता न समझी। हजारों साल की उस पुरानी संस्कृति और सभ्यता के क़ायम रखने और उस पर चलने ही में बाबुल वालों को अपना कल्याण दिखाई दिया।

मेसोपोटामिया की प्राचीन संस्कृति

हजरत ईसा के जन्म से लगभग चार हजार वर्ष पहले मेसोपोटामिया में सभ्यता अपनी प्रारंभिक स्थिति से निकलकर निश्चित उन्नति की ओर क़दम बढ़ा रही थी। मेसोपोटामिया को सांस्कृतिक दृष्टि से हम तीन भौगोलिक हिस्सों में बांट सकते हैं। दजला और फिरात का पूर्वी भाग अथवा आधुनिक बगदाद और ईरान की खाड़ी के बीच का हिस्सा बाबुल या बैबिलोनिया कहलाता था। इस बाबुल के भू-भाग में प्रागैतिहासिक काल से ही एक जाति बस गई थी जिसे इतिहास में सुमेरी जाति कहा जाता है। यह जाति कहां से आई इसके निश्चित ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलते किंतु सुमेरी भाषा और भारतीय द्रविड़ भाषाओं के साम्य को देखते हुए बहुत से इतिहासज्ञों का यह मत है कि सुमेरी जाति का संबंध दक्षिण भारत के द्रविड़ों से रहा होगा। मेसोपोटामिया का उपरला या पश्चिमी भाग इतिहास में असुरिया या असीरिया के नाम सें विख्यात हुआ। बाबुल क़े पूर्वोत्तर में एक पहाड़ी प्रदेश है जिसे 'इलाम' कहा जाता था। आज जहां सुसा का नगर है वहां इलामी सभ्यना हजरत ईसा से चार हजार वर्ष पहले उन्नति करते हुए खेतिहर अवस्था तक पहुंच गई थी और वहा मिट्टी के बर्तन बनने प्रारंभ हो गए थे।

सुमेरी सस्कृति के जो अवशेष उर, उरुक और लगाश आदि की खुदाई से प्राप्त हुए हैं उनसे पता चलता है कि इलामी सभ्यता के विपरीत सुमेरी सभ्यता एक औद्योगिक और व्यापारी सभ्यता थी। बाबुल के प्राकृतिक साधन सीमित थे इसलिये वहां के निवासियों को अनिवार्य रूप से दूर-दूर के देशों में कच्चे माल, धातुओं और इमारती लकड़ियां को प्राप्त करने के लिये यात्रा करनी पड़ती थी। इन यात्राओं के द्वारा विदेशों के साथ उनका सम्पर्क बढ़ा। इस बात के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं कि सुमेरी संस्कृति और सिंधु सभ्यता के केंद्र मोहन-जोदड़ो में गहरा आदाम-प्रदान का संबंध था।

जिस समय मिस्र में पहले राज-कुल के पेरोए शासन कर रहे थे ठीक उसी समय के लगभग 3500 ईसा पूर्व में सुमेरी नरेश उर और मारी नगरों में हुकूमत कर रहे थे। सुमेरी सत्ता धीरे-धीरे ऊपर की ओर फैलती गई आर बगदाद के निकट किश नामक नगर तक उनका अधिकार क्षेत्र फैल गया। किश आर असुर के बीच का प्रदेश 'अक्कद' कहलाता था। लगभग 2650 ई.पू. में सुमेरी नरेश सरगन प्रथम ने न केवल संपूर्ण मेसोपोटामिया को अपने अधिकार में कर लिया वरन् अपने राज्य की सरहदों को भूमध्य सागर के किनारे तक फैला दिया।

1955 और 1913 ई.पू. के बीच संयुक्त मेसोपोटामिया पर सम्राट हाम्मुराबी शासन कर रहा था। इतिहास के अनुसार हाम्मुराबी पहला शासक है जिसने संसार को पहले पहल न्याय-व्यवस्था दी। बाबुल का नगर हाम्मुराबी की राजधानी था। 2057 ई.पू. से 1758 ई.पू. तक बाबुल का पहला राजकुल शासनाधिकारी रहा। 1300 ई. पू. से लेकर 1200 ई.पू. तक शालमनेश्वर के बाद पहला असुरी राजकुल असुर को अपनी राजधानी बनाकर बाबुल से स्वाधीन हुकूमत करता रहा। किंतु 1169 ई.पू. में बाबुली राजकुल ने फिर से सत्ता प्राप्त की और 1100 ई.पू. से 1039 ई.पू. तक वह संयुक्त मेसोपोटामिया पर शासन करता रहा। तराजू का पलड़ा फिर झुका और असुरी सम्राट 900 ई.पू. से 600 ई.पू. तक सार्वभौम सम्राट बने रहे। 600 ई.पू. से 500 ई.पू. तक फिर बाबुल संयुक्त मेसोपोटामिया की राजधानी बना। 500 ई. पू. में अंतिम रूप से बाबुल के हाथ से शासन-तंत्र निकलकर ईरानियों के हाथों में चला गया। ईरानी 558 ई.पू. से लेकर 330 ई.पू. तक मेसोपोटामिया पर अधिकृत रहे। ईरान की राजधानी पर्सुगढ़ी या पर्सुपोली सुसा के प्राचीन नगर से अधिक दूर नहीं थी। 330 ई. पू के बाद मेसोपोटामिया पर यूनानियों की सत्ता स्थापित हुई।

मेसोपोटामिया की इस राजनैतिक उथल-पुथल पर एक दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि निरंतर राजनैतिक परिवर्तनो ने वहां की विचारधारा को काफी प्रभावित किया। उनकी कला, उनका साहित्य और उनका धर्म सब इससे प्रभावित हुए।

संसार की प्राचीन जातियों में ईश्वर के संबंध में दो प्रकार की कल्पनाएं हमें मिलती हैं। एक के अनुसार ईश्वर प्रेममय है। इहलोक के बाद परलोक मे वह मानव को अनंत जीवन प्रदान करता है। दूसरी कल्पना के अनुसार ईश्वर शक्ति का पुंज है। वह इसी मानव जीवन में स्वास्थ्य, शक्ति, सत्ता और कीर्ति प्रदान करता है।

ये दोनों ईश्वर सम्बंधी कल्पनाएं मनुष्य में प्रेम या पाप का सृजन करती हैं और मन की यह स्थिति कला के प्रति, व्यक्ति की भावना को बहुत दरजे तक प्रभावित करती है।

मेसोपोटामिया का प्राचीन साहित्य इस दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है कि वह पहला विश्व-साहित्य है जिसमें मानव के उत्पत्ति की वह कहानी अंकित है जिसके अनुसार ईश्वर ने अपने शक्ति-रूप से मानव का सृजन किया। मिस्र में आइसिस, ओसिरिस और होरस की उस प्रेममय त्रिमूर्ति की कल्पना की गई जो मानव-कल्याण के दृष्टिकोण से अत्यंत मानवीय है। इस त्रिमूर्ति का स्त्री-अंश उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि पुरुष-अंश। इसके विपरीत मेसोपोटामिया में पितृ-वंशी प्रवृत्तियों के कारण ऐसे देवताओं की कल्पना की गई जो पुरुष-प्रधान थे और जो युद्ध और आखेट में अपने भक्तों को सफल बनाते थे। कृषि प्रधान सुमेर में मातृदेवी की वन्दना की जाती थी। बाबुली देवी इश्तर की पहले खजूर के पेड़ के रूप में पूजा की जाती थी, बाद में स्त्री-रूप में उसकी पूजा होने लगी।

प्राचीन मेसोपोटामिया साहित्य में चार कथाएं अत्यंत महत्वपूर्ण समझी जाती हैं। इन चारों ने यूरोपीय विचार-धारा को काफी प्रभाविन किया। मानव की उत्पत्ति और प्रलय की दो कथाएं तो बाइबिल में भी शामिल कर ली गई हैं। गिलगमेश की कथा ने यूनानी साहित्य को एक अंश तक प्रभावित किया और इश्तर और उसके प्रेमियों की कथा ने मध्ययुगीन रोमांटिक साहित्य पर अपना व्यापक प्रभाव डाला।

सृष्टि सृजन

मानव उत्पत्ति के मेसोपोटामीया वर्णन के अनुसार देवताओं ने इस हेतु मानव का सृजन किया कि देवता वेहद अकेलापन अनुभव कर रहे थे और चाहते थे कि कोई उनकी पूजा करे। प्रारंभ मे केवल तिआमन अथवा शून्य था। तिआमत एक दुष्ट-देवी थी और वही आंधी-पानी की मालकिन भी थी। अप्सु अर्थात् समुद्र ने और तिआमत अर्थात् मेघों ने अपने जल का मिश्रण किया। दोनों के इस संयोग से प्रथम जीव-रचना हुई। शुरू में लहमु (लखमु) और लहामु (लखमानु) नामक दो देवता पैदा हुए। इन दोनों के संयोग से अनशार और किशार नामक देवता पैदा हुए, जिन्होंने देवताओं की पुरुष त्रिमूर्ति की रचना की। इन तीनों में अनु आकाश और दिवस का राजा बना। दूसरा इआ समुद्र पर शासन करने लगा और तीसरा एनलिल पवन

और मेघों का राजा बना। मिस्री देवी आइसिस की तरह 'इआ' मंगलकारी देवता था। वही कला और सृजन का देवता भी था। वह मानवता का रक्षक था। उसने निर्माण की कला, धातुओं की ढलाई और कीमती पत्थरों की कला सिखाई। धीरे-धीरे वह अनु के स्वत्वों का भी अधिकारी हो गया। यही प्रजनन का स्वामी बन गया। उसकी प्रार्थनाओं के गीत ज्यों के त्यों यहूदियों ने ले लिये है और उनसे हिब्रू देवता जेहोवा की स्तुति की जाती है।

अब तक इस सृजन-कथा मे केवल पुरुष-अंश से ही प्रजनन का कार्य हो रहा था। अब उस कथा में स्त्री-अंश का प्रवेश होता है। प्राचीन देवता अप्सु और तिआमत की नई त्रिमूर्ति मे भय होता है और वे उसे नष्ट करने का निश्चय करते हैं। विनाश के कार्य में सहायता लेने के लिये तिआमत भयंकर दानवों को जन्म देती है। अनशार और किशार क सरक्षण में तिआमत इस दानवी सेना को त्रिमूर्ति को नष्ट करने भेजती है। उधर मगलदाता इआ एक वीर पुत्र को जन्म देती है जिसे सुमेरी 'गिलगमेश', असुरी 'मार्दूक' और खाल्दी 'इज्दुबार' या इसुवर कहते थे। गिलगमेश ने चारों दिशाओं के लिये चार पवन देवताओं की सृष्टि की। गिलगमेश और तिआमत में युद्ध होता है और गिलगमेश तिआमत का वध कर डालता है। तिआमत के शरीर के दो टुकड़ों को लेकर गिलगमेश एक से आकाश बनाता है और दूसरे से धरती। फिर वह तारो और ग्रह-समूहों की रचना करता है और त्रिमूर्ति के लिये वास-स्थान बनाता है। चारों ओर शाति और सुव्यवस्था हो जाती है। तिआमत अब केवल पृथ्वी पर युद्ध के रूप मे या सपनों में आती है। किंतु वह सुव्यवस्था और शांति ही नितांत दुखदायी हो उठती है इसलिये गिलगमेश ने अपनी ही हड्डियों और रक्त से मनुष्य की रचना की ताकि देवताओं की पूजा हो सके।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कथा अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसमें पुरुष को सृजनकर्ता के रूप में दिखाया गया है और स्त्री को अनियंत्रित, उच्छृंखल और विनाशकर्ता के रूप में। इस अनियंत्रण का दमन करके ही शांति की स्थापना हो सकती है। मेसोपोटामिया में पुरुष-देवता गिलगमेश स्त्री-देवी अथवा दानवी तिआमत के टुकड़े-टुकड़े करके दशों दिशाओं में फेंक देता है जबकि मिस्र में जगदम्बिका आइसिस पुरुष देवता ओसिरिस के विच्छिन्न अंगों को इकट्ठा करती है। मेसोपोटामिया में सृजन का संबंध व्यवस्था और शक्ति से है जबकि मिस्र में एकता और रचनात्मक प्रवृत्ति से।

प्रलय कथा

मेसोपोटामिया की दजला और फिरात नदियां पहाड़ों से जल की अटूट राशि लाती थीं जिससे किनारों की मर्यादा भंग होकर आस-पास की समस्त धरती जल-मग्न हो जाती थी। इसके विपरीत मिस्र में नील नदी मर्यादा के अंतर्गत बहती थी; इसीलिये वहां प्रलय की कथा का सृजन नहीं हुआ।

इस कथा के पीछे मानव अस्तित्व को सुरक्षित रखने की प्रचण्ड भावना के दर्शन मिलते हैं। मेसोपोटामिया का निवासी देवताओं की विनाश-लीला से अपने को बचाने का शक्ति भर प्रयत्न करता है। प्रलय के नायक उत्न पिश्तिम की कहानी ज्यों की त्यों बाइबिल में हजरत नूह के रूप में ले ली गई है। इस सुमेरी प्रलय-कथा और शतपथ ब्राह्मण में वर्णित प्रलयकथा में भी आश्चर्यजनक समानता है। उत्न पिश्तिम के चारित्रिक गुणों का दर्शन हमें अनेक यूनानी और यूरोपीय कथाओं में मिलता है।

इश्तर की कथा

सुमेरी देवी इश्तर प्रकृति, बसन या रचना की देवी है। प्रत्येक वर्ष जब पतझड़ होता है इश्तर को अपनी क्रूर बहिन पाताल की देवी एरेश किगल के पास जाना पड़ता है। सात फाटक उसे पार करने पड़ते हैं जहां उसके वस्त्राभूषण उतार लिये जाते हैं। इश्तर के जाते ही धरती श्री-हीन हो जाती है। फूल-पत्ती मुरझा जाती हैं। मानव हृदय से प्रेम निकल जाता है। पृथ्वी की करुणा से द्रवीभूत होकर इआ अपु-शु-नामिर नामक दूत को इश्तर को लेने के लिये पाताल भेजता है। आगमन के समय इश्तर को फिर से वस्त्राभूषण मिल जाते हैं और उसके लौटते ही धरती प्रसन्नता से भर जाती है। फूल खिल उठते हैं। पक्षी कलरव करने लगते हैं। प्रेमियों का हृदय प्रेम से भर जाता है।

इश्तर की यह प्रेम-कथा यूनान पहुंची जहां इश्तर 'असतार्ते' बन गई। वही बाद में प्रेम की देवी अफ्रादिते, प्रकृति की देवी दिमित्रि और प्रजनन की देवी पर्सिफान बन गई। इश्तर की कथा से ही मुक्ति की अनेक कथाओं की रचना की गई।

इसुवर की कथा

इसुवर की कथा में पहली बार हमें पुरुष देव-अंश के साथ स्त्री देव-अंश का समान संतुलन दिखाई देता है। इसुवर और कोई नहीं गिलगमेश या मारदूक ही है। वह पृथ्वी पर औरुक नामक राजा के यहां पुत्र रुप में पैदा होता है। इलामी सेना औरुक के राज्य पर कब्जा कर लेती है। इसुवर जंगल में भाग जाता है जहां वह अनेक दैत्यों का वध करके कीर्ति उपार्जन करता है और अंत में अपने पिता के राज्य को पुनः विजय करता है। इश्तर इसुवर पर मोहित हो जाती है। स्वप्न में वह उसके पास जाती है। शत्रुओं से उसकी रक्षा करती है किंतु जब वह उससे प्रणय-याचना करती है तो वह उसकी अवहेलना करता है। अंत में वह मुआ नामक राजकुमारी से विवाह कर लेता है। वह मुआ से कहता है--"प्राणाधिके! संसार की समस्त संपदा मैं तुम्हारे प्रेम के ऊपर न्यौछावर करता हूं।"

इस सुमेरी कथा का मेसोपोटामिया के साहित्य पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसी के परिणामस्वरूप कविताओ और रोमांटिक कथानकों को जन्म मिलता है। बाद की यूनानी, रोमी, फिलिस्तीनी और क्रूसेड युग की रोमांटिक कथाओ का आधार यही सुमेरी कथा बनती है।

इसुवर के इस सुमेरी काव्य-ग्रंथ में सती पत्नी के गुणों की चर्चा होती है। सुंदरता का संबंध पहली बार स्त्री के सौंदर्य के साथ जोड़ा जाता है। सीता की तरह मुआ आदर्श स्त्री बन जाती है जो पुरुष को लौकिक से पारलौकिक प्रेम की ओर ले जाती है।

मिस्र के प्राचीन साहित्य ने पुरातन रहस्यात्मक अभिवृत्तियों से छुटकारा पाकर धीरे-धीरे स्थायित्व प्राप्त कर लिया था। मिस्री साहित्य में यह भावना प्रबल हो गई थी कि सभी इनसान एक बराबर है और आपस में भाई-भाई हैं। एक ही ईश्वर का प्रेम और संरक्षण उन्हें प्राप्त है। मेसोपोटामिया में भी यही साहित्यिक विचार-धारा उन्नति कर रही थी किंतु मेसोपोटामिया विचारधारा में दो बातों की भिन्नता थी : (1) अपनी शक्तिमत्ता के लिये इस दुनिया में ही इनाम पाने की आकांक्षा और (2) सौंदर्य की अपेक्षा स्वास्थ्य और भव्यता का अधिक महत्व। मेसोपोटामी कविता को अन्तर्निहित प्रेरणा भय से प्राप्त होती है। प्रतापी देवताओं के दण्ड का भय मानव

को सदाचार की ओर ले जाता था न कि पूर्णता प्राप्त करने की भावना। सम्राट नेबुचेदनजार मारदूक से प्रार्थना करते हुए कहता है--

"हे मारदूक! मैं अपने प्राणों से अधिक तुम्हें प्यार करता हूं। तुम्हारे दैवी कोप का मुझे बेहद भय है। मुझे तुम्हारे न्याय के प्रति ईर्ष्या है। हे मारदूक! मेरी प्रार्थना पर दया करो। हे दयावान मारदूक! जो महल मैंने बनाया है वह जीर्ण न हो। मुझे बड़ी उम्र प्राप्त हो। मेरी अगणित संतानें हों और चारों ओर के राजा मेरी सामन्ती में बने रहें।"[1]

मेसोपोटामी सदा अपनी प्रार्थना में बल और वीरता की याचना करते थे। रुग्णता और दुर्बलता उनके यहां सबसे बड़ा दैवी कोप समझा जाता था।

लिपि

एक ऐसी जीवंत जाति के लिये अपनी दैनिक कार्यवाहियों के लिये लिखा-पढ़ी की आवश्यकता थी। मिस्रियों की तरह मेसोपोटामिया वालों की लिपि चित्र-लिपि थी। आकाश का चिन्ह छै लकीरों वाला एक चक्र था। धीरे-धीरे यह चिन्ह एक तारे के रूप में हो गया और फिर क्रास के रूप में। मेसोपोटामी मिट्टी की तख्ती में अपने रोजमर्रा के दस्तावेज लिखते थे जो बाद में पका ली जाती थीं और स्थायी हो जाती थी।

कला के नमूने

मेसोपोटामिया में कला की चार प्रकार की डिजाइनें प्रचलित थीं--

(1) ऐसी डिजाइन जिसमें क्रियाशील दृश्य अंकित थे।
(2) ऐसी डिजाइन जिनके दृश्य सृजनात्मक प्रवृत्तियों के सूचक थे।
(3) ऐसी डिजाइन जिनमें शक्ति और सत्ता के दृश्य अंकित थे।
(4) पहाड़, मेघ और इसी तरह के दृश्य जो बाधा के रूप में अंकित थे।

निर्माण कला

मेसोपोटामिया की पुरानी इमारतों को देखकर यह पता चलता है कि निर्माण कला में वे काफी उन्नति कर चुके थे। मेहराब, गुम्बद और छत तीनों का उन्हें

ज्ञान था। उनके मंदिरों में सबसे प्रमुख इमारत सिग्गुरात (जिग्गुरात) होती थी। यह सात रंगों में रंगी जाती थी और इसकी सबसे ऊपरी मंज़िल में, समझा जाता था कि देवता निवास करते थे। सिग्गुरात और दक्षिण भारत के गोपुरम में काफी समानता है।

राजाओं के बड़े-बड़े महल मेसोपोटामिया वालों की विशेषता थी। आलीशान महलों के अतिरिक्त बड़े-बड़े उद्यानों को बनाने का शौक भी वहां के राजाओं को था। मेसोपोटामी मूर्तिकला शक्ति और सत्ता की प्रतीक थी। अप्राकृतिक और भयंकर मूर्तिकला की कल्पना भी मेसोपोटामिया वालों की अपनी थी जिसमें सर मनुष्य का और धड़ जानवरों का होता था।

संगीत और नाटक

मेसोपोटामिया वालों ने अपने अनेकों वाद्य-यंत्र ईजाद किये और अनेकों उन्होंने मिस्र से नकल किये। बाद में उन्हीं वाद्य-यंत्रों से आधुनिक पियानो और बेग-पाइप निकले। सुमेरी वाद्य-यंत्रों में मुरली, क्रौंच, गिटार, हार्प, सिम्बल, सात तारों वाला लायर और जिसर प्रमुख थे। गालपिन के अनुसार इन्हीं वाद्य-यंत्रों से आधुनिक आरकेस्ट्रा की प्रगति हुई।[1]

मेसोपोटामी संगीत में भारतीय अथवा चीनी संगीत की तरह स्वर सप्तक होते थे। इनमें चौथा और सातवां स्वर तीव्र होता था। मेसोपोटामी संगीतज्ञों ने संगीत के सातों स्वरों से सातों ग्रहों के संबंध में दर्शनिक विवेचना की है। प्राचीन सुमेरी संगीत को गिलगमेश का वरदान समझते थे। सुमेरियों की मुरली दो सरकण्डों को एक साथ मिलाकर बनाई जाती थी। मेसोपोटामी साहित्य के अनुसार संगीत एक ऐसी कला है जिसका संबंध उपासना और भगवत् प्रार्थना से है। संगीत को प्राण-प्रद और स्वास्थ्यप्रद कला समझा जाता था।

अभिनय आदि में जो संगीतमय कविता प्रयुक्त होती थी वह बिलकुल वही है जो बाइबिल के भजनों में होती है। इसका अर्थ यह है कि मेसोपोटामिया के भजन-संगीत ने यूरोपीय विचार-धारा को बाइबिल के गीतों के रूप में काफी प्रभावित किया। मेसोपोटामिया के नाटक-कथानकों ने बाद के यूनानी नाट्यकारों को पूरी तरह प्रभावित किया। यूनानी नाटककार बहुत अंश तक सुमेरी नाट्यकारों के ऋणी हैं।

जहां तक ज्ञान-विज्ञान, एवं गणित और ज्योतिष का संबंध है सारा संसार मेसोपोटामिया के दार्शनिकों, वैज्ञानिकों, गणितज्ञों और ज्योतिषियों का ऋणी है। अरस्तु जैसे महान ज्ञानी को भी यह स्वीकार करने में संकोच न था कि--"मैंने बाबुल के ज्ञान-सागर के किनारे बैठकर चुल्लू भर बुद्धि पाई है।"

भारत के साथ मेसोपोटामिया का अपनी उन्नति के सुमेरी काल से ही घनिष्ट संबंध था। लैंगडन के अनुसार मोहन-जो-दड़ो और सुमेर की लिपि और सील-मोहरों में काफी समानता है। दोनों दाहिने से बाई ओर लिखते थे और दोनों लिपियां चित्र-लिपि थीं। अल-उबेद की खुदाई में भारतीय अबरक मिट्टी के बर्तन प्राप्त हुए हैं। मोहन-जो-दड़ो में एक मूर्ति मिली है जो सुमेरियों के 'पवित्र वृषभ' से मिलती है। हड़प्पा में प्राप्त एक सिंगारदान की बनावट ठीक वैसी ही है जैसी कि उर में प्राप्त एक सिंगारदान की है। मोहन-जो-दड़ो में प्राप्न एक अकीक की माला ठीक किश में प्राप्त एक माला से मिलती है। सर जान मार्शल लिखता है--

"इस प्रकार की मिलती-जुलती वस्तुओं की सूची वहुत बढ़ाई जा सकती है। ये वस्तुएं इस बात को प्रमाणित करने के लिये यथेष्ठ हैं कि उस ज़माने में अर्थात् सम्राट सरगन से पूर्व या सरगन के समय में भारत और सुमेर में आना-जाना, लेना-देना और सभ्यता की अन्य बातों में घनिष्ट सम्पर्क था।"

आज हमारा मस्तक बरबस उन वैज्ञानिकों और कलाकारों के चरणों में झुक जाता है जिन्होंने मेसोपोटामिया की पुण्य-भूमि में आज से 6000 वर्ष पूर्व कला, विज्ञान, संस्कृति और सभ्यता का विशाल ज्ञान-वृक्ष उगाया। उस ज्ञान-वृक्ष ने लगभग 3500 वर्षों तक अपने मीठे और जीवनप्रद फलों से दुनिया को परितृप्त किया। उसी ज्ञान वृक्ष की कलमें संसार के भिन्न-भिन्न देशों में जाकर लगाई गई, जिन्होंने सारे संसार को अपनी हरियाली और मीठे फलों से संतुष्ट किया। इतिहास ने बेशक आज मेसोपोटामिया की सभ्यता और संस्कृति को विलुप्त कर दिया है किंतु वास्तविकता यह है कि आज संसार में जो कुछ भी कलापूर्ण और सुंदर है उस पर मेसोपोटामी संस्कृति की अमिट छाप है।

संदर्भ ग्रंथ

1. Morris Gastrow—The Civilization of Babylonia and Assyria, p. 466.
2. Cannon Galpin-- The Music of the Sumerians.

यूरोपीय संस्कृति का गहवारा : यूनान

हज़रत ईसा से लगभग 1500 वर्ष पूर्व इतिहास ने मानव संस्कृति के ताने बाने में यूनान का अध्याय जोड़ना शुरू किया। आर्य भारतीय, सुमेरी और मिस्री सभ्यता की किरणें छन-छन कर क्रेट और सीरिया से यूनान पहुंच रहीं थीं। होमर की कविता के अनुसार प्रारंभ में यूनानी क़बीले एक ही बोली बोलते थे और एक ही परंपरा ने यूनानी समाज का ताना-बाना बुन रखा था, किंतु धीरे-धीरे आर्यो के जत्थे पर्वत श्रेणियों को पार कर दक्षिण की उपत्यकाओं में घुस आए। ये गिरोह एक बार में नहीं बल्कि एक दूसरे के बाद सैकड़ों वर्षो के अंतर में यूनान पहुंचे।

हर आगन्तुक क़बीले ने स्वतंत्र रूप से अपनी अलग रियासत क़ायम की। हर एक का अपना अलग-अलग धर्म और अपने अलग-अलग रीति-रिवाज बन गए। ये विविध क़बीले जब अपने-अपने नगरों में राज जमा रहे थे तो पुराने अधिवासियों के साथ इन्हें लड़ाइयां लड़नी पड़ीं। परिणामस्वरूप सभ्यता और समाज की नई दागबेल पड़ी। पुराने प्रबंध और रीति-रिवाज समाप्त हो गए और नई बुनियादों पर नए समाज की रचना प्रारंभ हुई। इस उथल-पुथल में लगभग 7-8 शताब्दियां बीत गई। यूनानी परिश्रमी और अध्यवसायी थे। उन्हें भारत, मेसोपोटामिया, क्रेट, सीरिया और मिस्र जहां से जो कुछ भी मिला उससे उन्होंने अपनी सभ्यता को संवारना शुरू किया। यूनान में सिंधु, नील, दजला और फिरात की सभ्यताओं का सुंदर सम्मिश्रण हुआ और यह यूनानी सभ्यता अपने पूर्वजों से कहीं अधिक सूक्ष्मदर्शी और पेचीदा साबित हुई। ईरान में सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक एकता होने के कारण ईरानी द्रुतगति से अपनी राजसत्ता और संस्कृति का विस्तार कर रहे थे, जबकि यूनान में उच्छृंखल नगर-राज्यों के कारण अत्यन्त कष्ट और दर्दों के साथ जनतंत्र और जन-संस्कृति का जन्म हो रहा था। इसके बाद यूनानी जनतंत्र और ईरानी राजतंत्र दोनों की टक्कर हुई जिसमें ईरानियों को विनम्र होना पड़ा।

ईरानी अवरोध का हटना था कि यूनानी जन-स्वातंत्र्य में बाढ़ आ गई। जनतंत्र की इमारत बड़े आब-ताब के साथ सजाई गई। यूनानी आत्मा ने प्रत्येक क्षेत्र में गहरे से गहरे पैठने की चेष्टा की। अत्यत सादगी के वातावरण में उनके दिमाग़ ने तरक्की की पैंगें भरनी शुरू कीं। उनके यहां न बनावट थी और न उतार-चढ़ाव। उनकी जन-सभा की सादगी उन्हें सच्चाई का पाठ पढ़ाती थी। उनकी हर बात नपी तुली होती थी। उनके व्यवहार मे एक विशिष्टता थी। वे औचित्य और मर्यादा का पालन करते थे। वह नेकियों में सबसे ऊंची जगह न्याय को देते थे। वह शरीर और आत्मा दोनों की सम्हाल रखते थे। दोनों की उन्नति को एक समान महत्व देते थे। सुंदरता की धारणा उनकी रग-रग में समाई हुई थी। उन्होंने चित्रकला में—आभूषणों के गढ़ने में, भवनों के निर्माण में, संगीत और अभिनय में जो यश कमाया वह और किसी जाति को प्राप्त नहीं हुआ। यूनान आर्य यूरोपीय संस्कृति का गहवारा साबित हुआ। यूरोप के दार्शनिक ओर कवि, नाटककार और इतिहासज्ञ आज भी यूनान का आभार मानते हैं।

यूनानी समाज का सर्वोत्तम सिद्धांत यह था कि प्रत्येक यूनानी का उनके यहां एक-सा सम्मान ओर मूल्य था। इसीलिये हर एक को इसका अवसर देते थे कि वह अपनी योग्यता के अनुसार और अपनी समझ से जैसा पेशा और जैसा जीवन चाहे अंगीकार करे। हर एक को अपना मत प्रकट करने की पूर्ण स्वाधीनता थी। हर एक के साथ समता का व्यवहार होता था। हर एक के लिए एक से नियम और प्रतिबंध थे। यहां तक कि वे अपने देवी और देवताओं को भी मानव से अधिक महत्व नहीं देते थे। उनका धर्म उनकी बुद्धि को क़ैद नहीं करता था। उनके इतिहास में धार्मिक अत्याचार की बात बहुत कम मिलेगी। वह मानव को मानव की सहायता से ऐसा बनाना चाहते थे कि उसकी आत्मा की दबी हुई शक्तियां पूरी तरह से उभर आएं। वह व्यक्ति और समाज में ऐसा मेल चाहते थे जिससे बैर और फूट का खटका बंद हो जाय। वह दुनिया को स्वर्ग का नमूना बनाना चाहते थे।

जन-स्वातंत्र्य के इसी वातावरण के परिणामस्वरूप यूनान ने 200 वर्षों के भीतर सोलनसरी और पेरीक्लीज जैसे ऊंचे दरजे के राजनीतिज्ञ, पिथागोर और सुकरात जैसे महान संत, अफलातून और अरस्तू जैसे महान दार्शनिक, बुकरात जैसे महान रसायन-शास्त्री, एचिल और सोफोक्लीज जैसे श्रेष्ठ साहित्यिक, ब्राइगो, फ्रिडिया और

पालिगनीतु जैसे उत्कृष्ट कलाकार आर मिकदर जमे महान विजेता का जन्म दिया। यूनानी सस्कृति पलक मारत गगनचुम्वी हो उठी। किमी दूमरे दश न इतने कम समय म इतनी अधिक उन्नति नही की। कितु यूनानियो के सामाजिक ढाच म कुछ भयानक दुर्बलताए भी थी जिसक कारण परिस्थितिया की चोट का वे अधिक समय तक न वर्दाश्त कर सके। जिस तेजी मे यूनानी सभ्यता का सूरज ससार पर चमका था उमी तेजी क माथ वह ढल भी गया, कितु अस्त होने-हाते भी वह इतना मास्कृतिक स्वर्ण गशि विखर गया कि सारी दुनिया उस गत ढाई हजार वर्षो स बटोर कर अपने का समृद्ध कर रही है।

दार्शनिक पृष्ठभूमि

दर्शन और विज्ञान दोनो मे सवसे पहला यूनानी नाम थेली का है। वह 640 ईसा पूर्व म मिलेटस नगर मे पेदा हुआ था। थेली को पहला यूनानी वज्ञानिक और यूनानी दर्शन शास्त्र का जन्मदाता' माना जाता है। ज्ञान की खाज म वह अनक दशो म पहुचा। वर्षो मिस्र मे रहकर वहा क आचार्यो से गणित, ज्योतिष इत्यादि विद्याओ मे उसने शिक्षा ग्रहण की। मिस्र से लाट कर यूनान मे सबसे पहल उसी ने रेखागणित का प्रचार किया ओर स्वय इस विज्ञान को खासी उन्नति दी। ज्यामिति की बहुत सी शक्ल उसी की हल की हुई हे। ज्योतिष मे वह पहला यूनानी था, जिसने 365 दिन का वर्ष निश्चित किया आर गणित से हिसाब लगाकर सफलनापूर्वक भावी सूर्य ग्रहणो का वर्षो पहले समय निर्दिष्ट किया। प्रकृति की समस्त घटनाओ का वेज्ञानिक ढग से अध्ययन और अन्वेषण करने पर उसने जोर दिया। उसके शिष्यो म पिथागोर, अनक्षिमदर और अनक्षिमेन प्रमुख थे। यूनान के सात सर्वश्रेष्ठ विद्वानो मे थेली का नाम सबसे पहला है। लगभग 545 ईसा पूर्व मे 95 वर्ष की अवस्था मे थेली की मृत्यु हुई।

पिथागोर

थेली के पश्चात् अध्यात्म और यूनानी दर्शन पर सबसे अधिक छाप उसके पटु शिष्य पिथागोर की पडी। पिथागोर का जन्म समोस द्वीप मे लगभग 580 ई पू मे हुआ था। अपने गुरु की तरह पिथागोर ने भी मिस्र जाकर और वर्षो वहा रहकर, विद्याध्ययन किया। उसके पश्चात् ज्ञान की खोज मे उसने एशिया के लगभग

समस्त देशों की यात्रा की। उल्लेखों से पता चलता है कि भारत में भी वह कई वर्ष तक रहा। पिथागोर के आध्यात्मिक सिद्धांतों पर भारतीय अध्यात्म की स्पष्ट छाप दिखाई देती है।

अंकगणित, रेखागणित, बीजगणित ओर ज्योतिष, सबका वह प्रकाड पडित था। इन सबको उसने यूनान के अंदर खूब उन्नति दी। गणित की शिक्षा को वह हर मनुष्य के मानसिक विकास के लिये आवश्यक समझता था। वह पहला व्यक्ति था, जिसने यूनान में पृथ्वी के गोल होने का प्रतिपादन किया। सूर्य को ब्रह्माड का केद्र बताया और प्रचार किया कि पृथ्वी, चन्द्र इत्यादि ग्रह सब सूर्य के चारो ओर घूमते हैं। पदार्थ विज्ञान में उसने कई नये आविष्कार किये। दर्शन और अध्यात्म विद्या में उसका बड़ा ऊचा स्थान था।

रोमी दार्शनिक बोथियस के अनुसार पिथागोर ने दर्शन को "वैज्ञानिक'' वृत्ति दी। वह अपने शिष्यो को उपदेश दिया करता था कि वह उस समय तक उसके विचारों से सहमत न हुआ करे जब तक स्वतत्र अवलोकन से वे इस बात के प्रमाण इकट्ठा न कर ले कि उनके गुरु की धारणाएं सही है। वह उन्हें अंधी गुरु-भक्ति से रोकता था। धर्म ओर विज्ञान के दृष्टिकोण में यही बुनियादी भेद है। धर्म पूर्ण भक्ति चाहता है। कला भी एक भावुक भावना की माग करती है कितु विज्ञान सतर्क निरीक्षण चाहता है।

कितु पिथागोर का इससे कहीं अधिक महत्व उसके धार्मिक सिद्धातो के लिये ह। अपनी भारत यात्रा से लोट कर उसने यूनानियों को उपदेश दिया कि आत्मा अमर है और एक शरीर के बाद दूसरा शरीर धारण करती हुई अनेक योनियों और जन्म-जन्मांतरों में से निकलती रहती है। इस 'पुनर्जन्म' के चक्र से बाहर निकलने का उपाय उसने आत्म-शुद्धि और संयमी जीवन बताया। किसी भी पशु की हिंसा करने और मांस खाने को उसने पाप बताया। प्रचलित धार्मिक अंध-विश्वासों और सामाजिक कुरीतियों का उसने खण्डन किया।

यूनान में पियागोर ने दो नए आंदोलन प्रारंभ किये। एक धार्मिक सम्प्रदाय की स्थापना—जिसका उद्देश्य सदाचार, इंद्रिय-संयम और धार्मिक जीवन से अपनी आत्मा को उन्नत करना और समाज के सदाचार को सुधारना था, और दूसरा एक

वैज्ञानिक सम्प्रदाय की स्थापना द्वारा, शुद्ध वैज्ञानिक ढंग से खोज करके मानव ज्ञान के भंडार को बढ़ाना था। पिथागोर को इन दोनों में किसी तरह के विरोध के स्थान पर सामंजस्य ही सामंजस्य दिखाई देता था। उसका अपना जीवन इसी सामंजस्य का उदाहरण था। पिथागोर की मृत्यु के सदियों बाद तक यह दोनों सम्प्रदाय यूनान में उसके नाम से चलती रहीं और यूनानियों के धार्मिक जीवन और वैज्ञानिक उन्नति में इनसे यथेष्ठ लाभ पहुंचा।

पिथागोर का उद्देश्य था कि यूनानी यह समझें कि वे न केवल इस सीमित जीवन के वल्कि एक अनन्त जीवन के स्वामी हैं। उनके हृदय से मृत्यु का भय निकल जाये और वे यह विश्वास करें कि आत्मा इस शरीर के छूटने के बाद भी बिना खिन्न या विक्षिप्त हुए आगे की उन्नति करती रहती है। बड़े से बड़े यूनानी दार्शनिक और वैज्ञानिक इन सम्प्रदायों में दीक्षा लेते थे। सुप्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने अपने अनुभव से लिखा है कि इनमें दीक्षित को कोई नई किताबी शिक्षा नहीं दी जाती थी, बल्कि "उसे अपनी आत्मा के अंदर एक नए ढंग का अनुभव होता था और अंतर से एक प्रभाव पड़ता हुआ मालूम होता था।"*

यूनानी जन-सामान्य के व्यवहार और उनके सदाचार में भी पिथागोर के इन नए धार्मिक विचारों के कारण बहुत बड़ी उन्नति हुई।

जेनोफेन

पिथागोर के पश्चात् जेनोफेन ने देश-देशांतरों में भ्रमण करने के बाद उन मानसिक और नैतिक श्रृंखलाओं को, जिन्होंने यूनानी जन-सामान्य के मस्तिष्क को जकड़ रखा था और अधिक स्पष्टता के साथ प्रकट किया। मिस्रियों और यूनानियों, दोनों के प्रचलित देवी-देवताओं का खंडन करते हुए उसने उपदेश दिया—

"ईश्वर केवल एक है, वह सबसे महान है, उसका कोई रूप-रंग नहीं... फिर भी वह सब नेत्र ही नेत्र है, सब चैतन्य है, सब कान ही कान है, ... बिना परिश्रम वह सब पर शासन करता है, ... वह स्थिर है, अचल है... लेकिन लोगों ने ऐसे देवताओं की झूठी कल्पनाएं कर रखी हैं, जो मनुष्यों की तरह जन्म लेते है, शरीर

---

* Aristotle, Frag. p 45.

धारण करते हैं, कपड़े पहनते हैं और बोलते हैं ... अफरीका वालों के देवता काले और चपटी नाक के हैं, यूनानियों के भूरे वालों वाले और नीली आंखों के, ... महाकवि होमर जैसों ने तो देवताओं के साथ चोरी, व्यभिचार और छल-कपट जैसी वे बातें भी जोड़ दी हैं जो मनुष्यों तक के लिये लज्जाजनक और निंदनीय हैं... यदि पशुओं के हाथ होते और वे देवताओं की मूर्तियां बना सकते, तो निःसंदेह अपनी ही सी आकृति के देवता वे बनाते।"

एक दूसरे स्थान पर वह लिखना है–"सब वस्तुएं मिट्टी से पैदा हुई हैं और अंत में मिट्टी ही में मिल जायेंगी। ... हम सब मिट्टी और पानी से पैदा हुए हैं।"

दार्शनिक पृष्ठभूमि

एक दूसरे यूनानी विद्वान ने जेनोफेन के अध्यात्म-विद्या संबंधी मूल सिद्धातों को इन शब्दों में वर्णन किया है–"यह सब एक हैं और वह एक ईश्वर है।" यह भारतीय वेदांत के इस वाक्य "सर्वम् खलु इदम् ब्रह्म" का ठीक अनुवाद मालूम होता है।

हेराक्लीट

इसके बाद हेराक्लीट का समय आया, जिसे यूरोपीय अध्यात्म-विद्या का जन्म-दाता माना जाता है। हेराक्लीट के दार्शनिक सिद्धांत अत्यंत गूढ़ थे। नित्य परिवर्तन होने वाले विश्व की अंतर्हित एकता में उसे विश्वास था। अनैक्य में इस एक्य को अनुभव करना ही उसके अनुसार ज्ञान का लक्ष्य है और इस व्यापक एकता को लक्ष्य में रखकर विवेकपूर्ण आचरण करना मनुष्य का धर्म है। प्रचलित धार्मिक प्रथाओं का उसने खंडन किया।

हेराक्लीट के समकालीन परमेनीद के सिद्धांत बिल्कुल भारतीय अद्वैतवाद के सिद्धांत थे। उसका मूल सिद्धांत, जिससे वह अपने सारे दर्शन शास्त्र को प्रारंभ करता है, गीता के–

"नासतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सतः"

का अक्षरशः अनुवाद है। आत्मा को उसने एकमात्र अपरिवर्तनशील, नित्य, सत्य और

शेष सब परिवर्तनशील संसार को असत्य और केवल धोखा बनाया और उपदेश दिया कि–"जो कुछ है वह सब आत्मा ही आत्मा है।" उसने उपदेश दिया कि इस मूल सत्य को सामने रखते हुए विद्वानों का कर्तव्य है कि वह मनुष्यों को ऐहिक अभ्युदय के लिये शुद्ध वैज्ञानिक ढंग से गणित, ज्योतिष और विज्ञान की खोज में लगाए रहें।

अनक्षिमंदर

इन तत्ववेत्ताओं की इस आनरिक प्रवृत्ति के अनुकूल गूढ़ अध्यात्म के साथ-साथ यूनान में वैज्ञानिक उन्नति बरावर ज़ोरों के साथ जारी रही। अनक्षिमंदर ने पहली बार यूनान में धूप घड़ी का, सूर्य के दक्षिणायन और उत्तरायण होने के समय का पता लगाने के लिये ज्योतिष संबंधी यंत्र का और भौगोलिक मानचित्रों का प्रचार किया। उसने वैज्ञानिक ढंग से समझाने की चेष्टा की कि सूर्य एवं नक्षत्रों आदि की रचना किस प्रकार हुई। उसने बताया कि पृथ्वी के समस्त जीव-जन्तु नमी और गर्मी के मिलने से पैदा होते हैं।

महात्मा सुकरात

सुकरात को, "मस्तिष्क की दृष्टि से अपने समय का सबसे अधिक कुशाग्र बुद्धि, सदाचार की दृष्टि से सबसे अधिक पवित्र और उस समस्त युग का सबसे अधिक धर्मात्मा मनुष्य", कहा जाता है। सुकरात ईसा से 471 वर्ष पहले पैदा हुआ था। सुकरात के समस्त दार्शनिक और वैज्ञानिक सिद्धांतों को यहां वर्णन करना असंभव है। केवल संक्षेप में यूनानी संस्कृति के विकास में सुकरात के स्थान को दर्शा देना यथेष्ट होगा।

सुकरात के समय तक दर्शन शास्त्र का मुख्य संबंध विश्व की उत्पत्ति और रचना से था। सुकरात ने दर्शन को अधिक क्रियात्मक रूप दिया। उसके बाद से दर्शन का मुख्य उद्देश्य मनुष्य जीवन के लक्ष्य को स्थिर करना समझा जाने लगा। सुकरात का अपना दावा था कि परमेश्वर ने मुझे मनुष्यों के लिये एक संदेश देकर भेजा है और वह संदेश यह है–

"जीवन का महान काम अपनी आत्मा को समझना और उसका उद्धार करना

है। मनुष्य को चाहिये कि अपनी आत्मा को, जहां तक संभव हो सके, महान बनावे। उसे स्वयं ईश्वर के सदृश्य बनावे और अधिकांश मनुष्य जिस प्रकार अपने शरीर या संपत्ति की अधिक परवाह करके ओर अपनी आत्मा की कम परवाह करके अपने जीवन को नष्ट करते हैं वैसा न करे।"

सुकरात ने प्रतिपादन किया कि–"मानव सदाचार या मानव धर्म उन बातों के पालन करने में नहीं है जिनसे एथेन्स वालों का भला हो, या स्पार्टा वालों का भला हो, या यूनानियों का भला हो, बल्कि उन बातों का पता लगाने ओर उनके पालन करने में है, जिससे मनुष्य मात्र का कल्याण हो। हमारे धर्म का संबंध इस बात से नहीं है कि हम किसी देश विशेष से अपनापन अनुभव करते हैं और न इस बात से है कि हम मानव इतिहास में किसी खास सभ्यता या संस्कृति मे पेदा हुए हैं; बल्कि केवल इस बान से है कि हम विशाल मानव कुटुम्ब के अग है।"

सुकरात की मानव-धर्म की कल्पना एक व्यापक कल्पना थी। पिथागोर के उपदेशों का उसके विचारो पर काफी प्रभाव दिखाई देता है।

राजशास्त्र या राजनीति को वह धर्म का ही एक अंग मानता था। "शासको और राजनीतिज्ञों का कर्तव्य भी आत्मा की खबर लेना है, न केवल अपनी आत्मा की बल्कि उन सबकी आत्माओं की जिन पर वह शासन करता है। उन सब आत्माओं को जहां तक संभव हो सके महान बनाना, यही राज-शासन का मूल तत्व है।"

सुकरात अपने समय के प्रजातंत्रवादी विचारों का विरोधी था। उसका आक्षेप था कि–

"मानव कल्याण को न समझ सकने वाले अदूरदर्शी लोगों को ये अपना नेता चुन लेते हैं। और उनके हाथों में सारे समाज की बागडोर दे देते हैं। प्रजातंत्रवादी अन्य अनेक बातों में तो विशेषज्ञों को ढूंढ़ते हैं और सिवाय विशेषज्ञों के दूसरे की राय नहीं सुनते किंतु जब किसी राजनैतिक नीति के औचित्य, उसकी न्यायता और उसके परिणामों पर बहस करनी होती है, तो जितने मतदाता होते हैं जो सबकी राय को एक बराबर गिन लेते हैं।"

समकालीन यूनानी शासकों से वह असंतुष्ट था। उसका कहना था कि–

"ये लोग जन-सामान्य के केवल शरीरों के नौकर हैं। ये अपने समाज के वैद्य नहीं हैं। क्योंकि ये धार्मिक जीवन और संयम को नहीं बढ़ाते जिनसे समाज का आध्यात्मिक स्वास्थ्य संभले। इसके विपरीत ये उन्हें ऐसी वस्तुएं देते ह जैसे जल-सेना और व्यापार। राष्ट्र की महत्ता का माप उन्होंने धन और साम्राज्य को बना रखा है, चरित्र को नहीं।"

राजनीति के अपने इस आदर्श के अनुकूल ही सुकरात, "स्त्रियो को सर्वोच्च-राजनीति और युद्ध दोनों में भाग लेने के योग्य" मानता था।

सुकरात का व्यक्तिगत जीवन अत्यंत संयमी, सच्चा, सरल और पवित्र था। सरदी हो चाहे गरमी वह एक ही चोगा पहने रहता था, किंतु कभी चोगे के नीचे कुरता या पैरा मे जूता उसने नहीं पहना। वह हंसमुख था। कभी किसी के दिल को उससे दुख नहीं पहुच सकता था। दूसरों की कमज़ोरियों के लिये उसका हृदय सदा गहरी सहानुभूति से भरा रहता था। वह मर्मी और रहस्यमय मालूम होता था। कभी कभी वह लगातार चौबीस घटे नक गहरी समाधि की हालत में रहता था। उसका कहना था कि उसे बहुधा अपने भीतर से एक अनहद नाद सुनाई देता है जो उसे बुराई से रोकता रहता है। एक ईश्वर में उसे प्रचंड विश्वास था। आत्मा को वह ईश्वर का एक अंश और अमर मानता था। अन्य शिक्षित यूनानियों की तरह वह यूनानी पौराणिक कथाओं और अनेक देवी-देवनाओं, सबको कपोल-कल्पित और मिथ्या मानता था। असत्य और बनावट से उसे सबसे अधिक घृणा थी। गणित और ज्योतिष का वह धुरंधर पंडित था।

जिस एथेन्स की रियासत में सुकरात पैदा हुआ था वहां के धार्मिक और राजनैतिक नेता उसके विचारों को सहन न कर सके। 70 वर्ष की आयु में उस पर "अधर्मी" और "राजद्रोही" होने का आरोप लगाया गया। कहा गया कि वह देश के "युवकों को प्रजातंत्र के विरूद्ध बहकाता और पथ-भ्रष्ट करता है।" और "देश के प्रचलित धार्मिक विचारों का तिरस्कार करता है।"[1] 500 व्यक्तियों की नगर-सभा में बहुमत से दोषी ठहरा कर सुकरात को प्राण-दण्ड की सज़ा दी गई। सुकरात ने बड़ी प्रसन्नता के साथ हंसते-हंसते यूनानी प्रथा के अनुसार विष का प्याला पीकर अपनी जीवन यात्रा का अंत किया।

सुकरात के इस पवित्र बलिदान पर अपने विचार व्यक्त करते हुए महात्मा गांधी ने सन् 1908 में लिखा था–

"उसकी नैतिकता और उसके गुणों को कितने ही अनजान आदमी नहीं देख सके, इससे उस पर झूठे इलज़ाम लगाने लगे। सुकरात बड़ा ईश्वर-भीरु था; इसलिए लोगों की टीका टिप्पणी की बहुत परवाह न करता था। मृत्यु का उसे कोई भय न था। स्वयं सुधारक था और यूनान की राजधानी एथेन्स के लोगो मे जो बुराइयां आ गई थीं उन्हें दूर करने का प्रयत्न कर रहा था। ऐसा करते हुए उसे बहुतो के सम्पर्क में आना पडता था। नवयुवकों के मन पर उसने बहुत अच्छा असर डाला था और उनके झुण्ड के झुण्ड उसके साथ साथ फिरते थे। इससे कितने ही लुटेरों को लूट का अवसर मिलना बद हो गया। लोगों को बिगाड़ कर जो अपनी कमाई करते थे, उनकी कमाई में विघ्न पड़ने लगा।

"एथेन्स में ऐसा नियम था कि जो लोग वहां के विधान-सम्मत धर्म के अनुसार आचरण न करे और दूसरों को भी न करने की शिक्षा दें उन्हें अपराधी माना जाये। ऐसे आदमियों का दोष सिद्ध हो जाने पर उन्हें प्राण-दंड दिया जाना था।

"सुकरात स्वयं राजधर्म के अनुसार ही चलता था। लेकिन उसमें जिस पाखण्ड का समावेश हो गया था उसे नष्ट करने का वह दूसरो को निर्भयनापूर्वक उपदेश देता और खुद भी पाखण्ड से दूर रहता था।"

संत अफलातून

सुकरान के बाद उसके प्रधान शिष्य अफलानून (प्लेटो) ने अपने गुरु की शिक्षा का प्रचार जारी रखा। उसने सुकरात द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों की विशद मीमांसा की। स्वयं सुकरात ने कभी कोई पुस्तक नहीं लिखी। अफलातून ने ही अपने गुरु के विचारों को लेखबद्ध करके उन्हें संसार के सामने रखा और स्वयं उन्हें विस्तार और उन्नति दी।

अफलातून के प्रमुख ग्रंथों की संख्या 36 है। इनमें से कई तो अत्यंत मोटी पोथियां हैं। यूरोप की आज तक की समस्त दार्शनिक और वैज्ञानिक उन्नति का मुख्य आधार अफलातून की ही शिक्षा समझी जाती है। उसके द्वारा प्रनिपादित सिद्धांत

आज दिन तक लगभग अपौरूषेय, निर्भ्रान्त और अमर प्रर्नात होते है। अफलातून जैसे प्राचीन ओर महान तत्ववेत्ता के अत्यंत गूढ़ और वैज्ञानिक सिद्धाता की सरस व्याख्या कर सकना असभव है। हम केवल उसके उपदेशो का सार-सग्रह ही यहा दे सकते है, जिससे उस युग की सास्कृनिक स्थिति का अनुमान हा सके।

अफलातून अरिस्टान का पुत्र ओर अरिस्टाक्लीज का पोत्र था। मा के पक्ष से वह प्रसिद्ध यूनानी सुधारक सोलन का वशज था। प्रारंभ मे अफलातून का नाम अपने पितामह के नाम पर ही अरिस्टाक्लीज रखा गया। किंतु उसके बलिष्ठ शरीर और चौडे कधो के कारण उसके व्यायाम शिक्षक ने उसका नाम अफलातून (प्लटो) रख दिया ओर इसी दूसरे नाम से वह विख्यात हुआ। अफलातून को बचपन से ही व्याकरण, गणित, सगीत और काव्य की शिक्षा दी गई। एक प्रसिद्ध व्यायाम-शिक्षक द्वारा उसे व्यायाम की शिक्षा मिली। उसका शैशव और कौमार्य यूनान के धनी कुमारों के समान ही बीता। शिक्षा समाप्त करके वह काव्य-संगीतों के लिखने मे लग गया।

अफलातून जब 20 वर्ष का युवक था तो एक दिन सयोग से उसे सुकरात का उपदेश सुनने का अवसर मिला। सुकरात के उपदेशों का उसके हृदय पर अत्यन गहरा प्रभाव पड़ा। वह घर लौटा और बेचैन होकर अपने जीवन के उद्देश्यो पर विचार करता रहा। रात भर उसे नीद नहीं आई किंतु सुबह जब वह उठा तो उसका दिमाग साफ था। प्रातःकालीन सूर्य-रश्मियों ने उसके दिल और दिमाग को चमका दिया था। उसने सुकरात को मन ही मन अपना गुरु वरण कर लिया था। उसने अपने समस्त जीवन को उसी के उपदेशों के अनुसार चलाने का निश्चय कर लिया था। उमग में भरकर उसने शय्या परित्याग की और सबसे पहला काम यह किया कि जितनी कविताएं उसने लिखी थीं उन्हें अग्नि को समर्पित कर दिया। वह प्रसन्न-बदन सुकरात के पास पहुंचा और अपने निश्चय को बताया। अपनी 20 वर्ष की अवस्था से लेकर 30 वर्ष की अवस्था तक, (सुकरात की विष-पान की घड़ी तक), वह सुकरात का शिष्य रहा। सुकरात की मृत्यु का अफलातून पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा।

उसी वर्ष, अर्थात् 399 ई.पू. में, वह ज्ञान की खोज मे देश-देशातरो में घूमने के लिये निकल पड़ा। 13 वर्ष तक उसने मिस्र में रहकर वहां के आचार्यो से शिक्षा ग्रहण की। मिस्र से वह इटली पहुंचा और वहां से सिसली। सिसली में उन दिनों डाइनोसियस नामक एक अत्याचारी शासक शासन कर रहा था। अफलातून की

स्पष्टवादिता से वह क्रुद्ध हो गया ओर उसने अफलातून को एजीना नामक द्वीप मे दास बनवाकर बिकवा दिया। अफलातून को बहुत थोडा सा समय गुलाम की हैसियत से व्यतीत करना पड़ा क्योकि शीघ्र ही उसके स्वामी को उसकी असाधारण विद्वत्ता का परिचय मिला। उसने अफलातून को आदरपूर्वक मुक्त कर दिया। अफलातून एथेन्स आया और 'एकाडेमी' नामक बाग मे उसने अपनी पाठशाला खोली। इसीलिये उसकी शिक्षाओ का नाम 'एकेडेमिक' पडा। तब से लेकर अब तक ससार मे सभी विश्वविद्यालयो का पाठ्यक्रम ओर विद्वता की योजनाए 'एकेडेमिक' कहलाने लगी।

अफलातून की 'एकेडेमी' ९०० वर्ष से ऊपर तक जारी रही और गणित, ज्योतिष, पदार्थ-विज्ञान इत्यादि की शिक्षा का एक महान केद्र रही। धीरे-धीरे उसने यूनान के अंदर विश्वविद्यालयो ओर असख्य विद्यालयो को जन्म दिया। एक ओर तो अफलातून सुकरात ही के समान ध्यान और समाधि का आदी, रहस्यमय ओर अत्यन्त स्नेही स्वभाव का था, दूसरी ओर ससार के बडे से बडे वेज्ञानिक स्वीकार करते है कि उससे बढकर कुशाग्र वेज्ञानिक-मस्तिष्क की कल्पना नही हो सकती।

दार्शनिक अरस्तू

यूनानी त्रिमूर्ति मे अतिम महान नाम अरस्तू का है। ईजियन सागर के पश्चिमोत्तर तट पर स्थित स्टैगिरा नामक नगर मे ३८४ ईसा पूर्व मे अरस्तू का जन्म हुआ। अरस्तू का पिता निकोमेकस मकदूनिया मे सिकन्दर के पितामह अमिन्तास द्वितीय का निजी डाक्टर था। जवकि सुकरात ओर अफलातून दोनो एथेन्स निवासी थे, अरस्तू आयोनी था। यह एक मार्के की बात है कि यूनानी सभ्यता के प्रगतिकाल में एथेन्स वाले दर्शन (फिलासफी) मे अधिक रुचि रखते थे और आयोनिया (एशिया-कोचक) वाले प्रकृति विज्ञान मे। अरस्तू के बारे मे कहा जाता है कि वह सिर से पैर तक आयोनी था और विज्ञान की विस्तृत से विस्तृत विवेचना उसकी उत्कंठा को कम न करती थी। किंतु अरस्तू केवल वैज्ञानिक ही न था। वह दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, तर्कशास्त्री, नैतिकता का प्रचारक, राजनैतिक विचारक, प्राणि-विज्ञान शास्त्री और साहित्य-समालोचना का जन्मदाता था।

17 वर्ष की आयु में वह एथेन्स में अफलातून के विद्यालय 'एकेडेमी' नें शामिल हुआ और 20 वर्ष तक, अर्थात् अपनी आयु के 37वें वर्ष तक, अपने गुरु अफलातून

के चरणो में ज्ञान की साधना करता रहा। यह साधना की शृखला उसी समय टूटी जब अफलातून की मृत्यु हुई। अपनी मृत्यु के समय अफलातून ८१ वर्ष का था और उस समय भी वह अत्यत प्रेम से अपने विद्यार्थी मित्रों की टोली के साथ सत्य और नेकी की शोध मे लगा हुआ था। इस समय 'एकेडेमी' मे जहा वैज्ञानिक विधि से गणित, ज्योतिष, वैद्यक आदि की शिक्षा के साथ-साथ अफलातून के अपने ग्रथो का अध्ययन भी विद्यार्थी करते थे, वहा कानून और वैधानिक विषयो की भी चर्चा होती थी।

अरस्तू के मूल सिद्धात लगभग वही थे जो अफलातून के थे। अतर यह था कि अफलातून ने अधिक ध्यान दर्शन और अध्यात्म की ओर दिया और अरस्तू ने विज्ञान और प्रकृति के अध्ययन की ओर। अफलातून को गणित से अधिक प्रेम था और अरस्तू को प्राणि-विज्ञान से। अरस्तू ही आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता के अनेक विज्ञानो का जन्मदाता माना जाता है। दार्शनिक वह था ही। अध्यात्म, मनोविज्ञान, न्याय शास्त्र, सदाचार शास्त्र, राजनीनि, प्राणि-विज्ञान, जीव विज्ञान, पशु विज्ञान, पदार्थ विज्ञान, शरीर विच्छेद विद्या (एनाटमी) और वैद्यक आदि सब विषयो पर उसने अलग-अलग ऊची श्रेणी के ग्रथ लिखे, जिनमे से अनेक अधिकाश बातो मे अभी तक प्रामाणिक माने जाते है। लिखा है कि सिकन्दर के साथ यूनानी विद्वानो का एक समूह ईरान, भारत और मिस्र आया था जो लौटते समय अपने साथ वैज्ञानिक अध्ययन की बहुत सी सामग्री इन देशो से यूनान ले गया था। उस सामग्री से अरस्तू को अपने अपूर्व ग्रथो की रचना मे बहुत बड़ी सहायता मिली। उसके जीवन के अतिम तेरह वर्ष शुद्ध वैज्ञानिक खोज मे ही बीते।

इस पर भी उसने लिखा है कि बाहर की ओर हम ज्ञान की कितनी ही खोज क्यो न करें "ध्यान और एकांत सेवन ही में वह परम शक्ति प्राप्त होती है जिसमे मनुष्य ईश्वर के दर्शन कर सकता है।" "मनुष्य जिस दरजे तक अमरत्व को पकड सकता है ध्यान से ही पकड़ सकता है।" अरस्तू का दिमाग जितना तेज था उसका हृदय दीनों और दुखियों के लिये उतना ही प्रेमातुर था।

अरस्तू का "सदाचार शास्त्र" अभी तक संसार के महान ग्रंथों मे गिना जाता है और बड़े से बड़े विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है। न्याय शास्त्र में यूरोप आज तक अरस्तू के लिखे हुए नियमों और विचारों से अधिक आगे नहीं बढ़ सका और

तेरहवीं सदी के सिवाय अरस्तू की पुस्तक के इस विषय पर कोई दूसरी पुस्तक यूरोप के विश्वविद्यालयों में अध्ययन के लिये प्राप्त नहीं थी। गत बाइस शताब्दियों में यूरोप के लाखों विद्यार्थियों और सैंकड़ों बड़े से बड़े विद्वानों ने अरस्तू की अनेक पुस्तकों से ही वैज्ञानिक ढंग से सोचना और वैज्ञानिक खोज करना सीखा। पशु और मानव शरीर के वैज्ञानिक 'विकासवाद' का सिद्धांत यूनान में अरस्तू के पहले से चला आता था। अरस्तू ने उसे विस्तृत रूप दिया और 19वीं सदी में जबसे इस सिद्धांत की और नये सिरे से संसार के वैज्ञानिकों का ध्यान गया तब से संसार की वैज्ञानिक उन्नति में अरस्तू का मस्तिष्क और उसका पद अनन्य रूप से स्वीकार कर लिया गया।

जनतांत्रिक भावना की प्रगति

यूनान में धीरे-धीरे जनतंत्र की भावना जनना में फैल रही थी। अंत मे एक साहसी और योग्य व्यक्ति के हाथों में सत्ता की बागडोर आ गई। इस व्यक्ति का नाम था—कलस्थनेज। कलस्थनेज ने समाज को नये सांचे में ढाला। एथेन्स के राज को तीन क्षेत्रों में बांटा। कुल जनसंख्या के दस जिर्गे बना दिये। हर जिर्गे में तीन क्षेत्रों का एक-एक गिरोह सम्मिलित किया। उन जिर्गो की एक-एक मजलिस बनाई जिसके 500 सदस्य थे। उसमें हर जिर्गा 50 प्रतिनिधि भेजता था।

इस मजलिस के सुपुर्द समस्त राज-प्रबंध था, इसलिये सारी जनता राजप्रबंध के लिये उत्तरदायी थी। प्रत्येक कानून बनाने का अधिकार जनता की सभा के हाथों में था। इनके बनाने में एथेन्स का हर नागरिक भाग ले सकता था। कलस्थनेज ने सेनाओं के प्रबंध में भी परिवर्तन किया। प्रत्येक जिर्गे का यह कर्तव्य ठहरा दिया गया कि वह पियादों की रेजिमेंटें और सवारों के दस्ते भरती करे और उनके कमानदारों (कमांडरों) को जिर्गे के वोट से चुने। यह दस कमानदारों की समिति फौजी मामलों में सियाह-सफेद की मालिक हुई। इन सुधारों से जन-स्वातंत्र्य की धारा फूट पड़ी। कलस्थनेज को 'यूनानी जनतंत्र का जनक' कहा जाता है।

बहुत समय न बीता था कि आजादी की परीक्षा का समय भी आन पहुंचा। एशिया में ईरान की शक्ति दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ रही थी। ईरानियों की अपराजित सेनाओं ने सिंधु की उपत्यका से भू-मध्य सागर तक के समस्त देशों को रौंद डाला।



वृषभ-वध करते हुए मित्र-देवता की रोमन मूर्ति



ईसा पूर्व पांचवीं सदी में निर्मित आथेना देवी का मंदिर। यह ग्रीक जगत का सर्वप्रसिद्ध पार्थेनोन् मंदिर हे जो राष्ट्र का विजय-प्रतीक था।

सम्राट दारा ने दर्रेदानियाल को पार कर यूरोप पर भी आक्रमण कर दिया। दारा के सेनापतियों ने उत्तरी बलकान में थेरीस और मकदूनिया पर कब्जा कर लिया। अब क्या था। यूनानी जनतंत्र और ईरानी राजतंत्र का आमना-सामना हुआ। माराथों के युद्ध-क्षेत्र में समुद्र के किनारे पहली मुठभेड़ हुई। जनतंत्र ने राजतंत्र को नीचा दिखाया। दारा विनम्र होकर वापस लौट गया। पर उसके उत्तराधिकारी आर्त्तक्षत्र ने बदला लेने की ठानी।

ईरानियों के दल-बादल उमड़-घुमड़ कर आ गरजे। यूनानियों ने अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के निमित्त प्राणों पर खेल जाना अच्छा समझा। उन्होंने अपनी सेना का नेतृत्व स्पार्टा के जनरल लियुनीदास के हाथों में सौंपा। उसने कुल 300 शूरमाओं के साथ धर्मापली की घाटी में डेरा जमाया। आर्त्तक्षत्र के लश्कर ने उन पर आक्रमण किया। घमासान् लड़ाइ हुई। लियुनीदास तो पहले ही काम आया, पर उसके सैनिक सारा दिन उसकी लाश के गिर्द वीरता के जौहर दिखाते रहे। अंत में मैदान ईरानियों के हाथ रहा। लेकिन घर्मापली की हार यूनानियों के लिये जीत से बढ़कर साबित हुई। उसने यूनानियों के जोश को उभारा। एथेन्स-निवासियों ने नगर खाली कर दिया और समुद्र की शरण ली। समुद्र की गोद में तो ये पले ही थे। समुद्री लड़ाई में कौन उनसे पार पा सकता था। नन्हा-सा सालायस का द्वीप एथेन्स के बंदरगाह की दरबानी करता है। वहीं उन्होंने ईरानी बेड़े को ललकारा। ईरानी भी अपने सम्राट के लिये जान तोड़ कर लड़े। पर उनके कुछ जहाज तो समुद्र में डूब गये और कुछ तितिर-बितिर हो गए। बेड़े की हार ने सेनाओं का दिल तोड़ दिया। अब जो सामना हुआ तो पलीटिया के युद्ध क्षेत्र में आजादी की किस्मत का फैसला हुआ। ईरानी सेना पराजित होकर भागी और ईरानी सेनापति मारा गया। ईरानी राजतंत्र को यूनानी जनतंत्र ने कुचल कर दुनिया पर आधिपत्य करने के सुनहले स्वप्न झूठे किए। यूनानियों ने 'आजादी का त्योहार' (एलोथेरिया) प्रचलित किया, जो हर चौथे वर्ष मनाया जाता था।

ईरानी अवरोध का हटना था कि जन-स्वातंत्र्य की बाढ़ आई। अमीरी हुकूमत के बचे-खुचे खंडहर साफ हो गए। जनतंत्र की इमारत शानदार बुर्जियों और आसमान से बातें करने वाले गुम्बदों से सजाई गई। कुछ ऊंचे ओहदे, गरीब और अमीर, हर एक के लिये खोल दिये गये। जन-सभा हर काम का निर्णय करने और कानून चलाने

में पूर्ण स्वतंत्र हो गई। न्यायालयो की कार्यवाहियों में जनता की ही आज्ञा सर्वोपरि मानी गई। अफसरों की नियुक्ति के लिये चुनाव की प्रणाली प्रचलित की गई और सभा तथा न्यायालयों में काम करने वालों के लिये वेतन की व्यवस्था की गई। एथेन्स का हर निवासी हर ओहदे पर पहुंच सकता था। जो आज मूंज की रस्सी बंटने वाला था वह कल सेना का कमांडर हो सकता था। जो कल तक सड़कों पर लैम्प जलाता फिरता था, वही दूसरे दिन शहर का मैजिस्ट्रेट बन सकता था। अंत में वह दिन आ पहुंचा जब हर मनुष्य विश्वास के साथ हर एक अच्छे से अच्छे ओर ऊचे से ऊंचे कार्य को पूरा करने के योग्य समझा जाने लगा, जो मानवता के लिये शोभनीय हो और मनुष्य के चरित्र ओर बुद्धि के लिये उपयुक्त हो। अत मे यूनान ने उस आजादी को पा लिया जिसके आगे कोई समाज नहीं जा सका।

आइये यूनानी जनतंत्र की बुनियादों को परखे। देखें वह कितनी गहरी और ठोस हैं, जिनके सहारे स्वतंत्रता का महल खड़ा किया गया। यूनानी सभाओ और यूनानी मस्तिष्क की थाह लें और उस स्वतंत्रता के भेद की तह तक पहुंचे। पहली बात जो उनके मस्तिष्क में विशेष रूप से दिखाई देती है, वह उनकी सादगी है। उनके यहां न बनावट है न उतार-चढ़ाव। जो चीज जैसी है उनका मस्तिष्क उसका वैसा ही अक्स उतारता है। वह प्रकृति के दृश्यों को देखते हैं, मगर आंखों पर रंगीन ऐनक चढ़ाकर नहीं। वह प्रेम के बहावों में मस्त होते हैं किंतु न तो उसके पीछे पशुओं की तरह कीचड़ में लोटते हैं और न देवताओं की तरह आसमान में उड़ते हैं। वह मौत से आंख मिलाते हैं। उसके जुल्मों को समझते हैं लेकिन उसके तमाचों से मुंह नहीं मोड़ते। रोने-धोने में व्यर्थ समय नहीं खोते। उनकी जन-सभाओं की सादगी उन्हें सच्चाई का पाठ पढ़ाती है। उनके मस्तिष्क की दूसरी विशेषता भी बड़ी अनोखी है। उनकी हर बात नपी-तुली होती हे। उनके सोच विचार में, उनके व्यवहार में एक विशिष्टता है। उनकी हर बात औचित्य की सीमा के भीतर होती है। इसलिये वह आदमी के बदन में सुडौलपन चाहते हैं। रहने के मकानों में, उपयोग में आने वाले सामानों में, बरतन-भांड़ों में, पहनने के वस्त्रों में सलीका बरतते हैं। उनके निकट सम्पत्ति उसी सीमा तक उचित है कि आदमी न तो तंगहाल रहे, न ऐश में डूबा रहे। क्योंकि मर्यादा के उल्लंघन से आदमी सच्चरित्र नहीं रह सकता। वह नेकियों में सबसे ऊंची जगह न्याय को देते थे। आत्मा की तराजू के पलड़े बराबर और

उसकी डंडी सीधी रहनी चाहिये; जहां डंडी टेढ़ी हुई कि आदमी का दिल बिगड़ा और दुश्चरित्रता का प्रारंभ हुआ। इसलिये सबसे बड़ा दुर्गुण मर्यादा का उल्लंघन है। मनुष्य की आवश्यकताएं कई प्रकार की हैं। एक जिनका संबंध उसके शरीर से हैं और दूसरा जिनका संबंध उसकी आत्मा से है। दोनों को पूरा करना चाहिये। इस तरह क्रम का विचार रहे, पद की भावना रहे। यह विशेषता यूनानियां की घुट्टी में पड़ी थी। सुंदरता की धारणा उनकी रग-रग में समाई हुई थी। उससे चित्रकला में, आभूषणों के गढ़ने में, भवनों के निर्माण में उन्होंने जो कीर्ति उपार्जित की वह कदाचित ही किसी और क़ौम को नसीब हुई हो। यूनानियों ने विज्ञान और दर्शन, कला और साहित्य में ऐसी प्रगति की कि आज तक दुनिया हैरत में है। यूनान यूरोप की संस्कृति का गहवारा है। उसके दार्शनिक, कवि, नाटककार और इतिहासज्ञ आज भी यूनान का आभार मानते हैं।

एक अंतिम बात जो ध्यान देने योग्य है, वह यूनानियों का आदमी और ईश्वर का संबंध है। आदमी का उनके यहां बड़ा सम्मान और मूल्य था। कम से कम यूनानी नसल के आदमी को वह हेय और बेचारा मानने को तैयार नहीं थे। यही नहीं वह हर यूनानी को वास्तविकता में एक दूसरे के बराबर समझते थे। इसीलिये हर एक को इसका अवसर देते थे कि वह अपनी योग्यता के अनुसार अपनी समझ से जैसा पेशा, जैसा जीवन चाहे अंगीकार करे। हर एक को अपना मत प्रकट करने की स्वतंत्रता थी। हर एक के साथ समता का व्यवहार था। हर एक के लिये एक से नियम और प्रतिबंध थे। यह ऐसा दृढ़ और गहरा विचार था कि वह देवी-देवताओं को भी मानव से अधिक महत्व नहीं देते थे। उनके यहां कोई विशेष सीख ऐसी न थी जिसे वे देवताओं की दी हुई मानते हों। देवताओं की कथाएं काव्य-ग्रंथों में बंद थीं और उनमें देवताओं की ऐसी ही स्थिति दिखाई गई थी जैसी साधारण मानव की। इसलिये इनका धर्म इनकी बुद्धि को ईमान की जंजीरों में कैद नहीं रखता था। वह देवताओं को भी उसी कसौटी पर परखते थे जिस पर दुनिया की और सब चीजों को परखा जाता था। उनके इतिहास में धार्मिक अत्याचार या धर्मान्धता की बात बहुत कम मिलेगी। उनका धर्म उन्हें नहीं सिखाता था कि दुनिया को धोखा समझो। परलोक को, जिसे न देखा है न सुना, सच्चा समझो। वह तो इस लोक को आदमी के आत्मिक और दैहिक द्वन्द्व में हार-जीत का मैदान समझते थे। मानव को मानव की सहायता से ऐसा बनाना चाहते थे कि उसकी आत्मा की दबी हुई शक्तियां पूरी तरह से उभर

आएं। व्यक्ति और समाज में ऐसा मेल हो कि बैर और फूट का खटका बंद हो जाये। आदमी की बांसुरी से मन मोहने वाला सुर निकले। दुनिया स्वर्ग का नमूना बन जाय। यही उस समय के यूनानी जनतंत्र का वास्तविक स्वप्न था।

सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि

सबसे मुख्य बात जिसने यूनानियों को इस असाधारण उन्नति में सहायता दी, वह अन्य प्राचीन देशों के साथ उनका संबंध था। मिस्र, शाम और एशिया-कोचक इससे सहस्त्रों वर्ष पूर्व उन्नति के शिखर पर पहुंच चुके थे। जिस आर्य जानि से यूनानियों का निकास हुआ था उसी जाति के लोग भारत और ईरान में उच्चतम सभ्यताएं कायम कर चुके थे। इन सबके साथ यूनानियों का प्रारंभ से गहरा संबंध था और वह यूनानी सभ्यता के जीवन-काल में बराबर बढ़ता चला गया।

यूनानी भाषा का शब्दकोष और उसका व्याकरण और शब्दों के रूप सब संस्कृत से इतने अधिक मिलते-जुलते हैं कि न केवल संसार के समस्त भाषा-विज्ञान विशारद ही इस बात पर एक मत हैं, बल्कि एक सरसरी निगाह डालने वाले को भी दिखाई दे सकता है कि यूनानी भाषा संस्कृत की अनुलोम वंशज है।

यूनानियों के अधिकतर देवता और धार्मिक विचार वैदिक नामों और भारतीय विचारों से मिलते हुए थे। शुरू की शताब्दियों में प्राचीन यूनानी अपने मुर्दे जलाते थे। प्राचीन यूनानियों का पहनावा और रहन-सहन मिस्रियों या ईरानियों की अपेक्षा भारतवासियों से अधिक मिलता-जुलता था। सिकन्दर के साथ जो यूनानी एशिया आए थे वे एशिया के अनेक देशों में और विशेषकर पश्चिमी एशिया के अनेक भागों में यह देखकर चकित रह गए कि वहां के लोगों में ठीक उसी तरह के रस्म रिवाज और वही पौराणिक कथाएं प्रचलित थीं जैसी यूनान में।

यूनानियों की वर्णमाला, जिससे बाद में यूरोप की सब आधुनिक वर्णमालाएं निकलीं, साफ प्राचीन शाम की हिब्रू वर्णमाला से निकली है। यूनानी 'एल्फा' (अ), 'बीता' (ब), 'गामा' (ज और ग), 'देल्ता' (द) इत्यादि हिब्रू 'अलिफ' (अ), 'बेथ' (ब), 'जिमेल' (ज), 'दालेथ' (द) इत्यादि से निकले हैं, जिनका अधिक उन्नत और अधिक संस्कृत स्वरूप आजकल की फारसी वर्णमाला है। पश्चिमी एशिया की ये लिपियां, जो आजकल दाहिने से बाएं को लिखी जाती हैं, पहले सब बाएं से दाहिने

को लिखी जाती थीं, किंतु इनके प्राचीन मिस्री और प्राचीन सस्कृत लिपि के परस्पर संबंध के विषय में अभी विद्वानों मे मतभेद है।

प्रारंभ के लगभग समस्त यूनानी जिज्ञासु और विद्वान पहले मिस्र में आकर वर्षो शिक्षा ग्रहण करते थे। ईजियन सभ्यता के खंडहरों में भी यूनानियो को अनेक अमूल्य रत्न मिले। सीरिया और एशिया कोचक में यूनानी ज्ञान-विज्ञान के केंद्र थे ही। ईरान के धर्म और ईरानी सस्कृति से यूनानियों ने बहुत कुछ सीखा। भारतीय दर्शन और भारत के धार्मिक विचारों का प्रभाव, विशेषकर यूनानी दार्शनिक पिथागोर के समय से, यूनानी विचारों पर स्पष्ट दिखाई देता है। पिथागोर और तीर्थंकर पार्श्वनाथ समकालीन थे। पिथागोर भारत भी आया था। यूनानी किंवदंती के अनुसार जब वह भारत से वापस गया तो उसने अहिंसा, सत्य और अस्तेय का व्रत लिया और श्वेताम्बर मुनियों की तरह केवल सफेद वस्त्र पहनना शुरू किया। इस प्रकार समस्त प्राचीन सभ्यताओं से यूनानियों को यथेष्ट सहायता मिली और आगे के वृतांत से पता लगेगा कि वास्तव में प्राचीन यूनानी सभ्यता एशिया और यूरोप को जोड़ने वाली कड़ी थी।

यूनानी साहित्य में सबसे पहला आदरणीय नाम महाकवि होमर का है। होमर ने कोई नया आदर्श यूनानियों के सामने नहीं रखा, न उनके ज्ञान में कोई विशेष वृद्धि की। उसने अपने अमर महाकाव्यों 'ऐलेड' और 'ओडेस्सी', में यूनानियों के उस समय तक के विचारों और गाथाओं का केवल संग्रह कर दिया। ऐलेड और ओडेस्सी की ये गाथाएं वैदिक गाथाओं और प्राचीन हिंदुओं और ईरानियों की पौराणिक कथाओं से बिलकुल मिलती-जुलती हैं। होमर एशिया-कोचक का रहने वाला था और वहीं रहकर वहीं की भाषा में उसने अपने महाकाव्य रचे।

इसके बाद ईसा से पहले की छठवीं सदी से यूनानी विद्वानों ने नए ज्ञान की खोज में बाहर जाना प्रारंभ किया। इस समय से ही दर्शन और विज्ञान दोनों में यूनान के अंदर उच्च कोटि के मौलिक ग्रंथ रचे जाने लगे।

यूनान में साहित्य तथा संगीत की शिक्षा राष्ट्रीय जीवन के साथ संबद्ध थी। उनके राष्ट्रीय त्योहारों की सूची में 60 त्योहार थे जो प्रति वर्ष मनाए जाते थे। उत्सवों में न केवल जुलूस, खेल-कूद, मेले-तमाशे ही होते थे बल्कि संगीत तथा अभिनय प्रदर्शन की भी व्यवस्था होती थी। पेरीक्लीज ही के समय में प्रसिद्ध यूनानी नाटककार

हुए जिन्होंने दुःखांत तथा हास्य प्रधान नाटकों की रचना की। एस्कीलस, सोफोक्लीज़, यूरोपिडीज आदि साहित्यकार दुःखांत नाटकों के रचयिता हैं। इनके नाटकों ने न केवल यूनान को ही प्रभावित किया बल्कि संसार के समस्त देशों की अभिनय कला को प्रोत्साहन दिया। हास्य प्रधान नाटकों का प्रधान विषय होता था--राजनैतिक क्षेत्रों में कार्यरत अधिकारियों की खिल्ली उडाना।

यूनानी साधारणतया विद्याव्यसनी थे। वे सौंदर्य के उपासक थे। विज्ञान तथा साहित्य में उन्हें विशेष अभिरुचि थी। यूनान के पारिवारिक जीवन को पेरीक्लीज द्वारा प्रतिपादित आदर्शो ने वहुत कुछ प्रभावित किया। नागरिक घरों में केवल भोजन करने और रात्रि को विश्राम करने के लिये आते थे। उनका शेष समय या तो व्यायामशाला में बीनता था, या नागरिक सभा में अथवा रंगशाला में। चतुर और वाक्-पटु मनुष्य शीघ्र ही नेता बन जाते थे। वार्तालाप करना मनोरंजन तथा शिक्षा का साधन था। यूनानी नागरिक को अवकाश काफी मिलता था। सवेरे अपना कलेवा कर वह हज्जाम की दुकान में जाना था। वहां हर तरह की चर्चाएं चलती थीं। फिर बाजार में सौदा खरीदने जाना था। तीसरे पहर जलपान कर नागरिक-सभा में जाता था। संध्या को व्यायामशाला और रंगशाला का कार्यक्रम रहता था। यूनानी खाने में उंगलियों का उपयोग करते थे। वे कांटे-छुरी का उपयोग नहीं करते थे। प्रीत-भोजों में खूब ठूंस-ठूंस कर खाने थे। मदिरा का भी प्रचलन था। नाच-रंग रात में वहुत देर तक होता रहता था।

लड़कियों को घूमने-फिरने की अनुमति न थी। 16 वर्ष की अवस्था विवाह-योग्य अवस्था समझी जाती थी। लड़कियों का विवाह अनिवार्य था।

अगर होमर यूनान के महाकवि थे तो एचिल यूनान के महान नाटककार थे। 'द हाउस आफ अत्रूस' एचिल का सर्वश्रेष्ठ नाटक समझा जाता था। नाटक का कथानक ऐतिहासिक है; विवरण मनोवैज्ञानिक है, संवाद नैतिक और संगीत तालबद्ध है। इस नाटक को एथेन्सवासियों की अत्यंत श्रेष्ठ विरासत समझा जाता है। सबसे पहले सन् 457 ई.पू. में इसका अभिनय किया गया। उसके अगले ही वर्ष एचिल को अपना देश परित्याग करके सिसली में शरण लेनी पड़ी, जहां सन् 454 ई.पू. में उसकी मृत्यु हुई।

कल्पना कीजिये कि आप 457 वर्ष ई. पूर्व एथेन्स के उस प्राचीन नगर में पहुंच गये हैं और मार्च के महीने में अभिनय समारोह में सम्मिलित हो गये है। एचिल के इस श्रेष्ठ नाटक का अभिनय प्रारंभ होने वाला है। अब आप सोच रहे हैं कि 20 हजार दर्शकों के बीच में आप कहा बैठेंगे। सबसे अगली पंक्ति में मैजिस्ट्रेट, पुरोहित और सामंत बैठे हुये हैं। उनके बाद की पंक्तियों में व्यापारी, सैनिक और नाविक बैठे हैं। उसके बाद की पंक्तियों में किसान, स्वतंत्र नागरिक और उनके परिवार के लोग बैठ हैं। इनमें से आप जिस वर्ग के भी हों उस पंक्ति में जाकर बैठ जाइये। खेल प्रारंभ हो गया है। रंग-मंच की दाहिने ओर मीनार के नीचे एक व्यक्ति पड़ा सो रहा है। वह उठता है, वेदी के पास आकर अग्नि प्रज्ज्वलित करता है। अभिनय के देवता दिओनिस की स्तुति करता है और फिर अपनी जगह आकर बैठ जाता है। धीरे-धीरे मीनार पर बैठा हुआ रक्षक उषा की फैलती हुई अरुणिमा को देखता है और फिर एक हाथ के सहारे अपने सिर को झुकाए हुए कथानक का गान प्रारंभ करता है और इसके पश्चात् मुख्य कथानक का अभिनय शुरू हो जाता है।

माइसीन में डोरी यूनानियों के राजा पेलप का पुत्र अत्रूस राजगद्दी पर बैठता है। उसका एक छोटा अनुज भी है जिसका नाम थीस्टेस है। अचानक अत्रूस को अपने अनुज के ऊपर क्रोध आता है और क्रोध में वह पागल हो जाता है। अपने भाई के मासूम बच्चों को मरवा कर उनका मांस पकवाता है और उस मांस को अपने भाई को खाने के लिये विवश करता है। भाई को जब पता चलता है कि उसके साथ छल किया गया है और अपने ही बच्चों का मांस उसको खिलाया गया तो वह दुःख से कातर हो उठता है। वह पाताल की देवी से प्रार्थना करता है कि अत्रूस के बच्चे और उसके बच्चों के बच्चे तीन पीढ़ियों तक नाश को प्राप्त हो।

कथानक और आगे बढ़ता है और दर्शकों का हृदय रोने-रोने को हो आता है। अत्रूस के दो बेटे होते हैं। इनमें बड़ा मेनेलौस स्पार्टा का राजकाज सभालता है और अगमेमनान माइसीन का कर्ताधर्ता बनता है। दोनों भाइयों का विवाह होता है। मेनेलौस संसार की सर्वश्रेष्ठ सुंदरी हेलेन से विवाह करता है और अगमेमनान हेलेन की बहन कलाइतेमनेस्त्रा को अपनी पत्नी बनाता है। हेलेन की बहन अत्यंत शोख और अभिमानी साबित होती है।

कथानक और आगे बढ़ता है। ट्राय का राजकुमार पारिस हेलेन को हर ले जाता है। लक्ष्मण की तरह अगमेमनान हेलेन को वापस लाने के लिये अपने भाई की ओर से युद्ध में शामिल होता है। माइसीन की देख-रेख वह अपनी पत्नी को सुपुर्द करता है। अगमेमनान की पत्नी से ओरेस्ते नाम एक बेटा और इफिजीनिया, ब्राइसोथेमी और इलिक्त्रा नाम तीन बेटियां थीं। ट्राय विजय के लिये घनघोर लड़ाई शुरू होती है किंतु लड़ाई का कोई फैसला होता दिखाई नहीं देता। अंत में ज्योतिषियों ने एक उपाय सुझाया और वह यह कि यदि अगमेमनान अपनी पुत्री इफिजीनिया का बलिदान चढ़ाये तो यूनानी युद्ध जीत सकते हैं। इफिजीनिया अपनी मां की अत्यंत प्यारी बेटी थी। पाताल की देवी को अत्रूस की संतति से बहुत घृणा थी और इसीलिये बजाय उसका बलिदान स्वीकार करने के वह उस लड़की को मेघों की चादर में लपेट कर आकाश में उड़ा ले जाती है। मां ने समझा कि उसकी बेटी बलिदान चढ़ा दी गई और उसके लिये अपने पति से बदला लेने का निश्चय किया। क्लाइतेमनेस्त्रा ने इस काम के लिये थीस्टेस के एक बचे हुये बेटे इजिस्थू से सहायता की प्रार्थना की। इजिस्थू सहर्ष तैयार हो गया। सब से पहले इन दोनों षड्यंत्रकारियों ने यह किया कि ओरेस्ते को दूर फोसिस भेज दिया और इलिक्त्रा को दासी बनाकर रसोई करने का काम सुपुर्द किया। यह इसलिये किया कि इन दोनों को अपने पिता अगमेमनान से प्रेम था।

इसके बाद दूसरा दृश्य शुरू होता है। ट्राय से लौटने पर अगमेमनान की हत्या कर दी जाती है। उसके पुत्र ओरेस्ते को जब यह मालूम होता है, वह प्रतिशोध की भावना से भर जाता है और लौटकर अपनी मां एवं चाचा को मार डालता है। ओरेस्ते के इस कृत्य से फ्यूरी (देवी) को बड़ा क्रोध आता है और वह उसका पीछा करती है। ओरेस्ते प्राण-रक्षा के लिये अपोलो (सूर्य देवता) की शरण में जाता है किंतु अपोलो इच्छा होते हुये भी उसकी सहायता नहीं कर पाता ओरेस्ते भागकर एथेन्स पहुंचता है, वहां उस पर मुकदमा चलता है। उसे प्राणदंड की सजा मिलती है और इसके साथ-साथ अभिनय समाप्त हो जाता है।

इस कहानी से यूनानी उसी तरह परिचित थे जिस तरह हम कालिदास के मेघदूत के कथानक से परिचित हैं। किंतु इस नाटक के पीछे नाटककार दर्शक के हृदय में स्थायी नैतिक मूल्यों की अभिरुचि बढ़ाता है। क्लाइतेमनेस्त्रा अगमेमनान की

हत्या करने के बाद इन पंक्तियों को दोहराती है–

हे ईश्वर!
एक पाप दूसरे पाप का सृजन करता है और एक दुख दूसरे दुख का!
और इसका परिणाम क्या होगा, कौन जानता है?
आज जो हत्यारा है उसे कल मृत्यु का आलिंगन करना ही पड़ेगा?
बुराई का पारिश्रमिक सिवाय दुख के और क्या हो सकता है?

नाटक के दूसरे दृश्य में जब ओरेस्ते अपनी मां और चाचा की हत्या करता है तो सूर्य देवता अपोलो उसे विश्वास दिलाते हैं कि इस हत्या के साथ अत्र के परिवार से भगवान का कोप समाप्त हो जायेगा किंतु अपोलो का यह आश न किसी काम नहीं आता। प्रतिशोध की देवी फ्यूरी उसका पीछा करती है और अपोलो अपने मंदिर तक में उसे शरण नहीं दे पाता है और तब ओरेस्ते कहता है–

मनुष्य मनुष्य से और राज्य राज्य से,
मनुष्य मनुष्य के प्रति और राज्य राज्य के प्रति शपथ लेंगे,
क्या घृणा की शपथ?
नहीं मनुष्य के प्रति मित्रता की शपथ!
कभी-कभी निषेध में ही कल्याण छुपा रहता है।

एचिल का यह नाटक अपने संपूर्ण रूप में यह सिखाता है–"घृणा-घृणा से शांत नहीं होगी, बैर-बैर से कम नहीं होगा और प्रतिशोध-प्रतिशोध से समाप्त नहीं होगा।"

एचिल के बाद यूनानी नाटककारो में दूसरा प्रमुख नाम सोफोक्लीज का है। सोफोक्लीज 495 ई.पू. में एथेन्स के निकट कोलोनु नामक गांव में पैदा हुआ और सन् 405 ई.पू. में उसकी मृत्यु हुई। लगभग 60 वर्ष उसने लेखन का काम किया और 100 से अधिक नाटक लिखे जिनमें 18 नाटकों के लिये उसे पारितोषिक मिला। सबसे पहला पारितोषिक उसे 27 वर्ष की अवस्था में प्राप्त हुआ। उसके सबसे प्रमुख नाटक का शीर्षक 'एजेक्स' है।

दुःखांत नाटकों के रचयिताओं में तीसरा प्रमुख नाम यूरीपाइड का है। यह नाटककार पेरीक्लीज युग के अंतिम चरण में हुआ है। इसके जीवन काल में यूनान

के नगर-राज्य आपसी गृह-युद्धों से ध्वंस हो रहे थे और चारों ओर उदासी और ग़म का बोलबाला था। नाटककार की रचनाओं पर इस परिस्थिति का प्रभाव पड़ना अनिवार्य था।

यूरीपाइड स्वभाव से रोमांटिक था और इसी कारण चरित्र-चित्रण में वह गहराई में उतर सका। स्त्री, पुरुषों के पारस्परिक संघर्षो का चित्रण भी उसके अनेक नाटकों में आता है किंतु नाटककार ने न केवल स्त्री की चारित्रिक दुर्बलताओं का ही चित्रण किया है वरन् उसके स्वभाव की शक्तिमत्ता, उसके प्रेम, उसके आत्म-त्याग, उसकी ममता और उसकी नम्रता को भी पूरा महत्व दिया है। सोफोक्लीज ने अपने इस नवयुवक प्रतिस्पर्धी के संबंध में एक बार कहा था--"जबकि मैं आदर्श मनुष्य का चित्रण करता हूं यूरीपाइड वास्तविक मनुष्य का चित्रण करता है।" यूरीपाइड कहा करता था कि लोग थियेटर में राजनैतिक या धार्मिक समारोह देखने नहीं जाते वरन् मन बहलाने जाते हैं, अतएव नाटककार को मनोरंजक नाटक ही लिखने चाहियें।

यूरीपाइड ने 90 नाटक लिखे जिनमें 15 नाटकों पर उसे प्रथम पुरस्कार मिला। वह युद्ध के विरूद्ध था। जिस समय ट्रोजन युद्ध चल रहा था उस समय उसने 'ट्रोजन महिला' नामक एक नाटक लिखा जिसमें युद्ध का घोर विरोध किया। इस पर जनता उसके विरूद्ध हो गई। परिणामस्वरूप उसे अपना देश छोड़ना पड़ा। अपने इस नाटक के द्वारा यूरीपाइड संतो और महात्माओं की उस कतार में खड़ा हो जाता है जिन्होंने इतिहास के शुरू जमाने में साहस के साथ युद्ध का विरोध किया।

एक ओर जबकि यूनान में दु:खांत नाटकों की कद्र की जाती थी, दूसरी ओर सुखांत नाटकों और प्रहसनों का भी अभिनय किया जाता था। क्रेटिनस पहला प्रमुख कवि था जिसने अपने गीतों में बड़े से बड़े व्यक्तियों का परिहास किया। वह स्वयं पेरीक्लीज को "प्याजी दिमाग वाला" कहा करता था। अरिस्टोफेन भी इसी श्रेणी का कवि और नाटककार हुआ है। उसकी पहली रचना 'आचरनियन' सन् 425 ई. पू. में प्रकाशित हुई। अपने इस नाटक में उसने जहां एक ओर पेरीक्लीज को ताने दिये हैं वहीं दूसरी ओर सुकरात का भी उपहास किया है। 'शांति' और 'पक्षी' उसकी अन्य दो श्रेष्ठ रचनाएं हैं जो उसने क्रमशः 421 ई.पू. और 424 ई.पू. में लिखीं। अपनी मृत्यु से तीन वर्ष पूर्व उसने 'महिला सभा' नामक नाटक लिखा और अपनी मृत्यु के वर्ष उसका 'धन राक्षस' नामक नाटक प्रकाशित हुआ। पहली पुस्तक में

उसने दिखाया है कि गृह-प्रबंध के साथ-साथ स्त्रियों को अब राज्य-प्रबंध भी अपने हाथ में लेना चाहिये क्योंकि पुरुष स्वभाव से ही बर्बर है। युद्ध और विनाश में ही उसे सुख मिलता है जबकि स्त्री जननी है और सृजन एवं त्याग मे उसकी तुष्टि होती हे। शासक की हैसियत से पुरुष ने अपने आपको सर्वथा असफल सिद्ध कर दिया है। कोई कारण नहीं कि स्त्री उस दायित्व को अपने ऊपर क्यों न उठाये? अपनी अंतिम पुस्तक 'धन राक्षस' में उसने इस बात का प्रतिपादन किया है कि कुटिल धनिकों का धन अपहरण करके उसे चरित्रवान रंकों में बांट देना चाहिये।

संगीत

आठवीं सदी ई.पू. के उत्तरार्ध में यूनान में संगीत को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। इसके पूर्व डोरियो के जमाने में संगीत केवल धनिकों के लिये होता था किंतु अब वह समस्त हेला जाति के लिये प्रचलित कर दिया गया। रंगशाला के देवता दियोनिस की आराधना में प्रत्येक वर्ष उत्सव मनाये जाते थे। इसी सिलसिले में नाटकों का भी अभिनय किया जाता था और इन अभिनयों में संगीत का भी यथेष्ट समावेश होता था। संगीतज्ञों ने संगीत की अनेक राग-रागनियों का आविष्कार कर लिया था। पेरीक्लीज ने एक संगीतालय का निर्माण किया जिसका नाम उसने 'ओडियन' रखा। इस संगीत हाल में प्रमुख से प्रमुख संगीतज्ञ जनता को अपने गीत सुनाया करते थे। थेबे का प्रसिद्ध गवैया पिंडार और चिओस का पसिद्ध गायक सिमोनिद राज्य के खर्च पर एथेन्स बुलाये गये थे। नगर-सभा की ओर से पिंडार की कांस्य की मूर्ति बनाकर खड़ी की गई। सिमोनिद जबकि नृत्य-गीत लिखता था, पिंडार भजनों की रचना करता था। उसे स्वर, राग, लय और ताल का विशेष ध्यान रहता था। एचील और सोफोक्लीज दोनों ने स्वयं अपने गीतों की रचना की और उन्हें राग पर बैठाया। सिकन्दर के समय तक यूनान में संगीत और कविता दोनों का अलग-अलग निश्चित स्थान बन गया था। भारतीय तंबूरे की तरह यूनानी अपने संगीत में लायर अथवा गिटार नामक बाजे का उपयोग करते थे। इसी जमाने में संगीत के बड़े-बड़े सम्मेलन हो रहे थे जिनमें एक साथ 600 संगीतज्ञ गायन और वादन प्रतियोगिता में भाग लेते थे। दर्जनों प्रकार के राग और रागनियां और पचासों प्रकार के वाद्य-यन्त्रों का आविष्कार किया गया और यूनानी संगीत का एक निश्चित क्रम बनाया गया। संगीत के साथ-साथ नृत्य की कला ने भी जबरदस्त उन्नति की। तरह-तरह के नृत्यों का

यूनान में प्रचार हुआ जिनमें सबसे प्रिय 'रट्टा' नृत्य समझा जाता था।

यूनानी और रोमन लेखकों के अनुसार सातवीं सदी ई.पू. में यूनान में 15 तरह के राग प्रचलित थे। भारतीय संगीत में जिस तरह निषाद, ऋषभ, गांधार, शडज, मध्यम, धैवत और पंचम ये सात स्वर होते हैं उसी तरह यूनानी रागों को 18 स्वरों में विभाजित किया जाता था। एलीपिअस नामक एक प्राचीन लेखक लिखता है कि उसके समय में यूनान में 45 प्रकार के राग और रागनियां प्रचलित थीं। सिकन्दर के साथ के इतिहास लेखक लिखते हैं कि यूनानी संगीन से अधिक वैज्ञानिक संगीत केवल एक ही था और वह था--भारतीय संगीत।

साधारणतया संगीत के साथ बाजे भी चलते थे। किंतु पक्के गीत बिना बाजों की सहायता के भी गाये जाते थे। अनेकों गीत तीन-ताल के होते थे और कुछ एक-ताले भी होते थे। ग्रामीण किसान, महिलाएं और पुरुष गीत गाते हुये खेतों में काम करते थे। मांझी नौकाओं में डांड चलाते हुए गीत गुनगुनाते थे। धार्मिक समारोहों में एवं शादी-ब्याह में नृत्य के साथ-साथ संगीत भी चलता था। वैदिक ऋचाओं की तरह हेसियाड, होंमर और हेराक्लिटस के दार्शनिक ग्रंथ भी पद्यात्मक थे और सुरीले स्वर में उनके पद्य गाये जाते थे। लायर और मुरली का भी प्रचलन था। सरकंडे की बंशी भी बजाई जाती थी। सन् 776 ई.पू. में ओलिम्पिक खेलों का प्रारंभ हुआ और उस समय से ही प्रत्येक वर्ष खेल के उद्घाटन के समय मारु-गीत गाया जाता था जिसे 'फार्मिक्स' कहते थे। स्त्रियां करघे में कपड़ा बुनते हुये, पनिहारिनें कुएं से पानी खींचते समय, गृहिणी चक्की चलाते समय तरह-तरह के रागों में गीत गाती थीं।

सामाजिक उत्सवों में स्त्रियां संगीत के साथ-साथ लायर और मुरली भी वजाती थीं। युवक गड़रिये भेड़ें चराते हुये संगीत की कोमल तान खींचते थे। गड़रियों के गीत प्रकृति की देवी 'पान' को समर्पित समझे जाते थे। यूनानी दार्शनिकों के पितामह पाइथागोर संगीत को दर्शन की आत्मा वताते थे। पाइथागोर ने एक नये बाजे का भी आविष्कार किया था जो सारंगी की शक्ल का होता था। उसमें केवल एक ही तार होता था। यूनान में उस समय तीन बाजे विशेष रूप से प्रचलित थे--(1) लायर, (2) मुरली अथवा औलाए, और (3) सितार। सितार के तारों को कसकर कोमल और मध्यम किया जा सकता था।

इस दौरान यूनान में ज़बरदस्त राजनैतिक परिवर्तन हो रहे थे। नये वातावरण और नई परिस्थितियां, नई राजनीति के साथ यूनान के रंग-मंच पर आ रही थीं। संसार के सांस्कृतिक इतिहास में यूनानियों ने अपना अभिनय पूरा कर लिया था। पश्चिम की ओर से प्रबल रोमी तूफान उठ रहे थे जिनके थपेड़ों से यूनानी संस्कृति का आलीशान भवन जर्जर होता जा रहा था और अंत में जिसकी आखिरी चोट ने उसे धूल-धूसरित कर दिया। यूनानी संस्कृति अपना काम कर चुकी थी। सभ्यता को उसकी देन, बहुमूल्य और महत्वपूर्ण है और आज भी आधुनिक सभ्यता के ऊपर उसकी अमिट छाप हमें दिखाई देती है।

यहूदी संप्रदाय और भारतीय संस्कृति

समय-समय पर राजनैतिक उथल-पुथल के दिनों मं लाखों यहूदी मिस्र और दूसरे देशों में जा-जाकर बस गए। उनमें से अधिकतर का यूनानी संस्कृति के श्रेष्ठतर पहलू से संपर्क हुआ। दूसरे देशों में उन्होंने व्यापार में खूब हिस्सा लेना प्रारंभ किया। जगह-जगह उनकी बस्तियां काफी समृद्ध थीं; विशेषकर जो यहूदी मिस्र में जाकर बसे उनके साथ टालेमी बादशाहों के उदार और प्रबुद्ध शासन में खूब अच्छा व्यवहार हुआ। उन्हें पूरी धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त थी। यूनान की उन्नत विद्याओं से उनका परिचय हुआ। साहित्य और दशन के अध्ययन का और उनमें उन्नति करने का उन्हें अपूर्व अवसर मिला।

इसी समय ईसा से दो सौ वर्ष पहले मिस्र की नई राजधानी सिकन्दरिया मे तौरेत और दूसरे यहूदी धर्म-ग्रंथों का पहली बार यूनानी भाषा में अनुवाद हुआ। कई यहूदी ग्रंथ यूनानी और इबरानी भाषाओं में लिखे गए।

वह समय संसार के अंदर बड़ी-बड़ी धार्मिक और सांस्कृतिक लहरों का समय था। बौद्ध धर्म के प्रचारक और उनके साथ-साथ भारतीय अध्यात्म, दर्शन और विज्ञान समस्त पूर्वी और पश्चिमी संसार में फैलते जा रहे थे। उस समय की मिस्र की राजधानी सिकन्दरिया और भारत की राजधानी पाटलिपुत्र के बीच राजदूतों, दार्शनिकों और विद्वानों का आना-जाना और व्यापारी, माल तथा ज्ञान-विज्ञान का आदान-प्रदान बराबर जारी था और दोनों दरबारों में घनिष्ट प्रेम संबंध था। यही कारण था कि टालेमी राजवंश के लोग कई सौ वर्ष तक अपनी उदारता और अपने असाधारण विद्या-प्रेम के लिये विख्यात थे और उनके शासन-काल में मिस्र ने फिर एक बार ज्ञान-विज्ञान में अच्छी उन्नति की।

बौद्ध धर्म अफ़ग़ानिस्तान, चीन, तुर्किस्तान और ईरान से होता हुआ धीरे-धीरे समस्त पश्चिमी संसार में फैल रहा था। इस के जन्म से पहले समस्त पश्चिमी

एशिया और विशेषकर सीरिया में सैंकड़ों बौद्ध मठ और असंख्य बौद्ध-विहार स्थापित हो चुके थे। बौद्ध भिक्षु रोमी साम्राज्य के कोने-कोने में अपना प्रेम और शांति का सन्देश पहुंचा रहे थे। किसी दूसरे धर्म से उनकी टक्कर न थी और न वे दूसरों के किसी देवता की पूजा का निषेध करते थे और न अपने किसी देवता की पूजा का प्रचार। वे केवल विश्व-प्रेम, नम्रता, सदाचार के नियमों, आत्म-संयम और आत्म-शुद्धि को मानव उन्नति के मुख्यतम साधन बताते थे। जबकि संसार का एक बहुत बड़ा भाग—'मेरा इष्टदेव सच्चा और दूसरों का झूठा', 'मेरी उपासना विधि ठीक और दूसरों की गलत'—इन तुच्छ झगड़ों में पड़ा हुआ था, बौद्ध धर्म ने पूजा और पूज्य इन दोनों की ओर उदार और उदासीन रहते हुए मानव सदाचार और विश्व-प्रेम के ऊपर ज़ोर दिया और इन्हीं को ऐहिक तथा पारलौकिक, दोनों तरह के कल्याण का मार्ग बताया। कोई भी मनुष्य अपन प्राचीन पैतृक धर्म का पालन करते हुए इन नए सिद्धांतों का आदर कर सकता था और उनके अनुसार जीवन निर्वाह करने का प्रयत्न कर सकता था।

बौद्ध भिक्षुओं और प्रचारकों के अलावा उन दिनों और बहुत से भारतीय सन्त भारत से जा-जाकर पश्चिम एशिया, अफरीका और यूनान के जंगलों में कुटिया बनाकर रहते थे। इन सब देशों के बड़े-बड़े विद्वान और महात्मा उनसे मिलकर धार्मिक, नैतिक और दार्शनिक शिक्षा ग्रहण करते थे। उनमें एक खास गिरोह था जिन्हें यूनानी इतिहास लेखक 'जिन्मो सोफिस्ट' या 'हाइलोबियो' नाम से पुकारते हैं और बड़े प्रेम और आदर के साथ उनका वर्णन करते हैं। जिन्मो सोफिस्ट का शब्दार्थ 'नंगे फिलास्फर' या 'दिगम्बर तत्ववेत्ता' और हाइलोबियो का अर्थ 'वानप्रस्थ' है।

ये लोग अधिकतर दिगम्बर ही रहते थे। इनके अनुसार जितना कम से कम खाकर शरीर चल सकता है उससे अधिक खाना या जितना कम से कम कपड़े से काम चल सकता है उससे अधिक कपड़ा उपयोग करना आत्मोन्नति में बाधक है। इनमें से कुछ 'शमन' कहलाते थे और कुछ 'ब्राह्मण'। इन दिगम्बर महात्माओं का जो कुछ वर्णन यूनानी लेखकों ने किया है उससे प्रकट है कि इनमे से अनेकों का संबंध जैन धर्म से भी था। किंतु इतिहास में एक और नात बिलकुल स्पष्ट है, वह यह कि जैन, बौद्ध और सनातन, तीनों धर्मों के विद्वान उन दिनों एक साथ दूर-दूर के देशों में जाते थे, तीनों हर जगह मिल कर प्रेम के साथ रहते थे और उनमें से

अनेकों का रहन-सहन और उनके उपदेश तीनों धर्मो के सामान्य सिद्धांतों और बहुमूल्य रत्नों का एक सुंदर समन्वय होते थे। यूनानी इतिहास से पता चलता है कि ईसा से कम से कम चार सौ वर्ष पूर्व ये दिगम्बर भारतीय तत्ववेत्ता पश्चिमी एशिया में पहुंच चुके थे।

पोप के पुस्तकालय के एक लातीनी आलेख से, जिसका हाल में अनुवाद हुआ है, पता चलता है कि ईसा की जन्म की शताब्दी तक इन दिगम्बर भारतीय दार्शानिकों की एक बहुत बड़ी संख्या इथियोपिया (अफरीका) के बनों में रहती थी और अनेक यूनानी विद्वान वहीं जाकर उनके दर्शन करते थे और उनसे शिक्षा लेते थे।

यूनान के दर्शन और अध्यात्म पर इन दिगम्बर महात्माओं का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि चौथी सदी ई.पू. में प्रसिद्ध यूनानी विद्वान पिरो ने भारत आकर उनके ग्रंथों और सिद्धातों का यानी भारतीय अध्यात्म और भारतीय दर्शन का विशेष अध्ययन किया और फिर यूनान लौटकर एलिस नगर में एक नई यूनानी दर्शन पद्धति की स्थापना की। इस नई पद्धति का मुख्य सिद्धांत था कि इंद्रियों द्वारा वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति असंभव है, वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति केवल अंतःकुरण की शुद्धि द्वारा ही संभव है और उसके लिये मनुष्य को सरल से सरल जीवन व्यतीत करके आत्मसंयम और योग द्वारा अपने अंतर में धंसना चाहिए। भारत से लौटने के बाद पिरो दिगम्बर रहता था। उसका जीवन इतना सरल और संयमी था कि यूनान के लोग उसे बड़ी भक्ति की दृष्टि से देखते थे। वह योगाभ्यास करता था और निर्विकल्प समाधि में विश्वास रखता था।

ऐस्सेनी और कब्बालह

जैन श्रमणों, बौद्ध भिक्षुओं और भारतीय महात्माओं के प्रभाव से दूसरी सदी ई.पू. में यहूदियों के अंदर 'ऐस्सेनी' नामक एक नई संप्रदाय की स्थापना हुई। यहूदी इतिहास लेखक यूसुफ और फाइलो तथा और कई यूनानी इतिहास लेखकों ने विस्तार के साथ इन लोगों का वर्णन किया है।

इन लोगों की बस्तियां, जिन्हें बड़े-बड़े मठ या खानकाह कहा जा सकता है, शहर से दूर होती थीं। बस्ती के अंदर हर एक की कुटिया अलग किंतु एक-दूसरे

के आस-पास होती थी। वे आजन्म अविवाहित रहते थे और बड़ा सरल, संयमी तथा तपस्या का जीवन व्यतीत करते थे। सारी बस्ती एक कुल की तरह रहती थी, जिसका एक कुलपति होता था। समस्त सम्पत्ति सारे कुल की सम्पत्ति होती थी। सबका एक जगह भोजन बनता था और एक स्थान पर बैठ कर सब एक साथ भोजन करते थे।

प्रति दिन कई घंटे हर व्यक्ति को अपने हाथ से कुछ न कुछ श्रम करना पड़ता था जिसका समस्त लाभ सामूहिक कोष में जाता था। इस श्रम में मुख्य काम थे--खेतों में अनाज पैदा करना, भोजन बनाना, सबके लिये कपड़ा बुनना और अन्य आवश्यक धंधे करना। किसी काम के लिये दूसरे मनुष्य को नौकर, दास या गुलाम बना कर रखने को वे पाप समझते थे। न कोई अपने अलग गुजारे के लिये कोई अलग काम कर सकता था।

हर ऐस्सेनी ब्राह्म मुहूर्त में उठता था और सूर्योदय से पहले प्रातः क्रिया, स्नान, ध्यान, उपासना आदि से निवृत्त हो जाता था। सुबह के स्नान के अतिरिक्त दोनो समय भोजन से पहले स्नान करना हर एक के लिये आवश्यक था। उनका सबसे मुख्य सिद्धांत था अहिंसा। इसलिये हर तरह की पशुबलि, मांस-भक्षण या मदिरा-पान के वे विरूद्ध थे। उनका केवल मात्र भोजन रोटी या साग होता था। ठंडे पानी के अतिरिक्त वे कभी कोई अन्य पेय न पीते थे। भोजन प्रारंभ करते समय और समाप्त करने पर वे मिल कर ईश्वर को धन्यवाद देते थे। वे केवल सफेद वस्त्र (श्वेतांबर) पहनते थे। बालों में तेल लगाना पाप समझते थे। किसी के पास बदन के कपड़ों के अतिरिक्त कपड़ों का दूसरा जोड़ा न होता था। यहूदी मंदिरों में पशु-बलि के कारण वे इन मंदिरों में न जाते थे। किंतु प्राचीन धर्म की ओर अपनी श्रद्धा दर्शाने के लिये समय-समय पर शुद्ध उपहार और जलाने की धूप यरूशलम के मंदिर को भेजते रहते थे।

ईरान के मिथ्री संप्रदाय के प्रभाव से आस-पास की अधिकांश अन्य कौमों के समान वे सूर्य का विशेष आदर करते थे और उसे ईश्वर की दिव्य-ज्योति का भौतिक चिन्ह मानते थे। उपासना के समय सदा सूर्य की ओर मुंह कर लेते थे। बालार्णव के उदय होते ही प्रत्येक ऐस्सेनी उसकी ओर मुंह करके यहूदियों के प्रसिद्ध मंत्र 'रोमा' का उच्चारण करता था। ईरानियों के समान वे इस तरह के देवताओं

या फरिश्तों में भी विश्वास रखते थे जो मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति में सहायक हो सकते हैं।

हर ऐस्सेनी का कर्तव्य होता था कि दिन के साधारण दैनिक श्रम के बाद आस-पास की गरीब बस्तियों में जाकर दीन-दुखियों और दरिद्रों की सेवा करे। यदि इस काम में उसे यह अनुभव होता कि उसकी बस्ती की सामूहिक सम्पत्ति में से किसी चीज के जरिये किसी दीन दुखिया की कोई आवश्यकता पूरी हो सकती है तो उसे अधिकार होता था कि बिना कुलपति या किसी दूसरे से पूछे वह तुरन्त उस चीज को उसे लाकर दे दे। गरीबों की आवश्यकता पूर्ति के अतिरिक्त किसी दूसरे कार्य के लिये वह कुल की किसी वस्तु को बिना कुलपति की अनुमति के हाथ न लगा सकता था।

इस सबसे बचा हुआ समय और खासकर रात का बहुत सा समय वह एकान्त सेवन, धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन, मनन और योग के अभ्यास में बिताता था। निस्सन्देह पवित्र जीवन, दीन-दुखियों की सेवा, शारीरिक श्रम और योग द्वारा चित्त को स्थिर करना ये चार बातें ऐस्सेनियों के अनुसार आत्मा की उन्नति के चार मुख्य साधन थे। आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से हर ऐस्सेनी को कई उत्तरोत्तर श्रेणियों में होकर निकलना पड़ता था।

ईसा के जन्म के समय इनकी संख्या खूब बढ़ी हुई थी। सीरिया, फलस्तीन और मिस्र के पहाड़ों और जंगलों में ठंडे पानी के चश्मों के पास जगह-जगह इनकी बस्तियां थीं। फाइलो के समय में इनकी कुल संख्या चार हजार बताई जाती है।

इतिहास लेखक फाइलो अपने समय के भारतीय और ईरानी संतों, महात्माओं के चरित्र और उनकी तपस्या की प्रशंसा करते हुए लिखता है कि यहूदियों में ठीक इसी तरह के तपस्वी ऐस्सेनी थे। यूनानी इतिहास लेखक स्ट्रेबो उन्हें–"दार्शनिकों और वैज्ञानिकों का संघ" कह कर वर्णन करता है और लिखता है कि अफलातून जैसे दार्शनिक और विज्ञानवेत्ता उनके दर्शन करने और उनसे उपदेश लेने के लिये आते थे।

अफरीका की किसी-किसी ऐस्सेनी बस्ती में ये लोग एक-एक सप्ताह एकांत सेवन करते थे और एक प्रकार की समाधि में पड़े रहते थे। फाइलो लिखता है कि

उनके इस लंबे एकांत सेवन का उद्देश्य होता था--"ध्यान द्वारा परमेश्वर के व्यापक अस्तित्व के साथ अपनी आत्मा को मिलाकर एक कर लेना।" उनमे से कई विशेष नामो या मत्रो का जाप भी करते थे। समय-समय पर उनमें अनेक दार्शनिक विषयों पर चर्चा होती थी। भजन गाए जाते थे और कहीं-कहीं ईश्वर स्तुति के साथ एक प्रकार का नृत्य भी होता था।

योग की विधियों और ध्यान के तरीकों को वे सिवाय दीक्षितों के दूसरो को न बताते थे। सरल भोजन और संयमी जीवन के कारण उनकी आयु खूब लम्बी होती थी और अपने चरित्र और तत्वज्ञान के लिये आस-पास के देशों मे वे बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते थे।

अपने मठों के नए सदस्यों के रूप में वे केवल या तो इतने छोटे बालकों को लेते थे जिन्हें आरम्भ से अपने रहन-सहन और सिद्धांतों में पक्का कर सकें और या युवावस्था पार किये हुए उन लोगों को लेते थे जिन्हें सांसारिक भोग-विलास की ओर अधिक आकर्षण न रह गया हो। आगन्तुक को अपनी समस्त धन-सम्पत्ति सामूहिक सम्पत्ति मे मिला देनी पड़ती थी। पहले तीन वर्ष उसे उम्मेदवार रहना पड़ता था। इन तीन वर्षों के अंदर उसे बड़े-बड़े उपवास रखने पड़ते थे, व्रत करने पड़ते थे और कई तरह से अपने मन और इंद्रियों को साधना पड़ता था। इतिहास लेखक यूसुफ के अनुसार अंत में उसे दीक्षा से पहले कुलपति के सामने इस तरह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी--

"मैं परमात्मा का भक्त रहूंगा। मैं मनुष्य मात्र के साथ सदा न्याय का व्यवहार करूंगा। स्वयं अपनी इच्छा से या किसी दूसरे के कहने से भी मैं कभी किसी की हिंसा न करूंगा, न किसी को हानि पहुंचाऊंगा। मैं सदा बुरे लोगों से दूर रहूंगा। मैं भले लोगों की सहायता करूंगा। मनुष्य मात्र के साथ मैं अपने वचनों का पालन करूंगा। अपने ऊपर के अधिकारी के साथ सच्चा व्यवहार करूंगा, क्योंकि सिवाय परमात्मा के किसी दूसरे से किसी को कोई अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। यदि स्वयं मुझे कोई अधिकार प्राप्त होगा तो उसके कारण न मैं अपने व्यक्तिगत विचार या अपनी व्यक्तिगत सत्ता किसी दूसरे पर लादूंगा और न अपनी विशेष पोशाक या विशेष ढंग द्वारा दूसरों पर बड़प्पन दिखाऊंगा। मैं सदा सत्य से प्रेम करूंगा, और असत्य से घृणा। मैं सदा अपने हाथों को चोरी से और अपनी आत्मा को पाप की

कमाई से पवित्र रखूंगा। मैं अपने भाइयों (यानी कुल के दूसरे लोगों) से कभी कोई बात न छिपाऊंगा न उनके किसी रहस्य को दूसरे पर प्रकट करूंगा, चाहे इसमें मेरे प्राण भी क्यों न चले जाये।"

सिवाय इस एक अवसर के वे ओर कभी किसी तरह की शपथ न खाते थे।

आमतौर पर इनके मठो मे केवल पुरुष ही भरती किये जाते थे किंतु अफरीका मे वे कहीं-कहीं स्त्री जिज्ञासुओ को भी भरती कर लेते थे। जिन विविध इबरानी शब्दों से ऐस्सेनी शब्द का निकास माना जाता है इनके अर्थ हैं–'मौन रहने वाला', 'धर्मनिष्ठ' ओर 'सन्यासी'।

ईसा से लगभग एक सो वर्ष बाद फिर इन लोगों का कही पता नहीं चलता। इतिहास लेखक यूसुफ लिखता है कि यूनान के–पाइथोगोरियन और स्टोइक दार्शनिकों ने अपने अनेक सिद्धात इन्हीं ऐस्सेनियों से सीखे। ईसाई धर्म में मठों और महन्तों की प्रथा भी ऐस्सेनियो ही से चली।

उसी समय के निकट बौद्ध और हिंदू दर्शन के प्रभाव से एक और विचार-शैली ने यहूदियो मे जन्म लिया जिसे 'कब्बालह' कहते हैं। अठारहवीं सदी तक अधिकतर यूरोपियन विद्वान इसी शैली और उसके ग्रंथों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। किंतु अब इसी मदी मे उसकी ओर आदर और उसे अधिक जानने की उत्सुकता बढ़ती जा रही है। कब्बालह का अर्थ कुबूल किया हुआ यानी 'स्वीकृत' है। इनकी मुख्य पुस्तक 'जोहर' है जो पहली सदी ईसवी में लिखी गई। जोहर का अर्थ है 'रोशनी'। जोहर मे तौरेत का एक भाष्य है और उसके अतिरिक्त ईश्वर, जीव, सृष्टि, मुक्ति आदि अनेक गूढ़ विषयों का दार्शनिक विवेचन है।

कब्बालह के थोड़े से सिद्धांत ये हैं–ईश्वर अनादि, अनंत, अपरिमित, अचिन्त्य, अव्यक्त और अनिर्वचनीय, उसका केवल 'वह यह भी नहीं', (नेति, नेति-उपनिषद) इस तरह के वाक्यों द्वारा ही वर्णन किया जा सकता है। वह अस्तित्व और चेतनामय से भी परे है। उस अव्यक्त से किसी प्रकार व्यक्त की उत्पत्ति हुई, अचिन्त्य से चिन्त्य की। मनुष्य परमेश्वर के केवल इस दूसरे रूप का ही चिन्तन और मनन कर सकता है। इसी से सृष्टि सम्भव हुई। इससे एक दूसरे के पश्चात् अनेक आध्यात्मिक, मानसिक और नैतिक लोकों की उत्पत्ति हुई, लगभग उस प्रकार जिस प्रकार किरणों की सूर्य

से। इन लोकों में दस मुख्य गिने जाते हैं। हर लोक के साथ अव्यक्त का एक विशेष अंग या रूप व्यक्त होने लगा। जिस प्रकार ईश्वर को अनिर्वचनीय कहना और अव्यक्त और व्यक्त का अंतर उपनिषदों की परिभाषाओं से मिलता हुआ है, उसी प्रकार अव्यक्त के एक-एक अंश का व्यक्त होना हिंदू अवतार के सिद्धांत से मिलता हुआ है। कब्बालह फरिश्तों और देवताओं पर विश्वास रखते थे और उन्हें मनुष्य की उन्नति मे सहायक मानते थे।

मनुष्य की आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक रचना ठीक विश्व की आध्यात्मिक, मानसिक और भौतिक रचना के अनुरूप है। इसलिये जो कुछ मनुष्य के पिंड में है वही विशाल ब्रह्मांड में है।

जीवों की उत्पत्ति परमेश्वर के व्यक्त रूप से हुई है। मुक्ति प्राप्त करने के लिये जीव को शरीर धारण करना पड़ता है। जिन मनुष्यों की आत्मा ज्ञान और शुभ कर्मो द्वारा शुद्ध और बुद्ध हो जाती है वे मृत्यु के बाद परमात्मा में लीन होकर मुक्त हो जाते हैं और जो इस श्रेणी को प्राप्त नही हो पाते उन्हें, जब तक वे शुद्ध और बुद्ध न हो जावें, अपने कर्मो के अनुसार जन्म-जन्मांतरों और अनेक योनियो म स निकलना होता है। इस प्रकार ये लोग 'कर्म और पुनर्जन्म' दोनों भारतीय सिद्धांतो के कायल थे। ईश्वर प्रार्थना, धार्मिक जीवन और योग द्वारा मन एकाग्र करके अपने आपको विश्व की आत्मा के साथ एक कर लेना, इसी को वे आत्मशुद्धि, आत्मोन्नति और अंत में मुक्ति का साधन बताते थे।

कब्बालह की पुस्तकों में योग की विविध श्रेणियों, शरीर के भीतर के चक्रों और अभ्यास के रहस्यों का वर्णन है। यूरोपियन इतिहासज्ञ स्वीकार करते है कि कब्बालियों ने यह सब बौद्ध और हिंदू धर्मो ही से लिया।

अन्य दार्शनिक विचार

ईसा से सौ-दो सौ वर्ष पूर्व के एक यहूदी ग्रंथ "सुलेमान की बुद्धिमत्ता" मे एक ईश्वर का प्रतिपादन करते हुए अन्य धर्मो की ओर अनुपम उदारता का उपदेश दिया गया है। आत्मा को अमर बताया गया है, उस मेधा को, जिसकी ऋग्वद मे उपासना का वर्णन है और ईरानी जिसकी पूजा करते थे, जिनके नाम पर ईरानी ईश्वर को अहूरमज्द (असुर मेधा) कहते थे, उसे ईश्वर का आध्यात्मिक रूप कहा गया है।

प्रेम को ईश्वर का दूसरा रूप बताया गया है। कहा गया है, 'तू सब चीजों से प्रेम करता है, सबको क्षमा करता है, क्योंकि सब तेरे हैं। हे ईश्वर! तू सब चीजों को प्यार करता है'। धर्मनिष्ठ मनुष्य को ईश्वर का पुत्र कहा गया है। श्रद्धा के महत्व पर जोर दिया गया है और दृष्ट से 'अदृष्ट' का अनुमान करने और उसकी खोज करने का उपदेश दिया गया है।

सुलेमान का नाम बुद्धिमत्ता के लिये इतना प्रसिद्ध हो चुका था कि बाद के यहूदी लेखकों में यह एक सामान्य प्रथा पड़ गई थी कि वे अपनी रचनाओं के साथ सुलेमान का नाम जोड़ देते थे और सुलेमान के नाम से ही उन्हें प्रकाशित करते थे।

ईसा से लगभग तीस वर्ष पूर्व सिकन्दरिया में फाइलो नामक एक प्रसिद्ध यहूदी दार्शनिक का जन्म हुआ। फाइलो ईसा का समकालीन था। ईसा से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व से मिस्र के अंदर अनेक यहूदी विद्वान भारतीय अध्यात्म और यूनानी दर्शन दोनों का मंथन कर उनकी सहायता से यहूदी धार्मिक विचारों को उन्नत करने में लगे हुए थे। सिकन्दरिया उस समय भारतीय और यूनानी विचारों का समन्वयात्मक संगमस्थल था। फाइलो ने स्वयं भारतीय और यूनानी दर्शनशास्त्र का परिश्रम के साथ अध्ययन किया। वह दोनों का पूर्ण पंडित था। अफलातून का वह विशेष अनुयायी था। तौरेत (ओल्ड टेस्टामेन्ट) और अन्य इसी तरह के ग्रंथों को वह ईश्वरीय मानता था किंतु उनके शब्दार्थ को न मान कर केवल दृष्टान्त या रूपक के तौर पर उनका अर्थ करता था और अफलातून के दर्शन की उपासना का वह उपदेश देता था। वह कहता था कि ईश्वर यहूदी या किसी विशेष जाति का ईश्वर नहीं है, न कोई जाति उसकी विशेष प्रेम-पात्र है। वह सबका एक समान पिता है। संसार के धर्मिक-ग्रंथों में शायद सबसे पहले ऋग्वेद में ईश्वर को 'पिता' कहकर पुकारा गया है। (त्वमेव माता च पिता त्वमेव ऋग्वेद)। भगवद्गीता में भी (11-43) ईश्वर को पिता कहा गया है। फाइलो ईश्वर को सबका सृष्टा और सबका पिता (अब्बा) कहा करता था। यहूदी धर्म ग्रंथ दाऊद के भजनों के अंदर 103वें भजन में भी ईश्वर को 'पिता' कहा गया है।

मूसा के दस नियमों को वह संसार भर के लिये मान्य बताता था और एक ईश्वर की उपासना करने वाले सब मनुष्यों को मुक्ति का अधिकारी मानता था।

ईश्वर को वह अव्यक्त, अक्षय, असीम, नित्य और अनिवचनीय कहता था। ईश्वर और जीवन के विषय मे उसके विचार अफलातून के दर्शन और उपनिषदो, दोनो से मिलते हुए है।

आत्मा को वह अमर और शरीर को पाप का उद्गम स्थान मानता था। शरीर रूपी कदखाने से बाहर निकल कर आत्मा ईश्वर तक पहुचने का प्रयत्न करती है। अपनी इद्रियो पर पूर्ण विजय प्राप्त करना मुक्ति का मुख्य साधन है। इस कठिन काय को पूरा करने के लिये जो मनुष्य ईश्वर की शरण आते है ईश्वर उन्हे सहायता देते है। जो जीव मृत्यु के समय तक इस कार्य को सिद्ध कर पाते है वे मुक्ति प्राप्त करते है और मर कर ईश्वर मे लीन हो जाते हैं। जो नही कर पाते वह फिर-फिर कर दूसरी योनियों मे जन्म लेते हैं। इस तरह फाइलो भारतीय उपनिषदो और यूनानी दार्शनिकों के समान आत्मा के अमरत्व और पुनजन्म दोनो मे विश्वास रखता था।

वह समस्त रूढियो, यज्ञो, पशुबलियो इत्यादि का विरोधी था। केवल सदाचार तथा मनुष्य मात्र के साथ प्रेम ओर ध्यान द्वारा मन की एकाग्रता को मुक्ति का साधन बतलाता था। अध्यात्म, दर्शन और इतिहास पर फाइलो ने कई महत्वपूण ग्रथ लिखे है।

जिस प्रकार दाऊद के अनेक भजन भक्ति-भावना के सुदर उदाहरण है उसी प्रकार सुलेमान की अधिकाश कहावते हर देश और हर काल के लिये कीमती और सच्चाई से भरी है। पुस्तक के 31वे अध्याय से उस समय के यहूदी गृहस्थ-जीवन और एक आदर्श यहूदी स्त्री पर यथेष्ट रोशनी पड़ती है। आज भी शुक्रवार की शाम को हर यहूदी घर में इसका पाठ होता है। इस समूचे अध्याय को हम ज्यो का त्यो नीचे उद्धृत करते हैं–

राजा लेमुअल की माता ने उसे उपदेश दिया, ऐ मेरे बेटे! मेरे आत्मज! मेरे धार्मिक व्रतों की संतान! अपनी शक्ति स्त्रियों में नष्ट न करना और न वे कार्य करना जो राजाओं को नष्ट कर देते है।

ऐ लेमुअल! मदिरा पीना राजाओं का काम नहीं है। कोई और मादक वस्तु खाना भी उन्हें शोभा नहीं देता।

ऐसा न हो इस तरह की कोई चीज खाकर वे धर्म को भूल जावें और दीन दुखियों का न्याय ठीक-ठीक न कर सकें।

जो बेजबान हैं उन सबके लिये तुम अपना मुंह खोलना। जो नाश या मृत्यु के लिये नियुक्त हैं उनके पक्ष में तुम अपना मुंह खोलना।

जब अपना मुंह खोलना, सदा धर्म के अनुसार फैसला करना, और सदा गरीबों और जरूरतमंदों का पक्ष लेना।

एक धर्म परायण स्त्री का मूल्य लालों के मूल्य से कहीं अधिक है।

उसका पति निःशंक हृदय से उस पर इतना भरोसा करता है कि फिर उसे किसी शत्रु की सम्पत्ति लूटने की कभी आवश्यकता नहीं होती।

अपने जीवन भर वह अपने पति का सदा भला ही करती रहेगी, बुरा कभी नहीं।

वह ऊन खोज कर लाती है, सन खोज कर लाती है और खुशी से अपने हाथों से काम करती है।

वह व्यापारियों के जहाज़ों की तरह दूर-दूर से खाने की सामग्री जुटाती है।

वह उस समय उठती है जबकि अभी रात होती है और घरवालों को और अपनी नौकरानियों को भोजन देती है।

वह देखभाल कर खेत खरीदती है और अपने हाथों से उसमें अंगूर की टहनियां लगाती है।

वह बल के साथ अपनी कमर कसती है और अपनी भुजाओं में शक्ति रखती है।

वह देख लेती है कि उसका सब सामान अच्छा है। उसके घर का दीपक रात भर नहीं बुझता।

वह चरखा कातती है और उसके हाथ ऊन या पोनी को सम्हाल कर पकड़ते हैं।

वह गरीबों को देने के लिये सदा हाथ बढ़ाए रहती है, वह जरूरतमंदों की मदद के लिये सदा आगे रहती है।

वह अपने घरवालों के लिये ठंड से नहीं डरती, क्योकि उसके घर के सब लोग दोहरे कपड़े पहने रहते हैं।

वह अपने घर के परदों के लिये सुंदर कपड़े बनाती है। उसके अपने कपड़े रेशमी और सुंदर होते हैं।

उसका पति जब देश के बड़े-बूढ़ों के साथ चौपाल में बैठना है तो सब उमका मान करते है।

वह सुंदर कपड़ा बुन कर उसे बेचती है और व्यापारी को कमरपट्टे तैयार करके देती है।

बल और स'िन्न उसकी पोशाक होते हैं : परलोक में उसके लिये आनंद है।

वह जब अपना मुंह खोलती है तो बुद्धिमत्ता की बात कहती है और उसकी ज़बान मे सबके लिये दया रहती है।

वह अपने घर के सब कामों को अच्छी तरह देखती है और काहिली की रोटी नहीं खाती।

उसके बच्चे उठकर उसे प्रणाम करते हैं। 'कल्याणी' कहते हैं। और उसका पति भी उठकर उसकी प्रशंसा करना है।

वह कहता है पहले भी वहुत सी स्त्रियों ने सतीत्व का पालन किया है, किंतु तुम उन सबसे बढ़ गई।

दूसरे का अनुग्रह धोखे की चीज है। सौंदर्य झूठा है। किंतु ईश्वर से डरने वाली स्त्री वास्तव में स्तुति के योग्य है।

अपने हाथों से जो कुछ वह पैदा करे उसमें से उसे खूब देना और चौपाल में उसी के कामों द्वारा उसकी तारीफ होगी।

यहूदी संप्रदाय और भारतीय संस्कृति

यहूदियों के धर्म-ग्रंथ 'तौरेत' के पचासवें भजन मे ःक पंक्ति आती है, जिसका अर्थ है : "सुंदरता के आगार जिआन से ईश्वरीय प्रकाश प्रकट हुआ।" यहूदी टीकाकार जिआन का अर्थ यहूदी राष्ट्र करते हैं और बड़े अभिमान से कहते हैं : "ईश्वर ने

संसार की सभी जातियों में से केवल यहूदी जाति को ही, जो कुछ सत्य है, जो कुछ कल्याणमय है और जो कुछ सुंदर है, उसके सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि के रूप में चुना।" "संसार की किसी भी जाति म इतने अधिक पैगम्बर या ईश्वर के सन्देशवाहक नहीं हुए जितने यहूदी जाति में।" उनके धर्म-ग्रथ अलौकिक घटनाओ से भरे हुए हैं। यहूदी जनता यह समझती है कि वह ईश्वर की चुनी हुई जाति है। हज़ारो वर्षो की विपदाएं और यातनाएं भी उसकी इस दृढ धारणा को विचलित नहीं कर पाई।

हमें यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि यहूदी जाति एक असाधारण जाति है। मिस्त्रियों, असुरियों, ईरानियो, यूनानियों, रोमियों, ईसाइयों, अरबों, नात्सियो और फासिस्तों, किसी के भी अत्याचार यहूदी जाति के अभिमान, उसकी संहति और उसकी धार्मिक परंपरा, और उसकी मातृ-भूमि की कल्पना को रंच मात्र भी नष्ट नहीं कर पाए। उनके विचारक अब भी यह दावे के साथ कहते है कि . "यदि पिछले एक हजार से अधिक वर्षो मे यहूदियो की प्रगति मे अगणित बाधाए न डाली गई होतीं तो यहूदियों ने आज क सभ्य जगत की समस्त समस्याओ का हल निकाल लिया होता।" अल बेकन्सफील्ड गर्व के साथ यह कहते है . "विद्या और बुद्धि म यहूदी जाति आधुनिक यूरोप की जननी है।"

संख्या की दृष्टि से, यहूदी कभी भी ससार की बड़ी जाति नहीं रहे। राजसत्ता की दृष्टि से उनका साम्राज्य अपने चरम उत्कर्ष के जमाने मे भी अत्यन्त सीमित था। किन्तु ज्ञान, विज्ञान और विद्या की दृष्टि से यहूदी जाति निस्सन्देह एक अत्यन्त क्षमताशील जाति है। उनका प्राचीन और आधुनिक साहित्य अत्यन्त उच्चकोटि का है। उनकी साहित्यिक कल्पना उनकी ओजपूर्ण कविता, उनका धार्मिक और दर्शन साहित्य संसार के चोटी के साहित्यो मे से है।

यहूदी इतिहास का तनिक सिंहावलोकन कीजिये। संख्या की दृष्टि से यह छोटी सी जाति युगों से सबके तिरस्कार की पात्र रही है, किंतु फिर भी इसने अपनी संहति को कायम रखा है। इतिहास की चालीस शताब्दियों पर उसके चरण-चिन्ह अंकित हैं। यहूदियों ने गर्व के साथ मिस्र के फैरोओं की अवज्ञा की। असुरी योद्धाओं के रथों ने उनके देश को रौंद डाला किन्तु उनके गर्व को चूर करने में वे असफल रहे। बाबुली सम्राट हजारों यहूदियों को बंदी बनाकर दूर-दूर के देशों में ले गए किंतु उनकी स्वतंत्र भावनाओं को बंदी बनाने में वे असफल रहे। यूनानियों ने उनके देश को

पराधान बनाया किन्तु उनकी आखा के सामने यूनानी प्रगति का फूल खिला मुरझाया और उसकी पखुडिया धूल म मिल गइ। फिर उन्हान देखा कि प्रतापी रोमा सेनाए अबाध गति से सारी दुनिया पर अधिकार करने के लिए बढ रही है। किन्तु कुछ शताब्दिया भी नहीं बीती और वही रोम पराजय और पतन के गर्त म पडा हुआ दिखाई देन लगा। समय बीता और अरबा के भीषण हमला म यहूदी छिन्न-भिन्न होकर सारी दुनिया म बिखर गए। चीन म, मध्य एशिया म अफ्रीका के मरुस्थल म, भारत तथा अन्य देशा म यहूदी बस्तिया आबाद हो गई, किन्तु प्रबल से प्रबल जातिया भी उन्हे निगल कर हजम न कर सकी, यहा तक कि नात्सिया के भयकर से भयकर अत्याचार भी उनके एक भी जातीय गुण का विनाश करने म सफल न हो सके। दुनिया के इतिहास म कोई दूसरी मिसाल ऐसी नहीं है कि कोई जाति खर खर होकर ससार भर म बिखर जाने के बाद भी अपनी राष्ट्रीयता को बनाए रखे। ई ए फ्रीमन लिखता है यद्यपि पूरी तरह नहीं तब भी बहुत दूर तक यहूदी जाति ससार की अन्य जातियो की अपेक्षा एक विशुद्ध जाति है। अन्तर्जातीय विवाहो और धर्म परिवर्तनो से उन्होने अपने को बचाया और अपने रक्त को अमिश्रित रखा।' अपनी राष्ट्रीयता के प्रत्येक तत्व से वे चिपटे रहे। इतिहास ने बार बार उन्हे तहस नहस करने की चेष्टा की किन्तु अन्त म फलस्तीन पर वे अपनी राजसत्ता फिर से स्थापित करने म सफल हुए। आधुनिक पश्चिमी सभ्यता म उनका बहुत बडा योगदान है। कोई भी आधुनिक विज्ञान अथवा शास्त्र ऐसा नहीं है जिसम उन्होने हाथ न बटाया हो। भाषा कला, सगीत नाटक अर्थशास्त्र, विज्ञान, गणित ज्योतिष आदि क्षेत्रो मे उन्होने विशेष योगदान दिया।

इसलाम और भारत

इसलाम के पैग़म्बर मुहम्मद साहब का जन्म सन् 569 ईसवी में हुआ था। सन् 609 ईसवी में उन्होंने अपने नये मज़हब का प्रचार शुरू किया, जिसका मुख्य रूप था अरब के सैकड़ों कबीलों और घरानों के अलग-अलग हजारों देवी-देवताओं की मूर्ति-पूजा का अंत कर उन सबकी जगह मनुष्य मात्र को एक निराकार ईश्वर, अल्लाह की पूजा सिखाना, अलग-अलग कबीलों को तोड़ कर अरबों को एक सयुक्त क़ौम बनाना, अरबों की असंख्य धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों ओर हानिकर रूढियो को मिटा कर उनके सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को पवित्र और उन्नत करना और इन सबसे बढ़कर मनुष्य मात्र को समता और भाईचारे का उपदेश देना। वास्तव में मुहम्मद साहब के उपदेश धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक, तीनों क्षेत्रों मे एक सा प्रभाव रखते थे। इन उपदेशों ने अरबों के अंदर एक नई रूह फूंकी। वे धार्मिक और राजनैतिक दिग्विजय के लिए अपने देश से निकल पड़े और मुहम्मद साहब की मृत्यु के करीब सौ साल के अंदर ही उन्होंने सभ्य संसार के एक बहुत बड़े हिस्से पर अपना प्रभुत्व क़ायम कर लिया।

सन् 629 ईसवी में मक्का नगर ने मुहम्मद साहब की अधीनता स्वीकार की। सन् 629 ईसवी से 631 तक दो साल के अंदर पूरे अरब क्षेत्र ने मुहम्मद साहब को अपना सरदार मान लिया। सन् 632 में मुहम्मद साहब की मृत्यु हुई। सन् 636 में इराक (मेसोपोटामिया) और शाम (सीरिया) पर अरबों ने विजय प्राप्त की। सन् 637 में उन्होंने बैतुलमुक्द्दस (जेरूसेलम) पर क़ब्जा किया। सन् 637 से 651 तक समस्त ईरान अरबों के शासन में आ गया। सन् 701 से 715 तक अरबों ने पूर्व में चीन की सरहद तक धावा किया और समस्त तातार और तुर्किस्तान को अपने साम्राज्य में मिला लिया।

इसके साथ ही साथ इस साहसी जाति की नजर पश्चिम की आर गई। सन्

638 से 641 तक समस्त मिस्र अरबों के शासन में आ गया। सन् 647 से 701 तक कारथेज और बाकी सारे उत्तर अफरीका पर अरबों का साम्राज्य कायम हो गया। यूरोप का विशाल रोमन साम्राज्य भी इन लोगों के हमलों से न बच सका। यहां तक कि सन् 700 ईसवी से 713 तक स्पेन अरबों की हुकूमत में आ गया।

यह सब इसलाम की पहली सदी की विजयों का इतिहास है। किंतु इसके वाद भी अरबों और अन्य मुसलमान कौमों का विजय अभियान जारी रहा। धीरे-धीरे दक्षिण रूस, यूनान, बलकान, पोलैण्ड, दक्षिण इटली, सिसली इत्यादि, यानी आधे यूरोप पर अरबों की हुकूमत कायम हो गई ओर कई सौ साल तक क़ायम रही।

सन् 636 ई. की एक घटना

भारत में सबसे पहले सन् 636 ईसवी में ख़लीफ़ा उमर के ज़माने में आजकल के बम्बई टापू के पास थाना नामक स्थान पर पहली बार अरबों की कुछ जल-सेना दिखाई दी। यह सेना बहरैन (इराक) के मुसलमान गवर्नर सकैफी की आज्ञा से भेजी गई थी। ख़लीफा उमर की इसमें इजाज़त न ली गई थी। लिखा है कि जब ख़लीफा उमर को इस बात का पता लगा, वह बहरैन के गवर्नर पर नाराज़ हुआ। जल-सेना बिना किसी तरह की लड़ाई के वापस बुला ली गई और खलीफा ने यह हुकम दे दिया कि यदि फिर हिंदुस्तान पर फौजी अभियान किया जायेगा तो चढ़ाई करने वालों को कड़ी सजाएं दी जायेंगी। इस छोटी सी घटना से मालूम होता है कि उस समय के मुसलमान अरबों और भारतवासियों के बीच किस तरह के प्रेम और परस्पर आदर का संबंध क़ायम था।

ईसा की आठवीं सदी के शुरू में कुछ अरब सौदागरों की सिंहलद्वीप (लंका) में मृत्यु हुई। ये अरब सौदागर इराक के रहने वाले थे। सिंहलद्वीप के राजा ने इन अरबों की कुछ अनाथ लड़कियों को एक जहाज में बैठाकर इराक के मुसलमान गवर्नर हज्जाज के पास भेजा। मार्ग में कच्छ के कुछ डाकुओं ने, जिन्हें बावरिज कहते थे, जहाज पर हमला करके अरब लड़कियों को छीन लिया। हज्जाज ने सिंध के राजा दाहिर से लड़कियां तलब कीं। दाहिर हज्जाज की मांग पूरी न कर सका। इस पर हज्जाज ने बलूचिस्तान के रास्ते खुश्की से मोहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में एक

सेना सन् 712 ईसवी के लगभग हमला करने के लिए भेजी।[1] यही सिंध के ऊपर अरबों का सबसे पहला हमला था। मोहम्मद बिन कासिम ने सिंध और मुलतान को विजय करके उन पर अपनी हुकूमत कायम कर ली।

सिंध पर अरब हुकूमत

सिंध-विजय के बाद मोहम्मद बिन कासिम ने हज्जाज से लिख कर पूछा कि यहां के लोगों के साथ कैसा व्यवहार किया जाये। हज्जाज ने उत्तर दिया--

"जबकि उन लोगो ने खलीफा को टैक्स देना मंजूर कर लिया है तो उनसे और कुछ भी चाहना जायज नही है। हमने उन्हें अपनी हिफाज़त में ले लिया है और हम किसी तरह भी उनकी जान या माल पर हाथ नहीं उठा सकते। उन्हें अपने देवी-देवताओं की पूजा करने की इजाज़त दी जाती है। हरगिज किसी शख्स को न अपने धर्म का पालन करने से मना करना चाहिए और न रोकना चाहिए। अपने घरों में वे जिस तरह चाहें, रहें।"[2]

(1) इतिहास से साफ पता चलता है कि मोहम्मद बिन कासिम सिंध के अंदर अपनी हिंदू और मुसलमान प्रजा के साथ एक समान निष्पक्ष व्यवहार करता था।

डा. बेनीप्रसाद ने अपनी पुस्तक, 'जहांगीर का इतिहास' में लिखा है कि–"आठवीं सदी में मोहम्मद बिन कासिम की सिंध पर हकूमत नरमी और धार्मिक उदारता की एक जीती जागती मिसाल थी।"[3]

(2) इसके बाद महमूद गजनवी के हमलों के समय तक, यानी तीन सौ साल तक फिर न कोई और हमला मुसलमानों का भारत पर हुआ और न सिंध या मुलतान से आगे उनका राज बढ़ा।

प्राचीन अरब और भारत का संबंध

अरबों और भारतवासियों का संबंध अरबों के मुसलमान होने से बहुत पहले से, यानी हज़रत मुहम्मद के जन्म से कम से कम पांच सौ साल पहले से चला आ रहा था। हज़रत ईसा के जन्म के समय से ही सैंकड़ों, बल्कि हजारों अरब सौदागर भारत के पश्चिमी और पूर्वी बंदरगाहों पर आकर उतरते थे। खासकर पश्चिम में

चाल, कल्याण, सुपारा और मलावार तट पर अरबों की अनेक बड़ी-बड़ी बस्तियों का उस समय के इतिहास में ज़िक्र आता है। हज़रत ईसा के जन्म से पहले भी लंका और दक्षिण भारत में अरबों और ईरानियों की अनेक बस्तियां मौजूद थीं। ईरान, अरब, अफरीका और यूरोप के अनेक देशों के साथ भारत का उस समय जितना व्यापार था अधिकतर अरब और ईरानी सौदागरों ही के हाथों में था। रोमन इतिहास लेखक लिखते हैं कि रोम और यूनान के जो जहाज़ उन दिनों भारत आते-जाते थे उनके नाविक अधिकतर अरब ही होते थे। भारत और चीन के बीच की तिजारत का एक खासा हिस्सा अरबों ही के हाथों में था जिसके सबब भारत के पूर्वी तट से भी ये लोग पूरी तरह परिचित थे और वहां भी स्थान-स्थान पर इनकी अनेक बस्तियां आबाद थीं।

उस समय अरबों का मज़हब एक प्राचीन ढंग का मूर्ति पूजकों का मज़हब था। वे अपने अलग-अलग कबीलों के अलग-अलग देवी-देवताओं को मानते थे और उनकी मूर्तियों की पूजा करते थे। उस समय के अनेक सफरनामों से साबित है कि ये अरब सरल स्वभाव और उदार चित्त के थे। भारत में उनकी बस्तियां खूब खुशहाल थीं।

इसके बाद मुहम्मद साहब के जन्म और इसलाम के प्रचार का समय आया। अरबों और खासकर अरब व्यापारियों का भारत आना जाना पहले की तरह जारी रहा। फरक केवल यह हो गया कि पुराने मूर्तिपूजक अरबों की जगह अब निराकार के उपासक, नये अरब भारत आने लगे। या वही अरब अब मुसलमान हो गए। उनके साथ-साथ अब एक नये मज़हब और इसलाम के नये विचारों और नये आदर्शों ने भी भारत में प्रवेश किया। उस समय के अरब मुसलमानों और उनके साथ इसलाम के इस तरह भारत में प्रवेश करने का किसी फ़ौजी हमले से कोई संबंध न था।

आठवीं सदी का भारत

इस स्थान पर आगे बढ़ने से पहले उस समय के भारत की हालत को संक्षेप में बयान कर देना भी आवश्यक है। ईसा की सातवीं सदी के मध्य में सम्राट हर्ष-वर्धन की सत्ता का अंत हुआ। उत्तर भारत टुकड़े-टुकड़े होकर अनेक छोटी-छोटी रियासतों में बंट गया। राजपूतों ने पश्चिम से चल कर उत्तर-पूर्व में और मध्य भारत

में अनेक छोटी-छोटी रियासतें क़ायम कर लीं। अनेक नयी जातियां अपने को राजपूत कहने लगीं। यहां तक कि मुसलमानों के आने से ठीक पहले पंजाब से दक्षिण तक और बंगाल से अरब सागर तक क़रीब-क़रीब सारा देश अलग-अलग राजपूत सरदारों के शासन में आ गया। किंतु कोई प्रधान केंद्रीय शक्ति इन सब छोटी-बड़ी रियासतों को एक सूत्र में बांधने वाली न थी, और आए दिन इन रियासतों के बीच अपना-अपना राज बढ़ाने के लिए एक दूसरे से संग्राम होते रहते थे। यानी, एक प्रधान और प्रबल भारतीय साम्राज्य की जगह एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी और एक दूसरे से स्वतंत्र अनेक छोटे-बड़े राजा भारत पर शासन करते थे और देश की राजनैतिक या राष्ट्रीय एकता केवल स्वप्न मात्र थी। पुराने साम्राज्यों के केंद्र—मगध, पाटलिपुत्र, राजगृह इत्यादि—खंडहर दिखाई दे रहे थे। वैशाली, कुशीनगर, केड़िया, रामग्राम, कपिलवस्तु और श्रावस्ती, जिनके नाम बौद्ध इतिहास में मशहूर हो चुके थे, अब बरबाद दिखाई देते थे और देश के राजनैतिक और आर्थिक जीवन के दूसरे केंद्रों ने उनकी जगह ले ली थी।

धर्म के क्षेत्र में भी भारत का वह समय अवनति का समय था। बुद्ध की मृत्यु से ढाई सौ साल के अंदर, यानी हज़रत ईसा के जन्म से करीब ढाई सौ साल पहले, उस समय के विगड़े हुए हिंदू धर्म को भारत से निकाल कर बौद्ध धर्म उसका स्थान ले चुका था। किंतु जिन ब्राह्मण पुरोहितों और उच्च जातियों के विशेषाधिकारों पर बौद्ध धर्म ने हमला किया था उनकी ओर से विद्रोह की आग बराबर सुलगती रही। धीरे-धीरे मूर्ति-पूजा और प्राचीन हिंदू कर्मकाण्डों ने बौद्ध धर्म में भी प्रवेश करना शुरू किया। उत्तर भारत में महायान संप्रदाय की नींव रखी गई, जिसमें बुद्ध भगवान के अलावा अनेक बोधिसत्वों की और खासकर 'अमिताभ' की पूजा होने लगी। बौद्ध मंदिरों का समस्त कर्मकाण्ड हिंदू मंदिरों के ढंग पर ढल गया। शुरू के बौद्ध मत ने जो स्थान संस्कृत से छीन कर जनता की भाषाओं—प्राकृत या पाली—को दिया था, वह अब महायान संप्रदाय में फिर से संस्कृत को प्रदान किया गया। ज्ञान मार्ग की जगह बहुत दरजे तक कर्मकाण्ड और पूजा-भक्ति ने ले ली।

भारत में इसलाम धर्म का प्रवेश

ठीक उस समय जबकि इस देश की यह हालत थी, इसलाम ने भारत में प्रवेश किया। इतिहास से पता चलता है कि इस नये धर्म का भारतवासियों ने उसी प्रेम

के साथ स्वागत किया जिस प्रेम के साथ सैकड़ों साल पहले से वे अरब सौदागरों का स्वागत करते आए थे। एक बार भारतवर्ष की सीमाओं के अंदर प्रवेश करते ही इसलाम भी भारत के असंख्य संप्रदायों में से एक गिना जाने लगा। इतिहास लेखक रालैण्डसन लिखता है कि सातवीं सदी के अंत में मुसलमान अरब मलाबार तट पर आकर बसने लगे थे। इतिहास लेखक स्टराक लिखता है कि-"सातवीं सदी से लेकर ईरानी और अरब सौदागर भारत के पश्चिमी तट पर अलग-अलग बंदरगाहों में बड़ी संख्या में आकर बसने लगे। ये लोग इसी देश की स्त्रियों के साथ शादियां कर लेते थे। इनकी बस्तियां मलाबार में बड़ी-बड़ी और महत्वपूर्ण थीं, क्योंकि मालूम होता है वहां बहुत शुरू ज़माने से राज की यह एक नीति चली आ रही थी कि बंदरगाहों में विदेशी व्यापारियों को हर तरह की सुविधाएं दी जावें।"[4]

धीरे-धीरे दक्षिण में अरबों का प्रभाव बढ़ता गया। राज की ओर से उन्हें तिजारत करने और जमीन खरीदने के साथ-साथ अपने नये धर्म का प्रचार करने की भी पूरी सुविधाएं दी जाने लगीं। नवीं सदी तक ये लोग समस्त पश्चिमी तट पर फैल गए। भारत में उस समय बौद्ध मत ओर जैन मत का हिंदू मत और उसके नये संप्रदायों-शैव और शक्त मत के साथ भीषण सघर्ष जारी था। कर्मकाण्ड और रूढ़िवाद से ग्रस्त हिंदू संप्रदाय के मुकाबले में, इसलाम के सीधे-सादे और सरल सिद्धांतों की ओर, और उसके अंदर मनुष्यमात्र की समता के विचार की ओर लोगों का ध्यान ज़ोरों के साथ आकर्षित हुआ। इसलाम के विरूद्ध पक्षपात या उसके साथ द्वेष का कोई सबब उस समय तक मौजूद न था। नवीं सदी के शुरू में ही मलाबार के हिंदू राजा, चैरामन पेरूमल ने, जिसकी राजधानी कोडंगलूर थी, इसलाम मत स्वीकार कर लिया।[5] राजा का नाम अब्दुररहमान सानीनी रखा गया। इसलाम मत स्वीकार करने के बाद अब्दुररहमान अरब गया। चार साल बाद अरब में ही उसकी मृत्यु हुई। अरब से उसने कई मुसलमान विद्वानों और प्रचारकों को भारत भेजा, उनकी मारफत अपने उत्तराधिकारियों को शासन प्रबंध के लिए हिदायतें दीं और यह भी हिदायत दी कि देश के अंदर नये मत के प्रचार में अरब विद्वानों को पूरी सहायता दी जाये। राजा चेरामन पेरूमल के उत्तराधिकारियों ने बड़े हर्ष के साथ अरब विद्वानों का स्वागत किया और उनके आदेशानुसार मलाबार तट पर एक निराकार ईश्वर की उपासना के लिए ग्यारह नई मसजिदें बनवाई।

कालीकट के सामुरी राजा और तिरूवांकुर के महाराजा भी उसी चेरामन पेरूमल के वंशज और उत्तराधिकारी हैं। इन दोनों स्थानों पर उस ग्यारह सौ साल पहले की घटना की याद में कम से कम सन् 1912 ई. तक यह रिवाज चला आता था कि जिस समय नया सामुरी राजा गद्दी पर बेठता था तो अरबों की तरह उसका मुण्डन किया जाता था, उसे अरवो के से कपड़े पहनाए जाते थे, एक मोपला उसके सिर पर ताज रखता था,[6] राजतिलक के बाद उसे जातिच्युत समझा जाता था। अपने घर के लोगों के साथ भी फिर वह सहभोज न कर सकता था और कोई नय्यर उसे स्पर्श नहीं करता था। समझा यह जाता है कि हर सामुरी चेरामन पेरूमल के अरब से लोटने के इंतजार मे केवल उसके एक प्रतिनिधि की हेसियत से उसकी जगह तख्त पर बैठता है। तिरूवाकुर के महाराजाओ की गद्दी पर बेठते समय जब खड्ग हाथ में दी जाती थी, तब उन्हें यह कहना पड़ता था—"मैं इस खड्ग को उस समय तक रखूंगा, जब नक कि मेरा वह चचा, जो मक्का गया है, लौट न आए।"[7]

सामुरी ने अपने राज में अरवो को हर तरह की सहायता दी। कोई नय्यर किसी नम्बूदरी ब्राह्मण के बराबर मे न बेठता था, किंतु कोई भी अरब बेठ सकता था। मुसलमानों का धर्मगुरु थंगल सामुरी के साथ-साथ पालकी मे निकलता था। अरबों और दूसरे मुसलमानों की मदद से सामुरी ने अपने राज की सीमाओं को बढ़ाया जिससे राज की खुशहाली में बहुत बड़ी उन्नति हुई। आजकल का कालीकट नगर उस समय के एक मुसलमान काजी ही का बसाया हुआ है। मलाबार के राजाओं की जल-सेना के सेनापति अधिकतर अरव मुसलमान होते थे जो 'अर्लीराजा' कहलाते थे। इसलाम धर्म के प्रचार में भी सामुरी ने सहायता दी। यहां तक कि उसने आज्ञा दे दी कि हर हिंदू मल्लाह के घर के कम से कम एक लड़के को बचपन से अरबों की तरह शिक्षा दी जाय। यहीं से आजकल के मोपलों की उत्पत्ति हुई। मोपला शब्द का अर्थ 'महापिल्ला' यानी ज्येष्ठ पुत्र है।[8]

भारत के पूर्वी तट पर मुसलमानों की बस्तियां और उनका महत्व बढ़ता चला गया। एक मुसलमान फकीर, नज्द वली के प्रभाव से ग्यारहवीं सदी में मदुरा और तिरूच्चिरापल्ली के इलाकों में अनेक लोगों ने इसलाम मत स्वीकार किया। यह नज्द वली टरकी का एक शहजादा था, जो फकीर हो गया था और अरब, ईरान और उत्तर भारत से होता हुआ तिरूच्चिरापल्ली पहुंचा था। बारहवीं सदी में एक दूसरे

फकीर, सय्यद इब्राहीम शहीद के असर से भी अनेक लोगों ने इसलाम मत स्वीकार किया। इसी तरह बाबा फखरूद्दीन इत्यादि और बहुत से इसलाम धर्म प्रचारकों के नाम उस समय के इतिहास मं मिलते हैं। बाबा फखरूद्दीन के प्रभाव से पुन्नुकोण्डा के हिंदू राजा ने इसलाम मत स्वीकार किया। यह भी साफ पता चलता है कि इन अरबों की कोशिश से भारत और खास कर दक्षिण भारत की तिजारत और खुशहाली में बहुत बड़ी तरक्की हुई। दक्षिण के हिंदू राजाओं की ओर से चीन जेसे दूर-दूर के देशों में मुसलमान एलची और राजदूत भेजे जाते थे। अनेक हिंदू दरबारों में मुसलमान मंत्री और प्रधानमंत्री थे। अनेक प्रातों के शासक मुसलमान नियुक्त किए जाते थे। हिंदू राजाओं के अधीन बड़ी-बड़ी मुसलमान सेनाएं थीं।

यारहवीं सदी के करीब खम्भात में कुछ हिंदुओं ने मुसलमानों की एक मसजिद पर हमला करके उसे गिरा दिया। राजा सिद्धराज ने तहकीकात करके अपराधियों को दण्ड दिया और अपने धन से एक नयी मसजिद बनवा दी। ग्यारहवी सदी में गुजराती वोहरों के शिया धर्माचार्य, मुल्ला जी ने यमन (अरब) से आकर गुजरात में रहना शुरू किया। उसी समय के निकट नूरूद्दीन ने गुजरात के कुनबियो, खेरवाओ और काडियों को इसलाम धर्म में शामिल किया। बेशुमार मुसलमान संत और फकीर आठवीं सदी से लेकर पंद्रहवी सदी तक बराबर उत्तर से लेकर दक्षिण तक और पूरब से लेकर पश्चिम तक भारत के विविध भागों में आकर बसते रहे जिनके ऊंचे चरित्र और इसलाम के सरल धार्मिक सिद्धांतों के सबब उस धार्मिक अव्यवस्था के युग में स्थान-स्थान पर अगणित भारतवासियों ने इसलाम धर्म स्वीकार करना शुरू कर दिया। अभी तक यदि उत्तर भारत के उन ग्रामों में घूमा जाय जिनकी अधिकांश आबादी मुसलमान है, तो दरियाफत करने पर मालूम होगा कि वहां के लोगों के इसलाम मत स्वीकार करने का सबब किसी न किसी समय किसी न किसी त्यागी और संयमी मुसलमान फकीर का उनके अंदर सहवास था।

भारत में इसलाम का प्रचार

निस्संदेह हर युग और हर देश में प्रजा के ऊपर राजा या शासकों के धार्मिक विचारों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक और अनिवार्य है। यदि सम्राट अशोक न होता तो बौद्ध धर्म का भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक इस तरह फैल सकना

शायद इतना आसान न होता। इसी तरह यदि सम्राट समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त (दूसरा) वैष्णव मत के पोषक और सम्राट यशोधर्म देव (विक्रमादित्य) शैव मत के पोषक न होते तो शैव मत का बौद्ध मत को भारत से निकाल बाहर कर सकना इतना सरल न होता। शैव और शाक्त मतों के साथ बौद्ध मत और जैन मत के संघर्ष के दिनों में भी इस तरह बल प्रयोग की अनेक मिसालें मिलती हैं। किंतु इतिहास से बिलकुल साफ पता चलता है कि इस देश के ऊपर मुसलमानों के फ़ौजी हमलों से बहुत पहले इसलाम मत इस देश में प्रवेश कर चुका था। इसलाम इस देश मे महमूद गज़नवी के हमले से भी पहले काफी फैल चुका था और इसलाम के भारत में फैलने का खास सबब उस समय के इसलाम के प्रचारकों का त्याग, उनकी सच्चरित्रता और इसलाम मत के वे स्पष्ट और सीधे-सादे सिद्धांत थे, जो कम से कम उस समय के भारत के अनेक हिंदू सप्रदायों के मुक़ाबले में ज़न-सामान्य के लिए अधिक सरल, हितकर और सुसाध्य थे। भारत के जिन लोगों ने उस समय इसलाम मत स्वीकार किया, उनमें अधिकांश पिछड़े वर्ग के लोग थे जो उस समय की भारतीय वर्ण-व्यवस्था को अपने लिए अन्याय-पूर्ण अनुभव करते थे और हिंदुओं की किसी उपजाति का इसलाम मत स्वीकार करना ठीक वैसा ही था जैसा उनका वैदिक मत को छोड़ कर बौद्ध मत स्वीकार करना या बौद्ध मत को छोड़ कर वैष्णव मत या शैव मत स्वीकार करना, या चीनियों या वर्मियों का अपने-अपने मतों को छोड़ कर भारतीय बौद्ध मत को स्वीकार करना।

भारतवासियों और भारतीय नरेशों का अरब सौदागरों के साथ सुंदर व्यवहार, उनका अपने अपने राज में इसलाम मत को पूरी स्वतंत्रता देना और उस शुरू ज़माने के भारतवर्ष में हिंदुओं और मुसलमानों का परस्पर प्रेम संबंध ही वह बात थी जिसके सबब ख़लीफा उमर ने अरब सेना को आदेश दिया था कि भारत पर कभी सैनिक हमला न किया जाय, और जिसके सबब एशिया, अफरीका और यूरोप में अरब साम्राज्य के पूरा विस्तार पा जाने के वर्षो बाद तक भी मुसलमानों की ओर से भारत पर हमला नहीं किया गया।

भारत की क़रीब एक चौथाई आबादी के धीरे-धीरे इसलाम मत स्वीकार करने में राजनैतिक दबाव या जबरदस्ती का हिस्सा कहां तक था, इसके संबंध में हम केवल दो एक इतिहास लेखकों की सम्मतियां नीचे देते हैं। भारतीय मुसलमानों का ज़िक्र

करते हुए इतिहास लेखक आरनाल्ड लिखता है–

"इनमें अधिकांश ऐसे लोग हैं जिन्होंने अपनी स्वतत्र इच्छा से इसलाम मत स्वीकार किया।"[9]

एक दूसरा इतिहास लेखक, टाउन्सेण्ड लिखता है–

"इस मत के इस देश में फैलने का खास सबब ज़ोर ज़बरदस्ती नहीं है।"[10]

एक दूसरे स्थान पर यही लेखक भारतीय मुसलमानों के विषय में लिखता है–

"इन तमाम मुसलमानों में से 90 फीसदी में भारतीय रक्त है, वे इस देश के वैसे ही भारतीय नागरिक हैं जैसे हिंदू। उनमें बहुत से पुराने हिंदू अंधविश्वास भी अभी तक मोजूद है। वे केवल इसलिए मुसलमान हैं क्योंकि उनके पूर्वजों ने अरब के उस महापुरुष (मुहम्मद) का मत स्वीकार किया।"[11]

और आगे चल कर यही विद्वान लिखता है कि भारत में मुसलमानों का राज क़ायम हो जाने के बाद भी प्रजा को ज़बरदस्ती मुसलमान बनाना अधिकांश नये मुसलमान शासकों के हित और उनकी रुचि, दोनों के विरूद्ध था। वह लिखता है–

"इसलाम का प्रचारक बल प्रयोग न कर सकता था और जिन हमला करने वालों ने यहां पर विजय प्राप्त की और जो यहां बस गए, उन्होंने भी प्रायः कभी भी बल प्रयोग करना नहीं चाहा। इसकी वजह यह थी कि बल प्रयोग करने मे उनका हित न था। वे अपना राज, बादशाहतें या साम्राज्य कायम करना चाहते थे न कि अपनी ही टैक्स देने वाली प्रजा के साथ घरेलू युद्ध छेड़ना या इस विशाल प्रायद्वीप की योद्धा जातियों की अदम्य शत्रुता को अपने विरूद्ध भड़का लेना; ये जातियां हिंदू थीं और हिंदू रहीं।"[12]

तेरहवीं सदी के अंत से सोलहवीं सदी के प्रारंभ तक, जबकि भारत में अपना साम्राज्य कायम करने के लिए मुसलमानों के प्रयत्न जारी थे, उस समय के बारे में सर अलफ्रेड लायल लिखता है कि मुसलमान नरेश–

"आमतौर पर लड़ाई में इतने मशगूल रहते थे कि वे धर्म प्रचार की ओर अधिक ध्यान न दे सकते थे, या यह कि उन्हें लोगों को मुसलमान बनाने की अपेक्षा

उनसे खिराज वसूल करने की अधिक चिंता रहती थी।"[11]

निस्संदेह कहीं-कहीं इस तरह की मिसालें भी मिलती हैं जिनमें राजनैतिक या अन्य बातों से प्रेरित होकर भारत के किसी-किसी मुसलमान नरेश ने इसलाम मत के प्रचार के हित में अपने अधिकारों का अनुचित प्रयोग किया, किंतु इसके विपरीत केवल जैनुलआबदीन, शेरशाह सूरी, बाबर, अकबर, जहांगीर, औरंगज़ेब ही नहीं बल्कि अधिकांश मुसलमान शासकों के पचासों फ़रमान और आज्ञाएं इस विषय की नकल की जा सकती हैं जिनसे मालुम होता है कि वे अपनी हिंदू और मुसलमान प्रजा को एक दृष्टि से देखते थे और राज शासन में किसी तरह का धार्मिक पक्षपात अपने लिए हितकर न समझते थे। इतिहास से यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि वर्तमान भारतीय मुसलमानों में से 90 फीसदी के इसलाम मत स्वीकार करने का सबब केवल उस समय के असंख्य मुसलमान फकीरों, पीरों और दरवेशों की सच्चरित्रता और इसलाम की सामाजिक समता और समानता थी।

References

1 Elliot's History of India, Vol 1, p. 118

2 Dr Ishwari Prasad ,"The History of Medieval India" p 52, 53

3 Dr. Beni Prasad, "Mohammad Bin Qasim's Administration of Sindh in the 8th century was a shining example of moderation and tolerance"--History of Jehangir. p 89.

4. Sturrock S Kanara, Madras District Manuals, p 180

5. Logan · Malabar, Vol 1, p. 245.

6. Quadir Husain Khan : South Indian Mussalmans, Madras Christian College Magazine (1912-13), p. 241.

7. Logan · Malabar, Vol 1, p. 231

8. Innes : Malabar and Anjengo District Gazetteer, p. 190.

9. T.W. Arnold, "Bv far the majority of them entered the pale of Islam of their own free will" --The Preaching of Islam, 1913, p. 255.

10. M. Townsend, "Its spread as a faith is not due mainly to compulsion", Asia and Europe, London, 1911, p. 44.

11. "Ninety percent of the whole body of the Muslims are Indians by

blood, as much children of the soil as the Hindoos, retaining many of the old pagan superstitions and only mussalmans because their ancestors embraced the faith of the Great Arabian " *Ibid*, p 43

12 The missionary of Islam could not use force and as to the invaders who conquered and remained, they seldom or never wished to use it, for the sufficient reason that it was not their interest They wanted to found principalities, or kingdoms or an empire, not to wage an internecine war with their own taxpaying subjects or to arouse against themselves the unconquerable hostility of the warrior races of the gigantic peninsula who were and who remain Hindoos- *Ibid*, p 45

13 "Generally too busily engaged in fighting to pay much regard to the intere[illegible] religion, or else thought more of the exaction of tribute than of the work of conversion "--Asiatic studies, by Alfred Lyall

रखी है। कुरान की सबसे बड़ी खूबी यह है कि वह इनसानियत के, मानवता के, टुकड़े नहीं करता। इसलाम के इनसानी भाईचारे की परिधि में कुल मानवजाति, कुल इनसान शामिल हैं और हर व्यक्ति को सदा सबकी अर्थात् अखिल मानवता की भलाई, बेहतरी और कल्याण का ध्येय अपने सामने रखना चाहिए। कुरान का कहना है कि सारा मानव समाज एक कुटुम्ब हे। कुरान की कई आयतों में नबियों ओर पेगम्बरो को भी भाई शब्द से सबोधित किया गया है। मुहम्मद साहब हर समय की नमाज़ के बाद आमतौर पर यह कहा करते थे–"मैं साक्षी हूं कि दुनिया के सब आदमी एक दूसरे के भाई है।" यह शव्द इतनी गहराई और भावुकता के साथ उनके गले से निकलते थे कि उनकी आखो से टप-टप आंसू गिरने लगते थे।

इससे अधिक स्पष्ट और ज़ोरदार शब्दों में मानव एकता और मानव जाति के एक कुटुम्ब होने का वयान नहीं किया जा सकता। कुरान की यह तालीम ओर इसलाम के पैगम्बर की यह मिसाल उन सारे रिवाजों और कायदे-कानूनों को और उन सब क़ौमी, मुल्की, नसली ओर मज़हबी गिरोहबंदियों को एकदम ग़लत और नाजायज़ कर देती है जो एक इनसान को दूसरे इनसान से अलग करती हैं और मानव-मानव के बीच भेदभाव और झगड़े पैदा करती हैं।

इसलाम के धार्मिक सिद्धांत

"सब इनसान एक ही वाहिद उम्मत अर्थात् एक ही क़ौम हैं।"[1]

"और समस्त इनसान इसके सिवाए और कुछ नहीं कि सब एक क़ोम (वाहिद उम्मत) हैं।[2]

"सचमुच तुम इनसानों की एक ही क़ौम है और एक ही अल्लाह तुम सबका रब्ब है। इसीलिए सव उसकी इबादत (उपासना) करो। लोगों ने काट-काट कर अपने अलग-अलग गिरोह (संप्रदाय) बना रखे हैं, पर सबको एक ही अल्लाह के पास जाना है।[3]

कुरान के अनुसार, यह बुनियादी सच्चाई सभी धर्म-ग्रंथों में मौजूद है। कुरान के अनुसार, सब धर्मो ने एक ही सच्चाई की घोषणा की है। कुरान कहता है :

इन्नहू लफी जुबूरिल इल अव्वलीन लि कुल्ले कौमिनहाद।

व इम्मिन उम्मतिन इल्ला खलाफीहा नजीर।
ला नोफ़र्रिको बैना अहदिम मिन रूसुलिह।
व मा अरसलना मिन कब्लेका मिर्रसूलिन।
इल्ला नूही इलैह अन्न हू।
ला इलाहा इला अना फाबदुन।[4]

अर्थात्--जो कुछ मैंने तुमसे कहा है वह सब पहले के लोगां के पवित्र ग्रंथों में मौजूद है। सब क़ौमों में अल्लाह ने पैग़म्बर (ईश्वरीय संदेशवाहक) भेजे हैं। उन पैग़म्बरों में हम एक दूसरे के साथ किसी तरह का फर्क़ नहीं करते। सबको एक बराबर मानते हैं और सबकी एक ही शिक्षा है। सबने एक ही सच्चाई की घोषणा की है। सबका मैं ही एक ईश्वर हूं। मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा उपासना योग्य नही है।

"और जो रसूल जिस क़ौम मे भेजा गया है उसे उसी क़ौम की ज़बान (भाषा) में ईश्वरीय संदेश देकर भेजा गया हे ताकि वे उन्हें साफ-साफ समझ सकें।"[5]

"जो लोग एक रसूल (पैग़म्बर, अवतार) और दूसरे रसूल में फ़रक़ करते हैं और कहते हैं कि हम किसी को मानते हैं और किसी को नहीं मानते, यही लोग काफ़ेरूना हक्का (यानी असली काफ़िर) हैं।[6]

कुरान अपने से पहले के सब धर्मग्रंथों को अपनी ही तरह ठीक मानता है। कुरान के अनुसार--

सच्चाई का ठेका दुनिया के किसी एक धर्म ने नहीं ले रखा बल्कि दुनिया के सब बड़े-बड़े धर्मो की शिक्षा एक है।[7]

यह हैं कुरान के सार्वभौम धार्मिक सिद्धांत। किंतु कुरान की इस सार्वभौमिक शिक्षा के विपरीत, संसार के सब अलग-अलग धर्म के लोगों ने अपनी अलग-अलग धार्मिक गिरोहबंदियां कर रखी हैं। सबने अपने को अलग-अलग लोहे के पिंजड़ों में बंद कर रखा है। स्वयं इसलाम के अनुयाइयों ने भी अपने आपको इसी तरह के लोहे के पिंजड़े में बंद कर रखा है। इस पिंजड़े को वह 'अखूबते इसलामी' यानी 'इसलामी भाईचारा' कहते हैं। इस इसलामी भाईचारे के अंदर भी उन्होंने फिर इस तरह के रिवाज और समाजी दलबंदियां पैदा कर ली हैं जिनको मिटाना कुरान और

पैगम्बर इसलाम का खास मिशन है। वह सब भेद और दलबंदियां, जो भाई-भाई में फ़रक करती हैं और एक दूसरे से खींचतान पैदा करती हैं, कुरान की आज्ञा के विपरीत हैं।

हमारे रोजमर्रा के जीवन में एक इनसान को दूसरे इनसान के साथ जिस उसूल पर बरताव करना चाहिए उसे कुरान 'अद्ल' यानी 'इनसाफ का उसूल' बताता है। इस उसूल से बढ़कर एक दूसरे के प्रति समता की भावना पैदा करने वाला कोई दूसरा उसूल नहीं हो सकता। कुरान ने इस उसूल की विस्तार से व्याख्या की है। सबसे पहले उसने किसी भी आदमी के लिए किसी ग़ैर ज़रूरी चीज को अपने कब्जे में रखना ग़लत ओर नाजायज़ करार दिया है। कुरान की स्पष्ट दलील यह है कि कुछ लोगों के अपने पास आवश्यकता से अधिक माल और धन जमा कर लेने से दूसरे हक़दारों और जरूरतमंदों का हक़ मारा जाता है।

कुरान ने गैर जरूरी सोने और चांदी को अपने पास रखना गुनाह बताया है और कहा है कि जो कोई गैर जरूरी सोना और चांदी अपने पास रखेगा, कर्मो का फल मिलने के दिन उसकी छाती, उसकी हड्डियां और उसकी पीठ उसी सोने और चांदी को गरम करके उससे दागी जाएंगी और उससे कहा जाएगा कि अपनी उस खुदगर्जी का मजा चख। कुरान मे यह इसलिए नहीं कहा कि लोग दुनिया छोड़कर या फकीर बनकर दुनिया के सुखों से अलग रहें। कुरान की इस तालीम की बुनियाद अपने पड़ोसियों और दूसरे इनसानों के हकों और उनकी जरूरतों को पूरा करने पर है। सब खुदा के बदे हैं। सब बराबर हैं। सब आदमी हैं। सबकी जरूरतें एक बराबर पूरी होनी चाहिएं। इसलिए जो कोई अपनी जरूरत से ज्यादा खर्च करता है या जमा करता है, अपना पेट भरने के साथ-साथ अपनी पेटी भी भरता है, वह दूसरों को उनके जायज हक़ों यानी मानव अधिकारों से वंचित कर देता है और खुदा की उन नियामतों पर ज़ालिमाना कब्जा करता है जो उसके लिए एक सी हैं। ऐसा करना गुनाह है, पाप है और अदल तथा इनसाफ के ख़िलाफ है।

इन उसूलों की बुनियाद केवल दूसरी दुनिया की भलाई पर ही नहीं है, बल्कि इस दुनिया और इस जिंदगी के सच्चे फायदे पर भी है। इन उसूलों का संबंध इमसानी बराबरी, भाईचारे और सच्ची लोकशाही से है। इसके पीछे जो आदमी की रूहानी भलाई का ख्याल है वह एक अलग चीज है। जाहिर है कि पूंजीवाद, सरमायादारी

या कैपिटलिज़म का इस सबसे अधिक कडा विरोध नहीं हो सकता। कुरान के सिद्धातों से पूंजीवाद का कोई मेल नहीं। कुरान ने सूद कमाना, जुआ खेलना और सरमाया जमा करना, इन सबको हराम बताया है। अगर आज मानव समाज ने कुरान के इन स्वर्णिम सिद्धातों पर अमल किया होता तो हर तरह की सरमायादारी पूजीवादी व्यवस्था दुनिया से मिट चुकी होती और वह शहनशाहियत, जो जम्हूरियत का जामा पहनकर दुनिया पर राज कर रही है या राज करने की कोशिश कर रही हे, पैदा ही न हो पाती। हर धर्म ने यही नालीम दी है, लेकिन इसलाम ने इन उसूलो के ऊपर एक बहुत बड़ा राज कायम करके भी दिखा दिया है।

यह बात भी याद रखनी चाहिए कि कुरान ने यह सब उसूल खाम लोगो, मोमिनों, आबिदों ''' ख़ुदा के खास बदों के लिए ही नहीं रखे, उनके लिए अलग-दरजे-ब-दरजे खास नियम और कानून हैं। यह उसूल सब इनसानो के लिए हे। इनके विपरीत अमल करना खुदा के हुकुम को तोड़ना है।

लेकिन आज लोगों की ज़िदगी कुरान के उसूलों पर क़ायम नहीं है, बल्कि उन उसूलो की गलत तावीलो (गलत व्याख्याओं) पर क़ायम है। मिसाल के तौर पर, कुरान में खुदा ने अपने बदो को यह इजाजत दी है कि वह दुनिया की अच्छी-अच्छी चीजों और जायज नियामतो से फायदा उठाए। कुरान में लिखा है कि "हमने तुम पर यह चीजें हराम नही की हे।" इस आयत की गलत तावील (झूठी व्याख्या) करके लोगों ने अपने लिए सारी दुनियापरस्नी ओर ऐश-इशरत को जायज़ कर लिया है। लोग यह नहीं देखते कि किसी खास चीज का जायज़ होना या उसके इस्तेमाल की इजाज़त होना उन उसूलों को रद्द नही कर देता जो उसके इस्तेमाल के लिए कुरान ने क़ायम किए है। जो बात अदल ओर इनसाफ के ख़िलाफ है, जो मानव एकता और इनसानी भाईचारे के ख़िलाफ है और इस बारे में कुरान के स्पष्ट आदेशो से टकराती है, इसलाम के बुनियादी सिद्धातों के साथ उसका कोई मेल नही।

इसलाम के आर्थिक सिद्धांत

अन्य प्राणियों से अधिक इनसान में जो समझ और नेकी और बदी की तमीज और एक रूहानी प्यास है, उसकी बिना पर कुरान में आदमी को 'अशरफ-उल-मखलूकात' यानी "और सब प्राणियों से बढ़कर" कहा गया है, और उसे यह इजाज़त है कि

वह खुदा की दी हुई सब नियामतों से अपनी जरूरत के मुताबिक खुद फायदा उठाए और दूसरों को फायदा पहुंचाए। आर्थिक ज़िंदगी में भी कुरान ने आदमी के सामने वही अदल और इनसाफ का उसूल रखा है जो समाजी जिंदगी में है। इसके बाद कुरान ने इनसान को 'अशरफ-उल-मखलूकान' होने की हैसियत से जमीन पर खुदा का खलीफा यानी प्रतिनिधि करार दिया है और उसका यह फ़र्ज बताया है कि वह खुदा की सब नियामतों को सब प्राणियों में उनकी आवश्यकता के अनुसार ठीक-ठीक वितरण करे। यही उसके खलीफा होने का अर्थ है।

गरज यह है कि खुदा सारी सृष्टि का बनाने वाला ही नहीं बल्कि उसका मालिक भी है और इस मालिक की हैसियत से उसने आदमी को अपना ख़लीफा बनाया है। ख़लीफा होने का यह मतलब नहीं है कि आदमी जो चाहे करे और जिस तरह चाहे रहे। आदमी को खुदा का ख़लीफा बनाने के साथ-साथ कुरान में सब आदमियों और सब जानवरों के हक और उनके फ़र्ज तय कर दिए गए हैं। अगर आदमी खुदा के बताए हुए उन उसूलो और सबके अधिकारों के विपरीत आचरण करता है तो वह इस दुनिया में और दूसरी दुनिया में खुदा के सामने जवाबदेह होगा। आदमी के खुदा का खलीफा होने का यह विचार केवल इसलाम ही में नहीं, सब धर्मो में किसी न किसी रूप में मौजूद है और हर मज़हब में उसके लिए उसूल और क़ायदे बने हुए हैं। इन बुनियादी और कुदरती उसूलों पर चलने के लिए किसी को अपना मज़हब बदलने की आवश्यकता नहीं।

अगर हम केवल इस बात को अच्छी तरह समझ लें कि ईश्वर एक है और वही सबका बनाने वाला है और सबका मालिक है तो इसी एक उसूल के आधार पर सब तरह की फिरक़ेवारियन, सांप्रदायिकता और धार्मिक दलबंदियों को समाप्त हो जाना चाहिए। हर इनसान इस धरती के ऊपर खुदा का खलीफा यानी नायब है। इस उसूल को सामने रखकर हम केवल मुसलिम, हिंदू, ईसाई ही नहीं, सारी इनसानी बिरादरी को एक भाईचारे में बांध सकते हैं। जो आदमी खुदा के भेजे हुए अदल और इनसाफ के कानून के अनुसार जिदगी बसर करता है और सबके साथ मिलकर सबकी जरूरतों को देखते हुए दुनिया की चीजें इस्तेमाल करता है वही सचमुच खुदा का खलीफा कहलाने का अधिकारी है, चाहे वह मुसलिम हो, हिंदू हो या ईसाई हो और जो कोई इसके खिलाफ अमल करता है वह खुदा के प्रति बागी है।

जब सब आदमी भाई-भाई है तो लाज़िमी तौर पर दुनिया की सब नियामतों में सबका बराबर का हिस्सा है। इसलिए कुरानी जिंदगी में गरीब और अमीर का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता। जो आर्थिक असमता आज दुनिया में फैली हुई है, उसकी ज़िम्मेवारी खुदा के ख्याल और मज़हब के प्रचार पर डाली जाती है। खुदापरस्त इसे बहुत बड़ी बेइनसाफी कहते हैं। जो ऊंच-नीच और गरीब-अमीर का फरक इस समय दुनिया में है उसका कारण धर्मो के उसूल नहीं हैं। कारण यह है कि उन धर्मो के मानने वालों ने अपने-अपने धर्मो के सच्चे उसूलों से हटकर अपनी समाजी और आर्थिक ज़िंदगी में स्वार्थ, खुदगरज़ी और दुनिया-परस्ती के ग़लत उसूलो पर चलना शुरू कर दिया। वह दुनिया-परस्ती के जाल में फंस गए और इसी को असली मजहब समझ बैठे। किंतु असल मज़हब है सब आदमियो को भाई-भाई समझना और उनसे इनसाफ़ और बराबरी का बरताव करना। इससे समाजी और आर्थिक खुशहाली पैदा हुए बगैर नहीं रह सकती थी। लेकिन अलग-अलग धर्मो के माननेवाले दीन-धर्म के इस असली पहलू को न समझ सके। इसीलिए पश्चिमी सुधारको ने, जैसे सोशलिस्ट, डेमोक्रेट्स और कम्युनिस्ट आदि ने, धर्म-मजहब का विरोध करना शुरू कर दिया। सच यह है कि जो ऊंचे समाजी उसूल और आर्थिक सुधार इन सब सुधार आंदोलनो के सामने हैं उनमें और मज़हब की सच्ची तालीम में जर्रा बराबर भी फ़रक नहीं है। बल्कि यह सब तहरीके उसी मज़हबी तालीम का धुंधला सा अक्स हैं।

फिजूल और बेजा खर्च करने वालो को कुरान 'अखवाननुश्शयातीन' यानी 'शैतान के भाई बंद' कहता है। कुरान शहनशाहियत की शानो-शौकत को ही नही, छोटी फिज़ूलखर्ची को भी गुनाह बताता है। इसके विपरीत, सब पश्चिमी सुधार आंदोलनों की बुनियाद दरपर्दा शहनशाहियत पर क़ायम है। पूंजीवादी व्यवस्था सारी शक्ति और सारी दौलत को छोटे छोटे गिरोहों, खानदानों या थोड़े से आदमियों में लाकर जमा कर देती है। इससे समाज के ऊपर वाले लोगों के खर्च बेहद बढ़ जाते है और सारी दौलत थोड़े से हाथों में जमा हो जाती है। पूंजीवादी व्यवस्था का यह जादू सच्चे मजहब के उसूलों के बगैर और बिना उनकी मदद के टूट नहीं सकता और न सच्ची इनसानी बराबरी क़ायम हो सकती है।

कुरान हर ऐसे पेशे को बुरा कहता है जिसमें बिना मेहनत किए धन कमाया

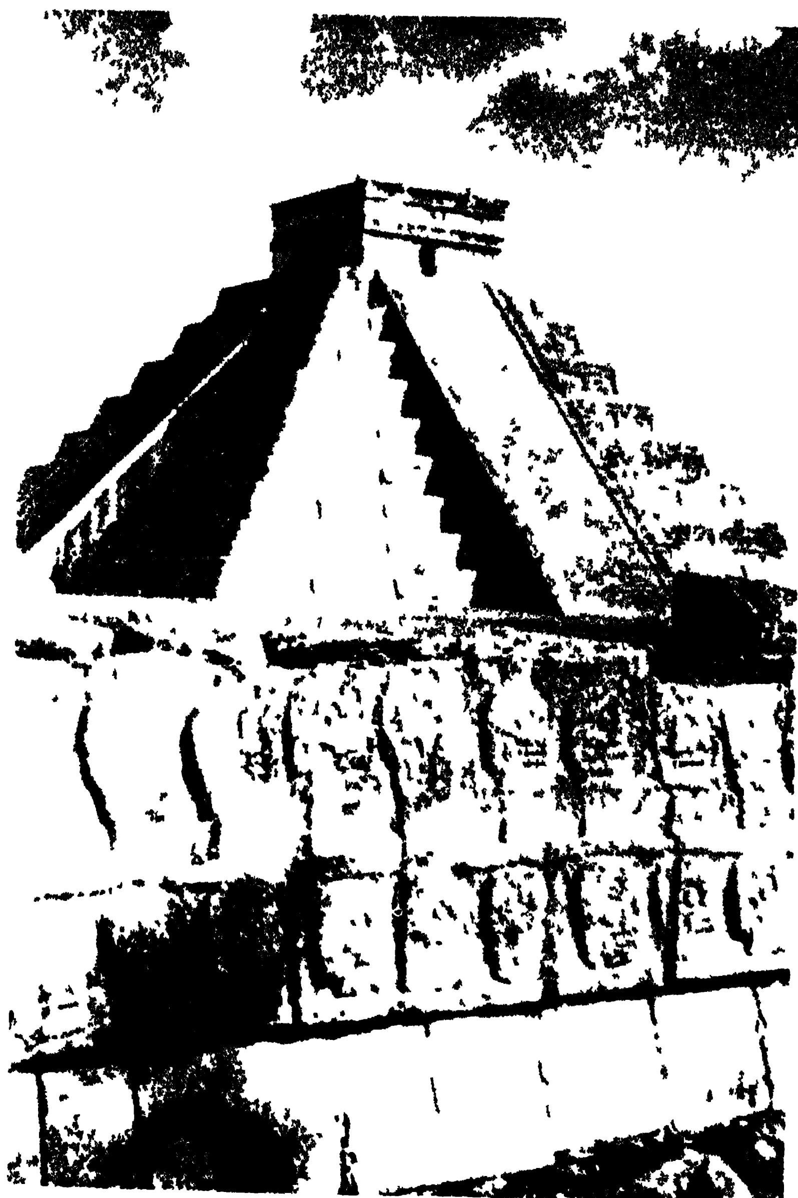
जा सके। कुरान की बुनियादी तालीम यह है कि हर आदमी को खुद अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए और जहां तक मुमकिन हो दूसरों पर अपना कोई बोझ नहीं डालना चाहिए, ताकि दूसरों के श्रम से कोई नाजायज फायदा न उठा सके और इनसानी समाज को किसी तरह का नुकसान न पहुंचे।

हम विशेष रूप से कुरान की उस खास आज्ञा की तरफ ध्यान दिलाना चाहते हैं जिसमें आदमी को 'कसबे तय्यब' की तालीम दी गई है। इसका शाब्दिक अर्थ 'पाक रोजगार' है। कुरान में यह फिकरा भी बार-बार आता है कि—"खुदा के फजल की तलाश करो।" यहां खुदा के-फजल से यही 'कसबे तय्यब' यानी 'कसबे हलाल' मुराद है। हर धर्म की किताब में और हर ऋषि, तीर्थकर या पैगम्बर की तालीम में 'कसबे तय्यब' की महानता बयान की गई है। महात्मा बुद्ध ने इसे अपने 'आठ रास्तों' में 'सम्यक् आजीविका' यानी नेक रोजी का नाम दिया है। उसूल यह है कि दुनिया के सब पेशों में वह पेशे ही ऊंचे और अच्छे हैं जिनमें खुद आदमी अपने हाथ की मेहनत से रोजी कमाता है। इसलाम के पैगम्बर मुहम्मद साहब के, चारों पहले खलीफाओं ने और मुहम्मद साहब के साथियों ने अपनी जिंदगी में इस उसूल को बहुत बड़ी जगह दी और इस पर पूरी तरह अमल किया। मुहम्मद साहब ने इस उसूल पर इतना जोर दिया कि उनकी एक हदीस है कि—"अपने हाथ की मेहनत से रोजी कमाने वाला ही अल्लाह का प्यारा हो सकता है।"

हमें यह भी याद रखना चाहिए कि दुनिया के धर्मों और खासकर इसलाम की 'कसबे तय्यब' की तालीम और करोड़ों मुसलमानों के उस पर अमल करने ने ही आज इस उसूल को दुनिया के आर्थिक जीवन का सबसे प्यारा, सबसे माना हुआ और सबसे बड़ा उसूल बना रखा है। धर्मो की इस तालीम का ही नतीजा है कि आज हर देश की सरकार बड़े जोरों के साथ इस उसूल को अपने देश के जीवन में चलाने का प्रयत्न कर रही है। समाजवादी सरकारों ने तो इस उसूल को अपने विधान में केंद्रीय स्थान दिया है। यही वह धुरी है जिसके चारों तरफ उनका सारा आर्थिक जीवन घूमता है।[8]

इसलाम के राजकाजी सिद्धांत

यही बुनियादी सिद्धांत कुरान के राजनैतिक या राजकाजी सिद्धांत हैं। कुरान



प्राचीन मैक्सिको की मय संस्कृति का देवालय—'जिग्गुरात'



तीसरी ईसा पूर्व सहस्राब्दी का बैल का सोने का बना सिर, जो उर राज्य की राजकीय समाधिस्थली से प्राप्त हुआ

की तालीम है कि हर आदमी को हर समय अपने सामने यह विचार रखना चाहिए कि वह एक सम्मिलित परिवार, मुश्तरका खानदान का, एक बड़े वसुधैव कुटुम्ब का सदस्य है। दुनिया के सब आदमियों के साथ उसका व्यवहार और उसका भाव दो सगे भाइयों के आपसी प्रेम और सहयोग का नमूना होना चाहिए। यदि एक बार हम इस विचार को अपने दिल में जगह दें तो कुरान की सारी तालीम पर अमल करना बहुत आसान हो जाता है और कुरान की आयतों के पूरे-पूरे मानी हमारे दिल मे जम जाते हैं। तब हम यह साफ देखने लगते हैं कि वह सारी दलबंदिया और गिरोहबंदिया, जो आज मानव समाज को बड़ी हानि पहुंचा रही हैं और दुनिया मे तरह तरह के आर्थिक और राजकाजी तूफान पैदा कर रही है, केवल इस सच्चाई को भुला देने का नतीजा है। अगर सारे मानव-समाज को एक कुटुम्ब मान लें और इनसानी भाईचारे के उसूल का मान लें तो फिर नौकर या मालिक, हाकिम या महकूम के सब फरक मिट जाते हैं। हर आदमी इस दुनिया में खुदा का नायब है और हर आदमी का जन्मजात अधिकार है कि वह खुद्दारी, खुदमुख्तारी और खुदऐतमादी अर्थात् आत्मसम्मान, स्वाधीनता और स्वावलम्बन की ज़िंदगी बसर करे। इस विचार के एक बार दिल में बैठ जाने के बाद किसी तरह के ऊंच-नीच या अमीर-ग़रीब के फ़रक को बर्दाश्त करना आदमी के लिए असंभव हो जाता है। उसमें फिर यह नैतिक और रूहानी ताकत आ जाती है कि वह अपने सब भाइयों यानी सब इनसानों के हकों की हिफ़ाज़त करे और जो लोग दूसरों से उनके हक छीनते हैं उनके ज़ुल्म का डटकर मुक़ाबला करे। फिर कोई बाहरी या भौतिक शक्ति इनसान की इस आज़ादी और उसकी इस रूहानी ताकत पर हावी नहीं हो सकती।

जहां तक मज़हब का राजकाल से संबंध है, कुरान ने बहुत साफ़-साफ़ शब्दो में 'लाइकराहा फिद्दीन' का उसूल हमारे सामने रख दिया है। इस आयत के लफ्ज़ी मानी यह है कि दीन-धर्म के मामले में किसी के साथ किसी तरह की जबरदस्ती नहीं होनी चाहिए। यह साफ और सुनहरा उसूल हर आदमी को, चाहे वह किसी भी मज़हब का हो, अपने मज़हबी फ़र्ज पूरा करने की पूरी आज़ादी देता है और उंसकी इस आजादी में किसी तरह की दखलंदाजी को ज़ुल्म ठहराता है। कुरान के मुताबिक, कोई आदमी, चाहे वह किसी भी मजहब का हो, दूसरों के साथ इस तरह का ज़ुल्म करता है तो उसके खिलाफ़ जेहाद करना हर आदमी का फ़र्ज है। खुदा

का खलीफा होने के नाते हर आदमी अपने भगवान से सीधा सबध रखने का हक रखता है। उसे अधिकार है कि अपने बनाने वाले की पूजा, बंदगी या स्तुति के लिए जो राह चाहे अख्तियार करे। उसकी इस आजादी में दखल देना जुल्म और गुनाह है। इखलाक़ी, मजहबी ओर रूहानी आज़ादी की इससे ऊची कल्पना नही की जा सकती।

इसका यह अर्थ नही कि कुरान सब धर्मो और मजहबों की हर बात को ठीक मानता है। कुरान 'ईमान' आर 'इलहाद' यानी आस्तिकता और नास्तिकता, नेकी ओर बदी, भलाई ओर बुराई मे साफ फरक करता हे। उसका यह भी दावा है कि खुदा ने हर देश मे और हर काम मे पैगम्बर भेजे हैं। और हर जमाने मे और हर मुल्क मे पाक किताबे भेजी हैं ताकि दुनिया के लोग उनकी मदद से ठीक रास्ते को समझ सकें ओर उस पर चल सके। कुरान का यह भी कहना है कि खुदा ने सारी दुनिया को हमेशा दीन-धर्म की एक ही सीधी राह बताई है और हर पैगम्बर ने ओर हर धार्मिक पुस्तक ने उसी सीधी राह की तालीम दी है। दुनिया की किसी दूसरी पाक किनाब में इस बुनियादी सच्चाई को इतना साफ-साफ ओर इतनी बार बयान नही किया गया जितना कुरान मे। कुरान ने आदमी से यह भी कहा है कि सब धार्मिक किताबों और सब रसूलो को मानो और रसूलों-रसूलों में किसी तरह का फरक न करो। यहा नक कि जो लोग दुनिया भर के सब रसूलों को नही मानते या उनमे किसी तरह का फरक करते हे उन्हे कुरान ने 'काफेरूने हक्का' यानी 'असली काफिर' कहा है। कुरान का मजहब इस दृष्टि से सब मजहबों को अपने अदर लिए हुए एक व्यापक (आलमगीर) मज़हब है।

इसी असल बुनियाद की वजह से कुरान ने हर एक को कामिल मजहबी आजादी दी है और मजहब के मामले में किसी को किसी के साथ किसी तरह की भी जबरदस्ती करने की इजाजत नहीं दी। कुरान की जिस आयत 'लाइकराहा फिद्दीन' की हमने ऊपर चर्चा की है उसकी तशरीह (व्याख्या) करते हुए मौलाना अबुलकलाम आजाद ने लिखा है :

"इस असले आजम (बड़ी बुनियादी बात) का ऐलान कि दीनी अकायद (विश्वास) के मामले में किसी किस्म का जब्र व इस्तकराह (जबरदस्ती) जायज नहीं, क्योंकि दीन की राह दिल के ऐतकाद और यकीन की राह है और ऐतकाद (विश्वास),

दावत व मवाजत (उपदेश) पैदा कर सकते हैं न कि जब्र व तशद्दुद (यानी विश्वास प्रेम के साथ समझाने-बुझाने से हो सकता है, जबरदस्ती करने से नहीं हो सकता)।" इसके अलावा मजहबी गिरोहबंदी या फिरकेबंदी, चाहे वह किसी भी रूप में हो, सच्चे मज़हब के बिलकुल विपरीत है। जब सारी सृष्टि का सिरजनहार और मालिक एक है और उसने सारे मानव समाज के सामने धर्म या हिदायत की एक ही सीधी राह पेश की है तो मजहब में अलग-अलग गिरोहबंदियों का होना उस अल्लाह की वहदत यानी उसकी एकता और उसके मालिक होने से इनकार करना है। देश और काल के अनुसार या अपनी-अपनी तबीयत के अनुसार पूजा बंदगी के तरीकों का अलग-अलग होना दूसरी बात है और कुरान इसमे पूरी आजादी देता है।

कुरान ने नेकी की राह के साथ-साथ बदी की राह यानी गुमराही को भी तय करके अपने मतलब को और साफ कर दिया है। कुरान कहता है कि हर मजहब और धर्म में बातिलपरस्त यानी झूठे, मुशरिक यानी एक अल्लाह के सिवा दूसरों को पूजने वाले, मुलहिद यानी नास्तिक, मुफसिद यानी झगड़ालू और बदकार लोग भी होते है जो सरकशी करते हैं और अपनी गलत चाल से बाज नहीं आते, इसीलिए उन्हें तरह तरह की मुसीबतें झेलनी पड़ती हैं। कुरान मानव समाज को दो हिस्सो में बांटता है, एक मोमिन और नेक लोग और दूसरे मुनकिर तथा झगड़ालू। सारी दुनिया के मोमिन यानी ईमानवालो और नेक काम करने वालों को, जो दीन धर्म की सीधी राह पर चलते हैं, कुरान यह अनुमति देता है कि वह अपने-अपने दीन पर क़ायम रहें और उसकी रोशनी मे आर्थिक, राजकाजी और समाजी दलबंदियो को छोड़कर एक आलमगीर अर्थात् व्यापक 'अखूवते इनसानी' यानी इनसानी बिरादरी की सूरत अख्तियार करें। मुहम्मद साहब ने कुरान के इस शानदार आदर्श को अमली जामा पहनाने के लिए एक खास कदम उठाया। उन्होंने ईरान, मिस्र और रोम के बादशाहों को खत भेजकर दावत दी कि जब हम सब एक खुदा के मानने वाले हैं और उसके बनाए हुए बुनियादी नैतिक उसूलों को ठीक मानते हैं तो क्यों न हम सब मिलकर दुनिया के इनसानों को एक भाईचारे के सांचे में ढालने की कोशिश करें। उस भाईचारे के बुनियादी उसूल तीन और सिर्फ तीन बनाए गए—एक, यह कि खुदा एक है; दूसरे, यह कि हर आदमी जमीन पर खुदा का नायब है; और तीसरे, यह कि हर आदमी के दूसरे आदमियों की तरफ कुछ फर्ज हैं जिन्हें 'हकूक-उल-अबाद' कहा जाता है और जिनका पूरा करना सबके लिए जरूरी है।

ज़ाहिर है कि इनसानी भाईचारे में हिदू, ईसाई, मुसलमान किसी भी मजहबी गिरोहबंदी की गुंजाइश नही है। इस तरह का इनसानी भाईचारा उन धार्मिक तहरीकों से पैदा नहीं हो सकता जो आज हम इसलामी, हिंदुई या ईसाइवी मज़हबी तहरीकों की शक्ल में चलाने की कोशिश कर रहे है। इसी गिरोहबंदी और खींचातानी का नतीजा है कि हर मजहब के लोग दूसरे मजहब वालों पर दीन के मामले में जब्र व ज़बरदस्ती को जायज ही नही बल्कि मुनासिब मानते हैं। इसी को वह असली दीन और निजात के लिए ज़रूरी बताने हैं। इन लोगो का यह ग़लत ओर दर्दनाक बरताव ही दुनिया मे सारी खींचातानी और मजहबी नफरत और एक दूसरे से लड़ाई-झगड़े की जड ह। इससे आज दुनिया को बड़ा नुकसान पहुंच रहा है। मजहब की असलियत से गर जानकारी और गलतफहमी ही इनसानी भाईचारे की तामीर मे सबसे बड़ी रुकावट है। जब तक उनकी यह गलतफहमी दूर नही होती ओर वह अपने-अपने धर्मो की सच्ची तालीम पर नहीं चलते तब तक मुल्को और कौमो के पुरजे होन रहग आर राजकाजी और नैतिक तूफान हमारी समाजी जिदगी की बुनियादों को हिलान रहग ओर हमे साम्राज्यवादी कौमो का शिकार बनाते रहेगे। इन बुनियादी उमूलो का कायम करने के बाद कुरान ने सच्चे भाईचारे, सच्ची डेमोक्रेसी यानी जम्हूरियत आर हुकूमत इलाही यानी रामराज्य क़ायम करना हर आदमी का पहला फ़र्ज बताया है और उसके तरीके भी बता दिए हैं।

हुकूमते इलाही

हुकूमतें इलाही का पहला उसूल यह है कि उसमें समाज के सबसे नीचे के लोगों, गरीबो, लाचारों, दुखियों और पीड़ितों के दुख-दर्द दूर करने का सबसे अधिक प्रयत्न किया जाता है। खलीफा उमर की हुकूमत इसकी सबसे अच्छी मिसाल थी। ऐसी हुकूमत मे मानव-समाज के वह सब रीति-रिवाज और कायदे-कानून, जिनके कारण समाज के कुछ लोगों मे गरीबी घर कर जाती है, लाचारी और दर्दमंदी बढ़ती है और कुछ लोग दूसरा पर जुल्म कर सकते हैं, वह सब मन्सूख और रद्द कर दिए जाते हैं। जुल्म का इससे बढ़ कर सबूत नहीं हो सकता कि दुनिया में कुछ लोग दौलतमंद हों और कुछ गरीब, कुछ ज़ालिम हों और कुछ मजलूम। यही वह ऊंच-नीच की भावना है जो इनसानी बराबरी और भाईचारे को खत्म कर देती है। कुरान के अनुसार यह अल्लाह की आज्ञा की सबसे बड़ी अवज्ञा है।

कुरान का गरीबों, लाचारों और दुखियों की तरफ इतना ध्यान देना सारे मानव समाज को समता के सांचे में ढाल देना है।

साथ ही, कुरान बड़े-छोटे, बलवान और कमजोर, तन्दुरुस्त और बीमार के उस फरक पर भी पूरा ध्यान देना है जिसका होना हर मिले-जुले कुटुम्ब के अंदर अनिवार्य है। मां और बच्चे, बाप और बेटे, पति और पत्नी में फ़रक होना ही है, सीखने-सिखाने की योग्यता भी किसी में कम, किसी में अधिक होती है। किसी भी कुटुम्ब के सब आदमी एक बराबर नहीं कमा सकते, न सब एक सी मेहनत कर सकते हैं। जाहिर है कि हर एक अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार मेहनत या काम करेगा और हर एक पर उसकी ज़रूरत के अनुसार खर्च किया जाएगा। अक्सर काम न कर सकने वाले बीमार या अपाहिज या बच्चे पर ज्यादा और मेहनत करने वाले तन्दुरुस्त आदमी पर कम खर्च होना है।

जब तक आम लोगो को दो बातों पर विश्वास न होगा कि इश्वर है और एक और केवल एक ईश्वर है और दूसरे यह कि सब इनसान भाई-भाई है, तब तक दुनिया के आम लोग ऊपर के सिद्धांत को स्वीकार नहीं कर सकते। जब तक लोगो को इस जीवन के बाद के एक स्थायी या अमर जीवन में विश्वास न होगा तब तक आम लोगों से न्याय, त्याग और निःस्वार्थ की आशा करना भी गलत है। जीवन के सुखों को आम आदमी तभी दूसरों के लिए त्याग कर सकता है जब उसे बाद के किसी जीवन में बदले की आशा हो।

दुनिया की हुकूमतों के सामने आज सबसे बड़ी समस्या यही है कि हर आदमी दूसरे आदमियों को नेकी और सदाचार के उसूलों पर कैसे चला सकता है और यह कैसे कर सकता है कि हर आदमी सबकी भलाई के रास्ते पर ही चले? यह काम किसी तरह की ज़ोर-ज़बरदस्ती से नहीं हो सकता। कुरान का कहना है कि एक मानव परिवार के अंदर हिंसा और जबरदस्ती से काम लेना मानवता को ठेस पहुंचाना है, उसे मिटाना है। इसीलिए कुरान ने आदमी के राजकाजी जीवन के लिए भी हिंसा और जबरदस्ती की जगह भाईचारे, परस्पर सहयोग और प्रेम ही की तालीम दी है। कुरान का दावा है कि हमारे आए दिन के जीवन में भाई-भाई का सा संबंध और सहयोग आदमी में सच्चे भाईचारे और सच्ची जम्हूरियत (लोकशाही) की बुनियाद डालता है, और यह लोकशाही ऐसी गहरी और मजबूत होती है जितनी हिंसा और जबरदस्ती

से दुनिया पर लादी हुई कोइ लाकशाही नही हो सकती। कुरान कहता हे कि परस्पर प्रेम और सहयोग आदमी मे वह भाव और जिम्मेवारी पेदा करते हे जो हिसा और डर पेदा नही कर सकते।

परतु आदमी के अदर प्रम और परस्पर सहयाग की इस भावना का पेदा होना भी इतना आसान नही है। उसक लिए कुरान ने 'जेहाद अकबर' का तरीका बताया है। 'जेहाद अकबर' का अथ ह 'सबसे वडा जेहाद'। इसका मतलब ह खुद अपनी आत्मा यानी अपनी इद्रिया पर विजय प्राप्त करना, अपने आपको जीतना। इसके लिए सबसे पहली जरूरत ह दिल की सफाई। क्योकि जब तक हर आदमी अपन दिल को अपने भाई की तरफ से क्रोध (गुस्सा), नफरत, ईष्या, द्वेष, अविश्वास आदि से पाक-साफ न कर लेगा, तब तक वह उसे अपने बराबर का नही समझ सकेगा ओर उससे दूसरे को हानि ओर कष्ट पहुचता ही रहेगा। इसलिए आदमी को इनसानी बराबरी क उसूल म भी आगे बढकर दूसरो की जरूरतो का अपनी जरूरता पर तरजीह देनी होगी, उसे दूसरा के लिए त्याग ओर कुरबानी करनी होगी। तभी वह धरती पर खुदा का खलीफा यानी नायब या प्रतिनिधि बन सकेगा। इसीलिए कुरान कहता है कि 'इनसाफ करा, एहसान करो, त्याग यानी इसार करो।' कुरान मे बराबर आता है कि "अल्लाह उन्ही को प्यार करता ह जो दूसरा पर एहसान करते है।"

इन अर्थो म खुदा का खलीफा वनन की काशिश को ही कुरान ने 'जेहादे अकबर' यानी वडा जेहाद कहा है, इसी को 'सीधा रास्ता' बताया है।

इसमे सदेह नही कि कुरान ने आत्मरक्षा यानी अपने बचाव के लिए हिसा की, तलवार उठाने की भी इजाजत दी है। लेकिन इस 'जेहादे असगर' यानी छोटा जेहाद कहा है। लगभग सब धर्मो ने राजकाज मे तलवार के इस्तेमाल की इजाजत दी है, लेकिन केवल जवाबी तौर पर ओर वह भी इसलिए कि देश ओर काल की स्थिति के अनुसार अभी हिसा को मनुष्य जीवन से बिलकुल बाहर नही किया जा सकता था। साथ ही, हर धर्म ने हिसा को केवल आत्मरक्षा के लिए जायज ठहराया है और हिसा और तलवार के इस्तेमाल को खत्म करने के लिए दरजे-ब-दरजे रास्ते और राहें बताई हैं। पर कड़े से कड़े आदेशों के होते हुए भी किसी मजहब के मानने वाले हिसा को केवल जवाबी उपायों तक यानी आत्मरक्षा तक सीमित न रख सके। इन लोगों ने चूंकि, 'जेहादे अकबर' की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया, इसलिए यह

सब दुनिया की हिर्स और लोभ के जाल म फस गए। 'जहादे असगर' का ही सबन 'जेहादे अकबर' समझ लिया और अपने बचाव की सीमा से बढकर उस दुनिया की ताकत और ऐश-आराम के सामान हासिल करने का जरिया बना लिया। इस जबरदस्त भूल ने आदमी की सारी रूहानी (आध्यात्मिक) और इखलाकी (नैतिक) शक्ति को मिटा डाला। इसी के परिणामस्वरूप इनसानी दुनिया साम्राज्यवाद और पूजीवाद के जाल मे फस गई, यहा तक कि उसमे आध्यात्मिक और नैतिक शक्तियो के पैदा होने के सारे दरवाजे बद हो गए। नतीजा यह हुआ कि लोग इस दुनिया और उस दुनिया दोनो को खो बैठे। दुनिया से हमारा मान और इकबाल उठ गया। आज पश्चिम की सरमायादारी हम पर हावी है और उसकी सारी शक्ति हमारी रही-सही बुनियादो को खोखला बनाने मे लगी हुई है।

तौहीद' यानी अल्लाह का एक होना, अखूवत' यानी इनसानी भाईचारा और आदमी का खुदा का 'खलीफा' होना ये तीनो उसूल एक दूसरे के साथ जुडे हुए है इन्हे एक दूसरे से अलग नही किया जा सकता। इनमे वैसा ही सबध है जैसा रूह और जिस्म मे, आत्मा और शरीर मे, या मास और हड्डी मे। ईश्वर की एकता इनमे केद्रीय है। यदि इन तीनो उसूलो को सामने रखकर हम मानव समाज का सगठन न करे तो आपाधापी फैल जाती है, हमारी सारी शक्ति बिखर जाती है और हमारी रूहानी, जिस्मानी और दूसरी ताकत अलग-अलग जाने लगती है। ईश्वर की एकता से इनकार करने के बाद कोई नाता ऐसा बाकी नही रह जाता जो एक आदमी को दूसरे आदमी के साथ प्रेम और सहयोग की जजीरो मे जकड सके और सारे मानव समाज को एक भाईचारे मे ला सके। हम इसके खिलाफ दार्शनिक बहसो के तूफान उठा सकते है, पर यह एक सच्ची इतिहासी घटना है कि मनुष्य जीवन से फूट और आपाधापी को मिटाने और सबको एक डोर मे बाधने मे जितना जबरदस्त हिस्सा एक खुदा, एक ईश्वर के विचार ने लिया है उतना आज तक किसी दूसरे विचार ने नही लिया। आदमी को हैवानियत से निकालकर इनसान बनाने मे भी जो काम 'एक ईश्वर' के विचार ने किया है वह किसी दूसरे विचार ने नही किया। मानव विकास मे इनसानी भाईचारे की सीढी का यही आखिरी जीना है। अधिक पीछे न जाकर हम केवल पिछले तीन चार सौ बरस के इतिहास पर ही एक निगाह डाले तो देखेगे कि जिस दरजे तक भौतिकता को एकेश्वरवाद और इनसानी भाईचारे के

विचार को लोगों के दिलों और दिमागों से मिटाने में कामयाबी मिली उसी दरजे तक मानव समाज में फूट, आपाधापी और हैवानियत बढ़ती चली गई और संघर्षो और महायुद्धों के नए-नए तूफान आते गए। नतीजा यह हुआ कि खुद आदमी के अंदर की हैवानियत और शैतानियत सारे मानव समाज पर हावी हो गई। आज यह हैवानी-शैतानी शक्तियां जो बरबादी कर रही हैं उसकी दूसरी मिसाल इतिहास में नहीं मिल सकती। यहां तक कि आज दुनिया के कोने-कोने से यह डरावनी आवाज आ रही है कि मानव सभ्यता, मानव जीवन और आदमी के वजूद का खुदा ही हाफिज है।

कुरान की तालीम की इस रोशनी में अक्सरीयत और अक्कलीयत यानी बहुमत और अल्पमत और फिरकावाराना झगड़ों और मज़हबी दुश्मनियों की कोई जगह नहीं है। अगर सब मिल कर इन लोहे की दीवारों को तोड़ने की कोशिश करेंगे तो नामुमकिन है कि यह ठहर सके। इनके मिट जाने के बाद वह समाज क़ायम हो सकता है जिसे हम सच्ची लोकशाही, हुकूमते इलाही, रामराज्य या समाजवादी व्यवस्था कह सकें।

संदर्भ ग्रंथ

1. कुरान शरीफ, 2-213,
2. उपर्युक्त, 10-19,
3. उपर्युक्त, 21-92, 93,
4. उपर्युक्त, 14-4,
5. उपर्युक्त, 14-4,
6. उपर्युक्त, 4-150,
7. उपर्युक्त, 2-91, 41-43।
8. मंजर अली सोख्ता, 'इसलाम और इनसानी भाईचारा'।
9. मौलाना अबुल कलाम आजाद : 'कुरान और धार्मिक मतभेद'।

अरब और हिंद के सांस्कृतिक संबंध

तुर्कों के हमले के तीन सौ बरस पहले से अरब इतिहासकार भारत की सभ्यता और संस्कृति और उसके ज्ञान के खजाने को समझने की लगातार कोशिशें कर रहे थे। हिंदुस्तान और अरब के बीच पुराने जमाने से तिजारती संबंध चले आ रहे थे। खलीफा उमर के ज़माने तक इस्लामी दुनिया को हिंदुस्तान के बारे में बहुत कम जानकारी थी। हिंदुस्तान के समंदरी किनारों के बारे में अरब और ईरानी मल्लाहों को थोड़ी बहुत जानकारी थी और वे हिंदुस्तान की तिजारती दौलत की तारीफ़ के गीत गाया करते थे। जब खलीफा उमर ने एक अरब मल्लाह से हिंदुस्तान के संबंध में पूछताछ की तो वह तारीफ के पुल बांध कर कहने लगा कि–

> "हिंदुस्तान के दरिया मोतियों से लबरेज़ हैं और उसके पहाड़ों में हीरे-जवाहरात की खानें हैं और उसके पेड़ पौधे और फूल खुशबुओं से मुअत्तर हैं।"

लेकिन हिंदुस्तान के संबंध में सही-सही जानकारी हासिल करने की पहली कोशिश शायद तीसरे खलीफा उसमान के जमाने में की गई। उस्मान ने 624 और 651 ईस्वी के बीच हकीम बिन जबला को हिंदुस्तान भेजा कि वह पता लगाकर हिंदुस्तान के बारे में सही-सही खबरें खलीफा को दे। जबला ने हिंदुस्तान आकर यहां के मुतअल्लिक एक रिपोर्ट तैयार करके खलीफा के सामने पेश की।

इस बात के भी बहुत से सुबूत हैं कि सातवीं सदी ईस्वी के शुरू में ईरान से लगे हुए हिंदुस्तान के सूबों के साथ अरब ताजिरों के तिजारती तअल्लुक़ात क़ायम थे। हिंदुस्तान के इन खित्तों के हिंदुस्तानी कबीलों और ईरानियों ने इस्लाम कुबूल किया तो तिजारती तअल्लुकात के साथ कल्चरी तअल्लुकात भी बढ़े। एक ज़माने में खुरासान, तुर्किस्तान, ईरान और आजर-बाइजान बौद्ध मज़हब के मरकज़ थे और बौद्ध मज़हब के पैरो इराक, मोसल और शाम की सरहद तक फैले हुए थे। हालांकि

इन मुल्कों के रहने वालों ने बौद्ध मज़हब की जगह इस्लाम कुबूल कर लिया फिर भी उनके दिलों में हिंदुस्तान के लिए एक मुहब्बत और इज्ज़त क़ायम रही।

जबकि आपस के संबंध बहुत थोड़े थे तब भी मुसलमान हिंदुस्तान को दुनिया का सबसे ज़्यादा सभ्य मुल्क समझकर उसकी बेहद क़द्र और इज्ज़त करते थ। हिंदुस्तान की तारीफ में इस्लाम के पैगम्बर ओर उनके सहाबियों की रिवायतें लफ्ज़-ब-लफ़्ज पेश की जाती थीं। इन रिवायता के बारे में थोडा बहुत मतभेद हो सकता है। लेकिन यह बात दावे के साथ कही जा सकती है कि शुरू ज़माने के अरबी इस्लामी साहित्य में हिंदुस्तान की तारीफें दर्ज हैं।

उस जमाने के अरब सौदागरों ने गुजरात के बल्हर राजाओं और मलाबार के सामुरी राजाओं को मेहरबान और मुहसिन पाया। समन्दर के किनारे-किनारे उन्हें अपनी बस्तियां और मस्जिदे बनाने की इजाज़त दी। इन अरबो ने भारतीय लड़कियां से ही शादी की जिनकी औलाद मलाबार में 'मोपला' और कोकण में 'हटिया' के नाम से मशहूर हुई। अगर हम मलाबार के राजा चेरूमन पेरूमल के इस्लाम कुबूल करने की आमफहम कहानी को सही मान लें तो हमें हिंदुस्तान की मुस्लिम नौआबादियों का वक्त पैग़म्बर की ज़िंदगी के क़रीब मानना पड़ेगा।

कहानी यह है कि अरब सौदागरो का एक जत्था आदम की चोटी की ज़ियारत के लिए रवाना हुआ। कगानूर के बंदरगाह में राजा चेरूमन ने इन सौदागरों का इस्तक़बाल किया। सौदागरों ने रसूलल्लाह के चांद के टुकड़े किये जाने की कहानी राजा को सुनाई। राजा बेहद मुतअस्सिर हुआ और उसने इस्लाम कुबूल कर लिया और इन सौदागरो के साथ मदीने की ज़ियारत के लिए चल पड़ा। वापसी में रास्ते में ही उसकी मौत हो गई। चेरूमन ने मुसलमानों को शाही फरमान के ज़रिये मस्जिदें बनाने की इजाज़त दी। उसी फरमान के तहत मलाबार में कई जगह मस्जिदें बनाई गई। मुवार्रिख बलाज़ुरी भी सन 812 ईस्वी के करीब मगरिबी हिंदुस्तान के एक दूसरे राजा के इस्लाम कुबूल करने का वाकया सुनाता है। बुज़ुर्ग बिन शहरयार और सौदागर सुलेमान, जो नवीं सदी मे हिंदुस्तान आये थे, लिखते हैं कि "हिंदुस्तान के राजाओं के दिलों में मुसलमानों की तरफ से बेहद हुस्नेज़न मौजूद था।"

पता नहीं कैसे मुसलमानों के दिलों में यह विश्वास घर कर गया कि इनसानी

कौम के पहले पैग़म्बर और पहले इनसान हज़रत आदम वहिश्त से निकाले जाने के बाद हिंदुस्तान में आकर उतरे। हिंदुस्तान में जो खुशबूदार फूल और जड़ी बूटियां हैं वह हज़रत आदम ही बहिश्त से यहां लाये थे।

बाद के मुस्लिम अदीवों ने दूसरे मुल्कों के मुकाबले में भारत के बड़प्पन पर इस बिना पर ज़ोर दिया कि हजरत आदम पहले पैगम्बर थे, और अल्लाह ने अपना हुक्म सबसे पहले उन्हीं को सुनाया और आदम चूंकि उस वक्त हिंदुस्तान में थे इसलिए हिंदुस्तान को ही सबसे पहले अल्लाह का पैगाम सुनने का फख्र हासिल हुआ। मुमकिन है शायद इसीलिए इसलाम के पेगम्बर ने फरमाया है :

"मैं हिंदुस्तान से आती हुई अल्लाह के मारिफत की भीनी-भीनी खुशबू सूंघ रहा हूं।"

आम मुसलमानो के नजदीक हिंदुस्तान की सरज़मीन की पाकीज़गी की यह आखरी और ज़बरदस्त दलील है। इस तरह की कहानियां कैसे शुरू हुई इसकी बजाहिर अभी तक कोई वजह मालुम न हो सकी। लेकिन पढ़े लिखे और समझदार लोग भी इन्हे लफ्ज-ब-लफ्ज़ सही मानते हे।

इब्नेवतूता ने सन् 1377 ईसवी में हज़रत आदम के इन पाक क़दमो के निशान की जियारत की थी। इस निशान को देखकर उसने लिखा है:

> "हज़रत आदम के कदमों का यह पाक निशान एक ऊंचे काले पत्थर पर नक्श हे। यह निशान सवा आठ फुट लंबा है और पत्थर पर इतना अंदर धस गया है कि अब तक ज्यों-का-त्यों क़ायम है।"

इन बातों से मुसलमान हिंदुस्तान के और ज्यादा करीब आते थे और उसे अपना पाक मुल्क समझ कर उससे मुहब्बत करते थे।

इसी तरह हिंदू भी मुसलमानों के काबे को अपनी ही इबादतगाह समझते थे। एक ज़माने में काबा अरब और अरब के आसपास रहने वाले सभी मज़हब वालों का एक पाक मरकज़ था। एक अंग्रेज मुवर्रिख बर्टन लिखता है :

> "हिंदू पंडित इस बात को दावे के साथ कहते हैं कि मक्के में शिव और पार्वती कपोतेश्वर और कपोश्वरी की शक्ल में मौजूद हैं। कुछ अरब अदीबों

ने भी लिखा है कि पैग़म्बर मुहम्मद के वक्त मक्का के बुतों में लकड़ी में खुदी हुई कबूतर और कबूतरी की मूर्तियां थीं जिन्हें हज़रत अली ने पैग़म्बर के कंधे पर चढ़कर नीचे गिरा दिया था।"

एक दूसरा अंग्रेज़ अदीब लिखता है :

"हिंदू कहते हैं कि मक्का या मोक्षेष में जो "सगे-अस्वद" है वह "मोक्षेश्वर" शिव के अवतार का निशान है। शिव और पार्वती ने अल हेजाज के अपने भक्तों की तपस्या से खुश होकर मोक्षेश्वर की शक्ल में मक्का में अवतार लिया था।"

जब अरब मुसलमानों ने सन् 707 ईसवी में सिंध को फतह किया तो उन्होने देखा कि सिंध का सूबा बौद्धों और ब्राह्मण हाकिमों में बंटा हुआ है। ब्राह्मण हुक्मरानों और अरबों की लड़ाई में बौद्धो ने अरबों का साथ दिया और सिंध पर अरबों की फतह को आसान बना दिया। सिंध फतह करने के बाद मुहम्मद बिन कासिम ने ऐलान किया कि :

"हिंदुस्तान के बाशिंदे भी एक अल्लाह की इबादत करते हैं और उनके मंदिर भी ईसाइयों के गिर्जों, यहूदियों के सिनागागों और मागियो के आतिशकदों की तरह हैं और हिंदुस्तानी भी इसी तरह अहलेकिताब हैं जिस तरह ईसाई और यहूदी।"

एक जर्मन आलिम वान क्रेमर लिखता है :

"सिंध में मुहम्मद बिन कासिम की हुकूमत में और उसके बाद भी ब्राह्मणों की इज्ज़त और उनका रुतबा ज्यों-का-त्यों क़ायम रहा। मालगुजारी भी हस्बे मामूल ज्यों-की-त्यों तीन फीसदी जारी रखी गई। हिंदुओं को खुली इजाजत थी कि अपने मंदिर बनाने के लिए वे आजाद हैं। हिंदू ताजिर मुसलमान ताजिरों के साथ अपनी तिजारत बढाने के लिए जो तरीका मुनासिब समझते थे अमल में लाते थे।"

अरबों और सिंधियों में इस क़दर बाहमी तअल्लुक़ात और मुहब्बत के रिश्ते क़ायम हुए कि जिसकी वजह से खलीफा तक ने सिंध में मंदिरों को गिराने या इसलाम प्रचार की इजाज़त नहीं दी।

एक अंग्रेज मुवर्रिख अफसोस के साथ लिखता है :

"यह बात याद रखनी चाहिए कि अरब विजेता जो रवेया मातहत क़ौमों के साथ बरतते थे वह हिंदुस्तान में आकर बिल्कुल पलट गया। हिंदुओं को ज्यों-का-त्यों महफूज़ छोड़ दिया गया। और बुतपरस्ती पर कोई पाबंदी नहीं लगाई गई। हिंदुस्तान की लड़ाई धर्म-युद्ध या जेहाद नहीं रह गई क्योंकि मज़हब बदलने का वहां सवाल ही नहीं उठाया गया। सिंध में अल्लाह की इबादत के साथ-साथ बुतों की पूजा की भी इजाज़त हो गई और इस तरह बावजूद इस्लामी हुकूमत के भारत एक बुतपरस्त मुल्क बना रह गया।"

इन हालात में हिंदू मज़हब और इसलाम एक दूसरे से खुले दिल से मिले और दोनों में कल्चरी तअल्लुकात क़ायम हुए। सिंध अकेला ऐसा सूबा नहीं था जहां दोनो फिरक़ों के बीच दोस्ताना समाजी तअल्लुक कायम थे, बल्कि तमाम मग़रिबी हिंद में आबाद मुसलमान हिंदुओं के साथ मिलजुल कर मुहब्बत के साथ रह रहे थे। जो मुसलमान अर्दाव हिंदुस्तान आये उनके मुताबिक मुसलमानों और हिंदुस्तान के बौद्धो में दोस्ताना भाईचारा क़ायम हो गया था। बुजुर्ग बिन शहरयार नवीं सदी के हिंदुस्तान के मगरिबी साहिल के बारे में अपने निजी तजुर्बो के बिना पर लिखता है—

"बिकुर या भिक्खुओ को मुसलमानो से मुहब्बत है और मुसलमानों के लिए इनके दिलों में बेहद कद्र है।"

कुछ भिक्खु खलीफा उमर के ज़माने में अरब पहुंचे। उनमें से जो लोग सही सलामत हिंदुस्तान वापस लौटे उन्होंने बताया कि, "मुसलमानों का खलीफ़ा निहायत सादा ज़िंदगी बसर करता है और गुरूर उसे छू तक नहीं गया।" शहरयार आगे लिखता है :

"यही वजह है कि बौद्ध मुसलमानों से इतनी मुहब्बत करते हैं और उनके साथ इतनी हमदर्दी रखते हैं।"

सुलेमान सौदागर के मुताबिक :

"राजा बल्हर की तरह राजा गूज भी अरबों की तरफ दोस्ताना तअल्लुकात रखता है।"

इस्तखरी सन् 951 ईस्वी में हिंदुस्तान आया था। उसने अपने सफरनामे में जिक्र किया है कि हिंदू और मुसलमान मिलकर तिजारत करते हैं। दोनों में इस कदर यकजहती है कि मिले-जुले रस्म-रिवाज और बाहमी मेलजोल के नये क़ायदे बनते जा रहे हैं। इब्ने हौकल के मुताबिक :

"मुलतान में हिंदू और मुसलमान एक तरह की पोशाक पहनते हैं। और एक ही फैशन से बाल संवारते हैं। मनसूरा, मुलतान और आसपास के शहरों में हिंदू मुसलमान दोनों यकसां अरबी और सिंधी जुबान बोलते हैं।"

इस्तखरी के मुताबिक :

"हिंदू इलाकों में मुसलमानों ने जगह-जगह अपनी बस्तियां क़ायम कर ली हैं और इबादत के लिए मस्जिदें तामीर कर ली हैं। बाज जगह मंदिर और मस्जिद पास-पास तामीर किये गए हैं और बिला किसी फ़र्क के दोनों मजहब के लोग अपनी-अपनी इबादतगाहों में अपने तरीके से इबादत करते हैं।"

तिजारत के मरकज कल्चरी लेन-देन के भी मरकज बन गए। इनमें खुजदार, मेहफूजाह, मन्सूरा और जन्दौरा जैसे शहर मिले-जुले कल्चर के मरकज थे। जो मुसुलमान इन शहरों में आबाद थे वह क़ौम के अरब थे। वह आपस में इस दर्जे मिलजुल गये थे कि कुछ पीढ़ियों के बाद उनका पहचाना जाना भी नामुमकिन हो गया। इनके तर्ज-तरीके, रहन-सहन बिलकुल हिंदुओं जैसे हो गए। दकनी भारत में तो एक ऐसी जमात पैदा हो गई जो हजरत अली को शिव का अवतार समझकर उनकी इबादत करती थी।

प्रसिद्ध अरब इतिहासकार इस्तखरी के अनुसार :

"प्राचीन हिंदुस्तान और अरब के बीच तिजारती संबंध बहुत पुराना था। हिंदुस्तान के विविध इलाकों से तरह-तरह का तिजारती माल अरब जाया करता था। वह अरब की विविध व्यापारी मंडियों में बिकता था और वहां से एशिया, यूरोप और अफरीका के दूसरे मुल्कों में भी जाता था। हिंदुस्तान से हर किस्म की औद (एक कीमती लकड़ी), संदल, काफूर, साखूर, सोंठ, मिर्च, काली मिर्च, सागवान, कूट, ताड़ी, लुंगी, चादर, सूती और मखमली कपड़े और हाथी दांत का सामान अरब को निर्यात होता

था। सरन दीप बंदरगाह से हर किस्म और हर रंग के याकूत, मोती, बिल्लौर, उत्तरी हिंदुस्तान से बक्रम और ताड़ी और सिंध से किस्त बांस और आंद की कीमती लकड़ी अरब निर्यात होती थीं। इसके अलावा और भी बहुत सी चीजें यहा से अरब जाती थीं जैसे चमकदार फौलादी तलवारें, सिंधी कपड़े, सिंधी मुर्गी, भड़ौंचा नेजे और वांस, खम्बात के जूते और नारियल। इसी तरह विविध इलाकों की मशहूर चीज अरब मल्लाहों के जरिये अरब को निर्यात होती थीं।

यूं तो पूरे अरब में हिंदुस्तान के माल की खपत होती थी मगर इनकी चंद खास मंडियां थीं जहां से यह चीजें भारी मिकदार में जाया करती थीं गोया ये मंडियां हिंदुस्तानी तिजारती माल की गोदाम थीं। इनमें चार साहिली मंडियां मशहूर थीं जिनके नाम हैं; उबला, सहार, अदन और जार।

अरब में हिंदुस्तानियों की समुद्री तिजारत का प्रमुख केंद्र यमन था जिसमें सनआ, कसर, गमदान, मआरिब, नजरान और अदन जैसे बड़े-बड़े व्यापारी शहर शामिल थे।*

सिंध और हिंद अरबो के नजदीक दो अलग-अलग मुल्क माने जाते थे। इसलिए अरब सिंध के बाशिंदों को 'सिंधी' और हिंद के बाशिन्दों को 'हिंदी' कहते थे। अरब में हिंदियों और सिंधियों की विविध जमातें शुरू के खलीफाओं के ज़माने में मौजूद थीं। ये कुल सात हिंदुस्तानी कौमें थीं जिनकी तफसील यह है :

1. **जत (जाट)** : हिंदुस्तान की मशहूर जंगजू क़ौम, जो सिंध के अलावा मन्सूरा के आसपास से लेकर मकरान तक और बिलोचिस्तान तक फैली हुई थी। बिलोचिस्तान, हिंदुस्तान और पंजाब में भी जाटों की आबादी थी। ये लोग इन्हीं स्थानों से अरब आया-जाया करते थे।

2. **मैद** : हिंदुस्तान के समुद्री किनारों के निवासी थे जो जहाज़ों और किश्तियों को समुद्र में लूट लिया करते थे। पेशे से ये समुद्री डाकू थे। इस कौम की बस्तियां सिंधु नदी से लेकर हिंदुस्तान के सरहदी इलाकों और चीन तक फैली थीं और दरियाये सिंधु के किनारों से लेकर मुल्तान तक इनकी आबादियां थीं बल्कि गुजरात और कोंकण के समुद्री किनारों में भी ये समुद्री लुटेरे बड़ी संख्या में आबाद थे जिनसे यहां के

* इस्तखरी : अल मसालिक वल मसालिक, पृष्ठ 71-72.

राजे-महाराजे तक परेशान थे। बाद में अरबों ने उनका दमन किया। ये लोग शाह ईरान की फौज में भरती होकर अरब जाते थे और समुद्र के किनारे के शहरों में रहा करते थे।

3. **सयाब्जा** : हिंदुस्तान की मशहूर कौम सयाब्जा का ताल्लुक भी सिंध और हिंदुस्तान के समुद्री किनारे ही से था, विशेषकर सिंध का इलाका उनका केंद्र था।

4. **अहामरा** : यह कौम भी साहिली इलाके से ताल्लुक रखती थी, विशेषकर सिंध से। ये लोग यहां से अरब जाकर ठेके पर तिजारती जहाजों की हिफाज़त व निगरानी किया करते थे ओर समुद्री डाकुओं से जंग करते थे।

5. **असाविरा** : ये लोग शाह ईरान की फ़ौज में घुड़सवार सेना के महत्वपूर्ण ओहदेदार थे। ये लोग अरब में रहते थे। इनमें काफी संख्या में हिंदुस्तानी भी हुआ करते थे। इनका वतन सिध के साहिल से लेकर सरन दीप तक फैला हुआ था।

6. **बयासिरा** : हिंदुस्तानी थे और अरव जाकर जहाज़ो की निगरानी करते थे। ये लोग भी सिंध से लेकर बम्बई के चेम्बूर तक के रहने वाले थे।

7. **तकाकरा (ठाकुर)** : सिंध और पंजाब के जगजू बहादुर थे जिन्होंने सिंध पर मोहम्मद बिन कासिम के हमले के वक्त राजा दाहिर की मदद में बड़ी बहादुरी दिखाई थी।

ये चंद मशहूर कोमें हैं जो हिंदुस्तान के विविध सूबों से अरब जाती थीं। इनमें से कुछ वहां आबाद हो गई थीं।

तिजारती संबधों के साथ-साथ जैसे-जैसे कल्चरी संबंध बढ़े वैसे-वैसे हिंदुस्तानियों और अरबों में एक दूसरे को जानने, समझने और एक दूसरे के मज़हब के मुतअल्लिक ज्यादा से ज्यादा वाक्फीयत हासिल करने की ख्वाहिश भी बढ़ी। मिसाल के तौर पर मसऊदी लिखता है :

> "खम्भात का राजा मुसलमानों और दूसरे मजाहिब वालों के साथ, जो उसके दरबार में आते थे, मजहबी फलसफों पर ख्यालात का तबादला करता था।"

इसी तरह बुजुर्ग बिन शहरयार लिखता है कि अलोर के राजा महरूग ने, जिसका राज उपरले और निचले कश्मीर के बीच में था, मनसूरा के राजा को लिखा कि

वह किसी ऐसे काबिल आदमी को भेजे जो हिंदी जुबान मे इस्लाम के उसूलों को उसे समझा सके। मनसूरा के राजा ने अब्दुल्लाह नाम के एक काबिल शख्स को, जो तीन बरस मनसूरा में रह चुका था, अलोर भेजा। उसने कुरान का हिंदी मे तर्जुमा करके राजा को सुनाया। राजा पर उसका गहरा असर पडा। इस तरह के असर पडने उस वक्त कुदरती थे। इसके बाद मुस्लिम मुल्कों के साथ हिंदुओं की आमद-रफ्त शुरू हुई और दोनों के समाजी ताल्लुकात ज्यादा गहरे और दिलचस्प होते गये। सुलेमान लिखता है :

"इराक के बंदरगाह सेराफ में बहुत से हिंदू रहते हैं और जब कोई अरब सौदागर उनकी दावत करता है तो उनकी तादाद सौ तक पहुच जाती है। उनमें से हर शख्स का खाना अलग-अलग रकाबियों में पेश किया जाता है, क्योंकि एक ही रकाबी में कोई एक दूसरे के साथ नही खाता।"

इन्हीं हिंदुओ के मुतअल्लिक बुज़ुर्ग बिन शहरयार कहता है :

"ये लोग बोलचाल की अरबी इस कदर बलाग़त और फसाहत से बोलते ह कि हमारे आलिम फाज़िल और मौलवी दंग और हैरान रह जाते है। इन लोगो में आमतौर पर सिंधी, गुजराती और मुलतानी हिदू हैं जो नामालुम ज़माने से हमारे मुल्क के साथ तिजारत करने आ रहे हैं।"

मुस्लिम मुल्को के साथ हिंदुस्तान के तिजारती सबध क़ायम हुए और हिंदुस्तान इस्लामी दुनिया पर अपने इल्म, अपनी रूहानियत, अपने मजहबी फलसफे और अपनी साइस का गहरा असर डाल पाया। अरब और ईरानी सौदागर हिंदुस्तान से तिजारती माल के साथ-साथ कला, अध्यात्म और साइंस के खेवे भी ले जाते थे।

अब्बासी खलीफाओं के दरबार तो ज्ञान-विज्ञान के मरकज बन गये। बहुत बड़ी तादाद में हिंदू पंडित बगदाद में इकट्ठा होने लगे। खलीफ़ा के दरबार म नजूम और तिब्ब के सबसे ऊंचे ओहदों पर हिदू पडित ही मुकर्रर थे। मुसलमान आलिमो के दिलों में ज्ञानी, ध्यानी और रूहानी हिंदुस्तान को जानने की बेहद दिलचस्पी पैदा हुई।

अरब के आलिम, जिन्हें इल्म का सच्चा शौक और जौक था, अनगिनत तादाद में हिंदुस्तान आने लगे। इनमें आलिम, मुवर्रिख, इतिहासकार, साइंसदा शामिल थे,

जो हिंदुस्तान आकर इल्म के अटूट खजाने से मालामाल होने लगे। खलीफा हारून रशीद के वजीर यहिया बरमकी ने एक आलिम को इस बात के लिए मुकर्रर किया कि वह हिंदुस्तान के विविध धर्मो के फलसफों और हिंदुस्तान की जड़ी-बूटियो के बारे में अपनी मुफस्सिल रिपोर्ट पेश करे। इब्न-अन-नुजैम का कहना है कि उसने बतारीख 349 हिजरी की अलकिंदी के हाथ लिखी हुई इस रिपोर्ट की एक नकल देखी थी।

इब्न-अन-नुजैम के मुताबिक इस रिपोर्ट में बल्हर राजा की दारूस्सल्तनत महानगर के मंदिरों और मुल्तान व हिदुस्तान के विविध धर्मो और छोटे-छोटे फिरकों का भी बयान था। इब्न-अन-नुजैम ने पूरी रिपोर्ट का खुलासा भी दिया। जिन फिरकों का इसमें बयान है उनमें से कुछ ये हैं—महाकालिया, आदित्य-भक्तिया, चन्द्रभक्तिया, वक्रांतिया, (उनके पैरो जंजीर पहनते थे), गंगायात्रिया, राजपुत्रिया और एक और फिरका, जिसके पैरो लबे बाल रखते थे, शराब से परहेज करते थे और औरनो से बचते थे।

भारत और इसलामी अरब

इसलाम के पैग़म्बर मुहम्मद साहब के समय दो भारतीय, एक कन्नौज का राजा अमन और दूसरा रतन अरब गय थे। रतन ने रसूल की बहुत सी बातों का एक ग्रथ मे जमा किया जो अभी तक अल रतनियात' के नाम से मशहूर है।

हातिम अली के आधार पर इब्नअली लिखता है कि मुहम्मद साहब कहा करते थे कि हिंद की घाटी जहां आदम आसमान से उतरे थे और मक्के की घाटी जिसका पैगम्बर इब्राहीम के साथ गहरा नाता है--ये दोनों 'सुबहानुल मरजान' यानी दुनिया की सबसे अच्छी घाटियां हैं।

मुहम्मद साहब के चचेरे भाइ इब्न अब्बास के मुताबिक "मुहम्मद साहब यह मानते थे कि आदम आसमान से हिंद मे एक पौधा लाए थ जो बढकर पेड हो गया और मूसा की मशहूर लाठी (असा-ए-मूसा) उसमे से ही बनी थी।" मुहम्मद साहब के एक और साथी अबूहरेरा का कहना है (इसका जिक्र "सही मुसलिम" मे है) कि हज़रत मुहम्मद हिंद की एक नदी को जन्नत की नदियो मे गिनते थे। गुनाम अली आजाद का कहना है कि कुरान के लफ्ज 'तूबा', 'सुन्दूस' और 'अबलई' सस्कृत से निकले हैं। कुछ मुसलमान लेखक इस कथानक का ज़िक्र करते हैं कि हज़रत नूह की नाव बाढ़ के बाद हिंद मे पहुची और वहा नूह के कुछ बेटे रहने लगे। एक और पुरानी हदीस है--"हिंद में एक पैग़म्बर हुए उनका रंग सांवला था और नाम 'कान' (कान्ह) था" हदीसों से कम से कम इतना ज़रूर साबित होता है कि शुरू के मुसलमानों में हिंद के लिये कितना प्रेम और आदर था।

इसलाम के चौथे खलीफा अली की बाबत बयान किया जाता है कि वह कहा करते थे कि "वह देश जहां किताबें सबसे पहले लिखी गई और जहां से विद्या और ज्ञान फैले, हिंद है।" दूसरे खलीफा उमर को यह कहकर ललचाया गया कि "हिंद की नदियां मोतियों से, उसके पहाड़ लालों से और पेड़ खुशबूओं से भरे हैं," फिर

भी वह हिंद पर धावा करने के खिलाफ रहे, क्योंकि उनको पता था कि हिंद में इसलाम और दूसरे धर्मों के मानने वालों को अपने-अपने धर्मों पर चलने में कोई जग सी रुकावट भी किसी तरह की नहीं थी। मिस्र को जीत लेने के बाद अरब गवर्नर अमर बिन आस ने खलीफा उमर से इजाजत मांगी कि लाल सागर और भूमध्य सागर के बीच की जमीन (जहां अव स्वेज-नहर है) खुदवा दी जावे, तो खलीफा उमर ने यह जवाब दिया कि अगर ऐसा किया गया तो योरप की कौमें एशिया के मुलकों पर छा जायेंगी।

एक नामी लेखक का कहना है कि दूसरे देशों को जीतने के बाद अरबों ने उन देशों की विद्याओं और वहा की कल्चर को सीखने और समझने की तरफ ध्यान देना शुरू किया। बनी उमय्या के जमाने से ही अरब और हिंद में राजकाजी और समाजी संबंध शुरू हो गया था। अब्दुल मलिक बिन मरवान के वक्त में कुछ हिंदुस्तानी बसरा सरकार के माल के महकमे में काम करते थे और उन्होंने वहां के सिक्कों में सुधार किये थे। कहते हैं कि सीरिया के अन्तिओक शहर में मुआविया ने हिंदुओं की एक बस्ती बसा दी थी और हज्जाज ने काशगर में हिंदुओं को बसाया था। "काली काली आंखों वाले गेहुएं रंग के हिंदू खिलाफत के नगरों में मुसलमानों के साथ कंधे से कंधे मिलाकर रहते थे।"[1]

शुरू के अब्बासी खलीफा अलमन्सूर ने एक महकमा 'बैतुल हिकमत' कायम किया था जिसमें किताबों का तरजुमा कराया जाता था। हारून रशीद और उसके बेटे मामून के जमाने में, सीरिया, एशिया माइनर और लेवंत के ईसाई मठों में और बलख और बुखारा के बौद्ध मठों में यूनानी और हिंदुस्तानी हाथ की लिखी किताबों की बराबर खोज की जाती थी। फिर इनका बड़ी मेहनत और इल्मियत से अरबी में तरजुमा किया जाता था। उस समय के खलीफाओं के दरबारों में ईसाई और यहूदी विद्वानों के अलावा हिंद के कितने ही विद्वान भी रहते थे। ईरान के मागियों पर हिंदुस्तानी और ईरानी विद्याओं का गहरा असर पड़ा और वही सबसे पहले अलमनसूर के जमाने में, बगदाद में हिंदू धर्म और बौद्ध धर्म की पुस्तकें लाये। उसके साथ-साथ अपने रस्म-रिवाज और रीतियां भी लाये। हारून रशीद के जमाने में बरमकी घराने के लोगों ने हिंद के साथ समाजी और तहजीबी संबंध कायम करने में बड़ी मदद

की। इस घराने ने जिस उदारता से धन देकर विद्वानों का मान किया वह स्वयं खलीफा की उदारता से कुछ कम न थी।

शुरू-शुरू में अब्बासी खलीफाओं के दरबार में कई हिंदू वैद्य रहा करते थे जिनमें 'माणिक' और 'सहेल' की निसबत कहा जाता है कि वह बहुत ऊंचे दर्जे के वैद्य थे। माणिक ने हारून रशीद को एक बड़े कठिन रोग से अच्छा किया था। हिंदू वैद्य आचार्य धन बगदाद के बरमक हस्पताल के सबसे बड़े अफसर (डाइरक्टर जनरल) थे। इसके सिवा और भी बगदाद के कई हस्पतालो में हिंदू वैद्य काम करते थे और संस्कृत में लिखी वैद्यक पुस्तको का तरजुमा करने में मदद देते थे। माणिक ने ब्रह्मगुप्त की ब्रह्म-सिद्धात नामी किताब के तरजुमे 'सिंद-ओ-हिंद' को करने मे मदद दी। 'करक' पंडित बगदाद के दरबार में उस समय के सबसे नामी ज्योतिषी थे। इनकी लिखी ज्योतिष की किताबों का अरबी मे तरजुमा किया गया था। संस्कृत की सदाचार की कहानियों की किताब पंच-तंत्र का अरबी में तरजुमा कराया गया था और उसका नाम "कलैलह-व-दमना" रखा गया था जो दुनिया भर में मशहूर है। इसी अरबी तरजुमे से यूनानी, लातीनी, इबरानी, सीरियन, स्पेनिश, फ्रांसीसी, तुर्की, अंगरेजी और ईरानी तरजुमे बाद में किये गये।

इसमाईल नामी एक अरब हिंद में ज्योतिष सीखने आया था। इसी 280 हिजरी के लगभग अहमद खफी दरलानी ज्योतिष और गणित पढ़ने हिंदुस्तान आया था। वह इन विद्याओं का बहुत बड़ा आलिम था। हारून रशीद के दरबार में दो और हिंदू ज्योतिषी 'बहला' और 'बाजीगर' रहते थे। इससे यह न समझना चाहिये कि मुसलमानों का हिंदुस्तान की विद्याओं के साथ प्रेम और शौक बगदाद के दरबार तक ही सीमित था। हिंद के विज्ञान और यहा की विद्याओं की धूम तमाम अरब मे थी और उनको सीखने का शौक इतनी दूर तक और इतने ज़ोर से फैल चुका था कि कई सौ बरस तक बहुत से अरब इतिहास शास्त्री, विद्वान, भूगोल शास्त्री और यात्री हिंद में इसलिये आते रहे कि हिंद पहुंच कर खुद इन विद्याओं का ज्ञान हासिल करें।

डाक्टर सुचाअन का कहना है कि अलबेरूनी के समय में अरब में कुछ विद्वानों की ऐसी टोलियां थीं कि जिनको बड़ी लगन इस बात की थी कि हिंद के विज्ञान की किताबों का अरबी में तरजुमा हो जाय। उनको इन मजमूनों की इतनी काफी जानकारी थी कि वह तय कर सकते थे कि कौन सा तरजुमा ठीक है। अब्दुल्ला

बिन अहमद सराकस्ती ने एक छोटी सी किताब लिख डाली कि जिसमें उन्होंने 'सिद्धांत' नामी किताब की जांच की और ब्रह्मगुप्त की गलतियां गिनाई। फिर स्पेन के आलिम इब्नसईद ने अब्दुल्ला बिन अहमद सरकास्ती के जवाब में एक किताब लिखी जिसमें ब्रह्मगुप्त को ठीक ठहराया।

जो अरब विद्वान हिंद आकर वापस गए और वह जो हिंद से बगदाद गए, वह अपने साथ बहुत कुछ हिंद का विज्ञान ले गए जो कि बाद में इसलामी किताबों में अपना लिया गया। इन इसलामी किताबों में हिंद का असर यूनान के असर से ज्यादा चमकना हुआ है। एक विद्वान का कहना है कि "अरबों ने हिंद से जो कुछ भी लिया उसको अपनाकर और अपना रंग देकर पीछे योरप की नजर किया।

आज से 1200 बरस पहले खलीफा मामून ने एक मजहबी विद्यापीठ कायम की थी जिसमे खुले दिल से बहसें होती थीं और सब धर्मो के लोग पूरा-पूरा हिस्सा लेते थे। उनमें बहुत से हिंदुस्तान के पंडित होते थे।

दोनों की उदारता और एक दूसरे पर असर

हिंद में आने वाले मुसलमान यात्रियों से भारतवासियों ने यह जानने की कोशिशें कीं कि इसलाम क्या सिखाता है। हारून रशीद के जमाने में एक हिंदू राजा ने बगदाद दरबार से एक ऐसे मुस्लिम मौलवी को मांगा जो हिंद आकर राजा को इसलाम की पूरी जानकारी करा दे। कहते हैं कि एक और हिंदू राजा के हुकुम से कुरान का सबसे पहला तरजुमा सस्कृत में 280 हिजरी में किया गया। यह भी कहा जाता है कि अलरा के एक राजा ने मनसूरा (सिंध के गर्वनर अबदुल्ला बिन उमर) को लिखा कि किसी ऐसे आदमी को भेज दो जो मुझे इसलाम क्या है, यह बता दे, (अजायबुल हिंद)।

मसूदी जो हिंद में ईसा की दसवीं सदी में आए थे कहते हैं कि "खम्बात के राजा को धर्म चर्चा का बड़ा शौक था और मुसलमानों से और दूसरे धर्मवालों से जो उसके राज में आते थे, उनके विचार सुनना और अपने विचार उनसे कहना उसने अपना रोज का नियम बना रखा था।" मसूदी ही का यह भी कहना है कि गुजरात के हिंदू राज में इसलाम का आदर ही नहीं था बल्कि उसकी रक्षा भी की जाती थी। सुलेमान जो नवीं सदी ईसवी में हिंद आया था, कहता है कि "गुजरात

के बल्लभी राजा को अरबों से सबसे ज्यादा प्रेम था।" बुजुर्ग बिन शहरयार, जो ईसा की नवीं सदी में हिंद आया था लिखता है कि "हिंदू हाकिम अपने दिलों में मुसलमानो की तरफ से अच्छे विचार रखते हैं। लंका के बौद्ध लोग मुसलमानों के प्रेमी है और उनसे बड़ी मेहरबानी का बरताव करते हैं।" दूसरे खलीफा उमर के ज़माने में लका वालों ने दो ख़ास आदमी इसलिये अरब भेजे कि इसलाम के बारे में पूरी जानकारी इकट्ठी करक लावे। उनमे से एक तो लौटते हुए रास्ते मे मर गए और दूसरे ने वापस आकर "खलीफा की सीधी सादी बेशानो-शौकत की ज़िंदगी की बडी तारीफ की।" आगे चलकर शहरयार ने लिखा है कि "कशमीर म अलार के राजा ने कुरान का अपनी बोली मे तरजुमा करा लिया है और रोज उसे पढवाकर सुनते है।" शहरयार ने अपने सेरफ (ईराक के पश्चिम में एक बदरगाह) जाने का जिक्र इस तरह किया है "वहा पर जो हिंदू (ज्यादातर गुजराती, मुलतानी और सिंधी) बसने थे, उनको अरब सौदागरो ने खाने पर बुलाया। उनके लिये भोजन बनवाने का ख़ास बदोबस्त किया गया। इन हिंदुओ के मुहावरेदार अरबी आसानी स बोलने का वहा वालो पर बडा असर पडा। इब्न हौकल ने लिखा है–"हिंदू और मुस्लिम दोनो का पहनावा बिलकुल एक ही जैसा है।"

संदर्भ ग्रंथ

1 Nicholson, Literary History of the Arabs

तसव्वुफ और वेदांत : एक तुलनात्मक अध्ययन

अब्बासी खलीफा ज्ञान-विज्ञान और कला के रसिया थे। उनके दरबार में हिंदुस्तान के ज्योतिषियों, वैद्यों और आलिमों का जमघट था। ज्योतिष, वैद्यक और भारतीय फलसफे के अनेक ग्रथों का अरबी में तर्जुमा हुआ। ग्यारहवीं सदी के खत्म होते-होते महमूद के हमलों के बाद लाहौर हिंद-इसलामी कल्चर का मरकज बन गया। बीसों शायर, अदीब, साइंसदां, फिलासफर और सूफी जमा हो गये। हिंदू और मुसलमान एक दूसरे के क़रीब आये और उनमें समाजी मेलजोल़ की दागबेल पड़ी।

पहिली नजर में तो ऐसा लगा कि इन दोनों में पूरब पश्चिम का बैर है। मिसाल के तौर पर, अलबेरूनी, जो ग्यारहवीं सदी के शुरू में हिंदुस्तान आया, लिखता है: "हमे कभी न भूलना चाहिये कि हिंदू हमसे हर मामले में बिलकुल जुदा हैं.... अपने रस्मो-रिवाज में वह हमसे इतने अलग हैं कि हमारे नाम से, हमारे लिबास और तरीको से अपने बच्चो को डराते हैं। हमें पिशाच कहते हैं और समझते हैं कि हम नेकी या अच्छाई का कोई काम नहीं कर सकते।" बाबर जो उसके पांच सौ साल बाद आया, अपनी 'तुजुक' में लिखता है : "हिंदुस्तान बड़ा ही सुहावना देश है। यह एक अलग ही दुनिया है। इसकी नदियां और पहाड़, जंगल और मैदान, जानवर और पेड़-पौधे, आदमी और बोलियां, हवा और बारिश—सब का रूप-रंग बिलकुल निराला है... सिंधु नदी को पार करते ही आपको जो पत्थर, पौंधे, तौर-तरीके दिखाई देंगे वह पुकार-पुकार कर कहेंगे कि हम हिंदुस्तानी हैं।"

यह न समझना चाहिये कि अलबेरूनी और बाबर बाहरी रूप से धोखे में आ गये। क्योंकि शुरू में दोनों कल्चरों में जमीन आसमान का अंतर था। एक अरब के बीहड़ रेगिस्तान में परवान चढ़ो थी जहां की तपती हुई ज़मीन और कड़कते हुए आसमान ने आदमी की आत्मा पर अनंत शून्य और अलौकिक असीमता की छाप लगा दी थी। यह अहसास एक ऐसे धर्म में जाहिर हुआ जिसमें अल्लाह की ताकत

का कोई हदो-हिसाब नहीं, पैगम्बर कड़ी चेतावनी देने वाला है और आदमी एक मामूली बंदा है। कला में इस भावना का प्रदर्शन उक्लेदसी नक्शों और अरबी गुलकारी में और इमारतसाजी में नुकीले मेहराबों, गोल गुम्बदों और सादी दीवारों में हुआ। दूसरी कल्चर जंगलों में फूली-फली थी। हवा, पानी और मिट्टी ने मिलजुल कर यहां ऐसा रंगारंगी जीवन पैदा किया था कि जानवर, पेड़ और आदमी सभी एकरस हो गये। जीवन की इस रेलपेल की छाप यहां के वेदांत दर्शन में और बहुरंगी चित्रकला, शिल्पकला और निर्माणकला में दिखाई दी।

शुरू में दोनों कल्चरों में कितना ही बड़ा अलगाव हो, पर धीरे-धीरे उनमें ज़बरदस्त तबदीलियां हुई। यूनानी, ईसाई और हिंदुस्तानी विचारों ने अरब चेतना में कायापलट कर दी और उधर चीन, यूनान व मध्य एशिया के असरात हिंदू चेतना में रच गये। अपनी बढ़ती के ज़माने में उन्होंने जिंदगी के जिन फलसफों और जिन विचारधाराओं को जन्म दिया उनमें आदर्शवाद से लेकर वस्तुवाद तक ज्ञान की सभी धाराएं शामिल थीं।

तो भी मध्य युग के खास हिस्से में इसलाम और हिंदू मत दोनों पर एक ही क़िस्म के खयालों का असर छाया हुआ था और जिन डगरों पर चलकर उनका विकास हुआ वह इस हद तक एकरूपी थीं कि हिंदुस्तान में आमने-सामने आकर वह आपस में घुलमिल गयीं और एक मिलवां कल्चर में समा गई।

हर कल्चर की बुनियाद किसी न किसी फिलासफी पर होनी चाहिये, क्योंकि कल्चर की सरगर्मियों का रूप या तो रूहानी होगा और या भौतिक। इनमें धार्मिक और नैतिक विश्वास, वैज्ञानिक ज्ञान, सौंदर्य-भावना, भाषा, सामाजिक रीति-रिवाज, कला और उद्योग-धंधे, औद्योगिक तरीके और पैदावार सभी आ जाते हैं। इनका एक मकसद बाह्य जगत पर और दूसरा अंतर्जगत पर अधिकार पाना है। प्रकृति की अंदरूनी और बाहरी ताकतों की गुलामी से यही आदमी को आजादी दिलाती हैं। ज्ञान के बल से आदमी अपनी खुदी को पहचानता और हासिल करता है। ज्ञान के ही बल से आदमी कुदरत की ताकतों को बस में लाकर उनकी गुलामी के बंधन से मुक्त होता है।

हिंदुस्तान में इसलाम के आने से बहुत पहिले हिंदू रहस्यवाद (मिस्टीसीज्म) का

फलसफा उपनिषदों में आ चुका था। बाद में पातंजलि ने योग सूत्रों में और बादरायण ने वेदांत में इसे सिलसिले में बिठाया। शंकर और रामानुज ने नवीं और ग्यारहवीं सदियों में वेदांत सूत्रों पर टीकाएं लिखीं और वेदांत की जो व्याख्या रामानुज ने की, उससे 'भक्ति' का निखार हुआ। भक्तिवादियों की भी दो श्रेणियां थीं। एक तो वह जो सर्वशक्तिमान निराकार ईश्वर की साधना करती थी। दूसरी वह जो राम या कृष्ण के रूप में साकार भगवान की पूजा करती थी। नवीं सदी से लेकर मुसलिम खयालों की मौजें हिंदुस्तानी विचार-धारा में घूमने लगीं और आगे चल कर उन्होंने भक्ति आंदोलन के विकास को अपना रंग रूप दिया।

पुराने सूफी सिलसिलों ने इस्लामी रहस्यवाद की नींव रखी। लेकिन दार्शनिक तर्क की शुरूआत दसवीं सदी में मंसूर-उल-हल्लाज से हुई। इस रहस्यवाद के उसूलों को गजाली ने ग्यारहवीं, सुहरवर्दी ने बारहवीं, इब्न अरबी ने तेरहवीं और अब्दुलकरीम जीली ने चौदहवीं सदी में तरक्की दी, पंदरहवी सदी में जामी ने फारसी जबान में इन उसूलों को एक जगह जमा कर दिया।

हिंदुस्तान में मुस्लिम सूफियों ने केवल अपने ही बड़े बड़े रहस्यवादी दार्शनिकों के उसूलों पर अमल नहीं किया, बल्कि हिंदू रहस्यवादियों के विचारों और साधनो को भी सकारा। इस तरह मजहबी सच्चाई की खोज में जो हिंदू और मुसलमान उस रास्ते चले जो आत्मा को उजालना है, वह इस नतीजे पर पहुंचे कि दोनो की मंजिल एक है और उनकी तलाश का मकसद भी एक है। अब उनकी समझ मे आया कि "धार्मिक चेतना की गहराइयों में भेद-भाव या तकरार के लिये कोई जगह नहीं।"

हिंदू रहस्यवाद का मूल उपनिषदों में है। उनमें हमें हिंदुस्तानी कल्चर के बुनियादी उसूलों पर जो पहले पहल विचार हुए थे, मिलते हैं। इसलिए सबसे पुराने उपनिषदों में क्या लिखा है—यह जानना बहुत जरूरी है। किसी भी संस्कृति अथवा दर्शन का आधार है, उसका ज्ञान की तरफ भाव। सत्य क्या है? उसके सप्रमाण होने की क्या कसौटी है? उसे कैसे हासिल किया जा सकता है? उसका विकास-क्रम क्या है? — ये ज्ञान-संबंधी बुनियादी समस्याएं हैं। उपनिषदों ने इन मसलों पर जो हल पेश किए हैं उनकी ही आने वाले युगों के दार्शनिक विचारों पर छाप है, और उन्हीं पर हमारी कल्चर क़ायम है।

उपनिषदों के विचार से विद्या दो किस्म की है: विषयी और विषय के आपसी संबंधों पर विचार करने वाली और तर्क से प्राप्त होने वाली पहली तरह की विद्या है जो इंद्रियों के अनुभव पर आश्रित है। नाम और रूप के जाल में फसा हुआ, काल और दिक् से घिरा हुआ अस्थिर जगत ही इसका विषय है। 'अपरा' नाम की यह विद्या सचमुच अविद्या है। कठोपनिषत् का कहना है–

"अविद्यायामन्तरे वर्तमाना. स्वयंधीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दंद्रम्यमाणाः परियन्ति मूढ़ा अंधेनैव नीयमाना यर्थाथाः।।

"अविद्या में स्थित अपने को धीमान् तथा पंडित मानने वाले मूढ़ इधर उधर भटकते हुए भ्रम में पड़े रहते हैं, जिस प्रकार अधे के ज़रिये रास्ता वताया गया अधा हमेशा अंधेरे ही म पड़ा रहता है।

दूसरी प्रकार की विद्या 'परा' कहलाती है। सत् तथा ब्रह्म इसका विषय है। ससार के बंधनो से छुड़ाना इसका मकसद है। आनंद की ओर ले जाने वाली देश, काल और निमित्त में ज्यो की त्यों रहने वाली एक सत्य तथा अनंत सत्ता का दर्शन ही इसका सार है। इस तरह के ज्ञान मे विषयी-विषय, ज्ञाता और ज्ञेय का भेद खत्म होकर सिर्फ साक्षात्कार रह जाता है। उसके बाद यह साक्षात्कार विद्या न रह कर तदात्म्य में वदल जाता है। 'ब्रह्म जानाति स ब्राह्मणः' (माण्डूक्य 3, 2)।

इस दूसरे तरह के ज्ञान का मकसद है रूहानी अनुभव हासिल करना–'तत्वमसि' यानी 'वह तू है', 'अहं ब्रह्मास्मि' यानी 'मै ब्रह्म हूं' और 'स् एवायमात्मा ब्रह्म यानी बिला शक यही आत्मा ब्रह्म है। और यह मंजिल उस परमात्मा की मेहरबानी से ही (धातु प्रसादात्) पाई जा सकती है। मुण्डकोपनिषत् में लिखा है-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया बहुना श्रुतेन।
यमेवैश वृणुते तेन लभ्यस्तस्येप आत्मा विवृणुते तनुस्वाम्।

'शिक्षा के जरिये यह आत्मा नहीं मिलती और न बुद्धि से या श्रुतियो के सुनने से ही। जिसको यह आत्मा खुद चुन लेती है वही इसको पाता है और फिर उसके आगे यह आत्मा अपने असली रूप को खोल देती है।'

इस परम ज्ञान का हासिल करना एक कठिन यात्रा है। इसके लिए यम, नियम,

निरोध और ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेंद्रियों को स्थिर करने की जरूरत है। वैराग्य और तप के जरिये से ही आदमी इल्म के इस रास्ते में आगे बढ़ता है। ज्ञान की खोज करने वाले को मन की स्थिरता, आत्म नियमन, सन्यास, धैर्य, समाहार, आदि गुण पहले हासिल करने चाहिएं। उसके बाद उसे एक ऐसे गुरु की खोज करनी चाहिये जो उसकी मदद करे।

मंजिल तक पहुंचाने वाले इस सफर की चार चौकियां हैं। दूसरे शब्दों में आदमी को आत्म-प्राप्ति के लिए चेतना की चार अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है। यह अवस्थाएं जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, और तुरीय हैं। पहली अवस्था में आत्मा विषयों के बंधन में रहती है। दूसरी अवस्था में वह इस बंधन से करीब-करीब छूट जाती है जैसे स्वप्न में आत्मा विषयों के लगाव में नहीं आती। तीसरी हालत में इंद्रियों की चेष्टाओं का खात्मा हो जाता है और विषयी और विषय का ज्ञान कुछ वक्त के लिए रुक जाता है। लेकिन यह चौथी हालत मे ही जाकर होना है कि आत्मा आत्मा के सामने जाकर खड़ी होती है; और विषयों से वह तनिक भी बेचैन नहीं होती। दर्मियानी पर्दा फट कर अलग हो जाना है और आत्मा तदात्म्य हासिल करती है।

उपनिषदों का यह निश्चित मत है कि सिर्फ ज्ञान के ही जरिए श्रेय मिल सकता है और पाप नाश किया जा सकता है, क्योंकि इस विकारी दुनिया को ही ब्रह्म समझना, एक में अनेक को देखना ही असत् का उत्पादक है, पाप की जड़ है।

इसलिए आत्मा और ब्रह्म के बीच के जाहिरा फर्क को दूर करने वाला, और असल में वह दोनों एक हैं यह बताने वाला जरिया ही इल्म है। ब्रह्म और आत्मा--यह दो धुरियां जिनके चारों तरफ उपनिषदों का फलसफा घूमता है, असलियत में वह एक ही हैं, हालांकि मामूली ज्ञान से वह जुदा दिखलाई पड़ती हैं। इस रहस्य की कैसे व्याख्या हो? उपनिषद ब्रह्म को पूर्ण, एक, अद्वितीय, सत् और असत् मानते हैं। वे इसके दो पहलू देखते हैं, एक निष्प्रपण्च और दूसरा सप्रपण्च। बृहदारण्यक का कथन है--

"द्वे वाव ब्रह्माणो रूपे मूर्त चैवामूर्त च मर्त्य चामृतं च
स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च।"

अर्थात् 'ब्रह्म के दो रूप हैं, मूर्त और अमूर्त, नाशवान और नाशहीन, स्थिर और अस्थिर, सत् और असत्।

ब्रह्म के निष्प्रपण्च पहलू के बारे में गार्गि और याज्ञवल्क्य के बीच जो बातचीत हुई है, उससे सारी बातें साफ हो जाती हैं। गार्गि याज्ञवल्क्य से पूछती है, "हे याज्ञवल्क्य! वह जो आसमान के परे, जमीन के नीचे, दोनों के बीच में है, जिसे लोग गुजरा हुआ, मौजूदा, और आने वाला कहते हैं--वह बुना हुआ तानाबाना सचमुच कहां है?" याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं, "गार्गि! उसको विद्वान लोग अक्षर कहते हैं। वह न स्थूल है और न सूक्ष्म; न लंबा है और न छोटा; जो न रंगमय है और न जलमय। जिसकी न परछाई है और न जिसमें अंधेरा। जो हवा और दिशा के बाहर है। वह अनासक्त, अव्यक्त, प्राणहीन, रसहीन, दृष्टिहीन, कर्णहीन, वाग्हीन है। उसके न मन है और न शक्ति। वह बगैर सांस, मुह, नाम और रूप के है। वह अजर, अमर, अभय, और विशुद्ध है। न खुला है और न ढका। जिसकी कोई माप नहीं है और जिसके न अंदर है और न बाहर। उस अक्षर को कोई नहीं देख पाता और वह उसको देखता है; उसे कोई नहीं सुन पाता और वह सब कुछ सुनता है, उसे कोई नहीं सोच पाता और वह सब कुछ सोचता है, उसे कोई नहीं जानता और वह सबको जानता है। इस अक्षर को छोड़ कर कोई दूसरा नहीं जो देखता, सुनता, सोचता, और जानता है। इसी अक्षर के चारो ओर है गार्गि! दिशा ताने बाने के समान फैली हुई है। (वृहदारण्यक ३, ८)।

ब्रह्म का सप्रपण्च पहलू वृहदारण्यक उपनिषद में एक दूसरी जगह साफ हो जाता है जहां उद्यालक इस अंतर्यामी के विषय में सवाल करता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं, "पण्चभूतों, आकाश, सूरज, दिशाओ, चांद, तारों, अंधकार, प्रकाश, सब देहों में, इंद्रियों में, बुद्धि और मन में यह रहता है। इसको कोई नहीं सुनता और यह सब कुछ सुनता है, इसको कोई नहीं देखता और यह सबको देखता है, इसको कोई नहीं सोच सकता और यह सब कुछ सोचता है, इसको कोई नहीं जानता और यह सबको जानता है। उसको छोड़ कर कोई दूसरा सुनने, देखने, चिंतन करने और जानने वाला नहीं है। यही अंतर्यामी है।"

ऊपर दिए हुए हवालों से यह साफ जाहिर होता है कि सप्रपण्च और निष्प्रपण्च उसी एक सत्ता के दो पहलू हैं। इसी ब्रह्म से सृष्टि निकलती है, लेकिन यह सृष्टि

इसी के अंतर्गत हैं। ब्रह्म को समाप्त नहीं कर देती। यह जगत् ब्रह्म ही की इच्छा से पैदा हुआ है, जैसा कि छांदोग्यपनिषद में लिखा है :

इदमग्र आसीदेवमेवाद्वितीयं तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति।

शुरू में यह सिर्फ एक था कोई दूसरा नहीं था। इसने इच्छा की 'मैं बहुत हो जाऊं और अपने को बढाऊं।'

नाम और रूप के फर्क के कारण ही प्रपण्च (दुनिया) व्रह्म से उत्पन्न होता है। इसी भेद से सारी सृष्टि निकलती है। पहिले, तन्मात्राएं, फिर महाभूत, फिर जानदार और फिर आदमी।

किंतु मनुष्य सिर्फ नाम और रूप का प्रकाशन—एक बेजान शरीर ही नहीं है। इनसान के अंदर आत्मा है। मनुष्य का शरीर एक जानदार बनावट है जो जीव, इद्रियों और मन से मिल कर बनता है। यही वह सब कोष है जिनके अंदर आत्मा छिपी रहती है। जड़ शरीर के साथ रहने के कारण आत्मा अपने को भूल जाती है और गलती में पड़ जाती है। लेकिन यह असल में वही है जो ब्रह्म है और यही आत्मा प्रकाश का ज़रिया है जिससे बुद्धि रोशन होती है और ज्ञान हासिल होता है। लेकिन इल्म के प्राप्त करने के लिए देह को काबू में करना चाहिये। इसकी क्या तरकीब है यह कहा ही जा चुका है।

उपनिषदों के सिद्धांत कई सदियों तक, दुनिया से विरक्त, सच्चाई की तलाश में फिरने वाले कुछ खास ही लोगों तक सीमित रहे। धीरे-धीरे एक ऐसा वक्त आया जब लोगों में दार्शनिक विचारों को एक ढंग से इकट्ठा करने की ख्वाहिश बढ़ी और छः प्रकार के संग्रह-ग्रंथों की रचना हुई जो सूत्र नाम के छोटे छोटे वाक्यों में लिखे गए हैं। रहस्यवाद के विकास में इन छः में से तीन बहुत जरूरी हैं—कपिल का सांख्य, पातंजलि का योग और वादरायण का वेदांत। सांख्ययोग नाम का सिद्धांत बताता है कि किस प्रकार ब्रह्म में से सारी दुनिया और मनुष्य निकले हैं और फिर सीढ़ियों के द्वारा वह उसमें फिर लीन होते हैं। दूसरे लफ़्ज़ों में वह सिद्धांत सृष्टि और आध्यात्मिक विद्या के उन नियमों को सामने रखता है जिनसे साबित होता है कि ब्रह्म और मनुष्य एक हैं।

सांख्य के मुताबिक विकास दो तत्वों से शुरू होता ह। यह दोनों तत्व एक ही अखण्ड तत्व से निकले हैं। यह बात हालांकि उसमें साफ साफ नहीं कही गई है लेकिन आशय यही है। इसमें से पहले तत्व का नाम पुरुष ह। यह चेतन है, यह बदलता नहीं है, यह हमेशा कायम रहने वाला है, और हर जगह मौजूद है, यही इसकी विशेषताएं हैं। निरवयव होने की वजह से यह निर्व्यापार रहता है। सब जगह व्यापक होने की वजह से यह अपने ही में रत है, अपने ही पर आश्रित है। प्रकृति नाम के दूसरे तत्व का यह असली कारण है। प्रकृति से संसर्ग होने की वजह से बहुत से पुरुष दिखाई देते है जो समझ और बुद्धि में एक दूसरे से जुदा हैं। इससे यह साबित होता है कि एक आदि पुरुष है जिसके पास अपार विद्या है। इस आदि पुरुष को महर्षि पातजलि ईश्वर का नाम देते हैं। यह ज्ञान का सार है और प्रकृति का इस पर कोई ी ¤ज्न नहीं है।

प्रकृति का दूसरा नाम है प्रधान, जो सबसे पहले उत्पन्न हुआ है। यह प्रधान हमे जो कुछ दिखाई देता है उसका सार है, यह दुनिया का पहला कारण है। दुनिया अपनी मौजूदा शक्ल अख्तयार करने के पहले इसी 'प्रधान' की अवस्था में थी। प्रकृति के खुद तीन अग है जिन्हे गुण कहते हैं। वे एक दूसरे का आसरा लेते हैं, और उन्ही के कारण सारे परिवर्तन होते हैं। यह तीन हैं सत्य, रजस और तमस्।

प्रकृति से जो सबसे पहली चीज निकलती है उसे 'महत' या 'बुद्धि' कहते हैं। महत् से अहंकार, मन, कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां पैदा होती हैं। दूसरी ओर इसी से पांच तन्मात्राएं निकलती हैं जिनसे पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं।

बुद्धि जिसमें चेष्टा है, मगर जो सचेतन नहीं है, इसके दो रूप हैं। ज्ञानेन्द्रियों के ज़रिये से जो चीजें इसके सामने लाई जाती हैं उनमें परिवर्तित होने और उनका रूप धारण करने की वृत्ति इसका एक पहलू है। चेष्टाहीन मगर सचेतन पुरुष के संसर्ग में आना, जिससे इसमें प्रकाश और ज्ञान बढ़ता है, इसका दूसरा पहलू है।

इस बुद्धि को धारण करने वाला—जिसकी दो प्रकार की शक्तियां हैं—मनुष्य है। उसका यह कर्तव्य है कि वह इस मायावी अपनेपन से—जिसके कारण संसार का चक्कर पैदा होता है, अपने को ऊपर उठावे, और उस सच्ची आत्मा की ओर

ले चले जिसके कारण उसकी इन बंधनों से मुक्ति होगी। ज्ञान हासिल करने के लिए बुद्धि की क्रियाओं और वृत्तियों को रोकना चाहिए और ऐसी ताक़त पैदा करनी चाहिए जिसकी वजह से इंद्रियों के विषय पुरुष पर हावी न हो सकें। मन रूपी समुद्र को मथने वाली हवाएं जब शात हो जाती हैं और जब तूफानी लहरें खत्म हो जाती है, तब इस निश्चल जल में उस अनंत और सदा क़ायम रहने वाले तेज की छाया पडती है। इस सफर की मज़िलें पातंजलि ने इस प्रकार बताई हैं :

सब से नीची सीढ़ी पर मन, संस्कार, वासना, निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्षों का एक समूह है। इन अनुभवों में फंसा हुआ मनुष्य सत्य को ढांकने वाले अज्ञान में पड़ा रहता है। इस अज्ञान को नाश करने के लिए दो प्रकार के सयमों की आवश्यकता है। धर्म और सदाचार के नियमो का पालन करना, निषेधों से दूर रहना, आसन, प्राणायाम, और प्रत्याहार जैसे जिस्मानी अभ्यासों को करना जिससे इंद्रिया काबू मे रहें, एक तरह का संयम है। दूसरे तरह का संयम धारणा, ध्यान और समाधि रूपी मानसिक अभ्यासा का है। यह दिमागी क्रियायें मनुष्य को चेतना की नीची सीढ़ियों से ऊपर ले जाती हैं।

इस विकाम की दो भिन्न अवस्थाएं हैं। पहली अवस्था जिसमें संस्कार के बीज नष्ट हो जाते हें, सबीज समाधि कहलाती है। दूसरी जिसमें यह बीज नाश हो जाते हैं--निर्बीज समाधि कहलाती है। इसमे से पहली अवस्था की दो श्रेणिया हैं--सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञान। पहिली श्रेणी में मन विषय, नाम और गुण पर एकाग्र रहता है। उसका संबध ज्ञाना, ज्ञान और ज्ञेय से होता है। मगर धीरे धीरे प्रतिच्छायाओं की अनेकता मिटने लगती है और अन्त में केवल एक ही प्रतिच्छाया रह जाती है। मन की वृत्तियों का निरोध होना है, तथा विषयी और विषय एक दूसरे का साक्षात् करते हैं। सबीज समाधि में ध्यान करने वाला कभी अनुभव करता है कि वह और विषय एक हैं और कभी यह कि दोनो अलग-अलग हैं। सुख और दुख की भावनाएं, जो इस प्रकार के अनुभव के साथ रहती हैं, यह दिखलाती हैं कि अचेतन प्रकृति इस अवस्था में भी चेतन पर असर डालती है।

निर्बीज समाधि में मन पूर्ण स्थिरता पा लेता है और दिमागी संस्कार और वृत्तियां जो पहिले, कभी बन जाती थीं और कभी मिट जाती थीं, इस हालत में खत्म हो जाती हैं। रजस् और तमस् गुणों से पैदा हुआ पर्दा नष्ट हो जाता है और पुरुष

का प्रकाश बुद्धि को रोशन करता है। अचेतन के विकारों से छूटकर मन स्वस्थ हो जाता है। इसी अवस्था में धर्ममेघ अपना मंगल जल बरसाते हैं।

किंतु सबसे ऊंची सीढ़ी वह है जिसमें विषयी और विषय का ज्ञान ही नष्ट हो जाता है और पुरुष कैवल्य प्राप्त करता है। कैवल्य में संस्कारों का बीज नाम को भी नहीं रहता। मनुष्य की आत्मा और परमात्मा के बीच का सारा भेद समाप्त हो जाता है और इस लंबे सफर का लक्ष्य मिल जाता है। पुरुष कह उठता है। 'स एवाह'। स अहंब्रह्मास्मि', मैं वह हूं। मैं ही ब्रह्म हूं!

सूत्रों के इस प्रकार के संग्रह, कठिन होने के कारण, सिर्फ गुरुओं और शिष्यों के छोटे छोटे जत्थों के ही पास रहे, यहां तक कि साधारण संस्कृत पढ़ने वाले लोगों के लिए भी, जो इन सूत्रों को समझने के लिए टीका नहीं रखते थे, यह संग्रह सर्वप्रिय न हो सके। इसी कारण जब इसे एक तरफ बौद्ध धर्म से श्रुति विरूद्ध दर्शन का और दूसरी तरफ हर्ष की मौत के बाद हिंदुस्तान के पश्चिमी किनारों पर इसलाम का मुक़ाबला करना पड़ा तब इन दोनों के सामने अपने को खड़ा रखने के लिए उपनिषदों और सूत्रों के रहस्यवाद के सिद्धांत का खूब प्रचार किया गया।

बादरायण के सूत्रों पर 'शारीरिक भाष्य' नाम की टीका लिखकर शंकराचार्य ने बड़ी सेवा की। इसके दो नतीजे हुए। एक, अद्वैतवाद की अमिट छाप आने वाले दार्शनिक विचारों पर हमेशा के लिए लग गई और, दूसरे यह कि दर्शन का अध्ययन सिर्फ कुछ ही गिने चुने लोगों की बपौती न रहकर सबकी सम्पत्ति हो गया।

शंकर की धारणा है कि सत् निःसंदेह सिर्फ एक ही है। उस एक सत्त को छोड़कर शंकर किसी दूसरी वस्तु को सत् नहीं मानते। उनके लिए ब्रह्म, विशुद्ध, सत्, चेतन और निर्गुण है। केवल यही एक सत् है और बाकी सब असत्-माया है। इसका यह मतलब नहीं कि दुनिया है ही नहीं, बल्कि यह कि दुनिया असत् होने के कारण सत् नहीं समझी जा सकती। इससे यह साबित होता है कि बाहरी दुनिया के बारे में हमारा जो ज्ञान है वह असत् होने के कारण नीची श्रेणी का है। सच्चा ज्ञान सत् के विषय का ज्ञान है।

दिखाई देने वाली यह दुनिया सिर्फ माया ही की उत्पत्ति है। सत् केवल ब्रह्म ही है, किंतु माया के कारण वह अलग अलग रूपों और सजीव हस्तियों में बंटा

हुआ दिखाई पड़ता है। आत्मा साधारण अनुभवों में पड़कर और धोखा खाकर इस गोचर संसार को सत् मानने लगती है और इसी का नतीजा है कि वह आवागमन के चक्कर में निःसहाय घूमती फिरती है। इस चक्कर से बचने के लिए केवल शास्त्रों के नियमों का पालन करने से ही काम नहीं चल सकता, किंतु ऊंचे ज्ञान की प्राप्ति करने की यथाशक्ति कोशिश करनी चाहिए। कर्मकाण्ड के द्वारा नहीं बल्कि ज्ञान के ज़रिये ही मोक्ष मिलता है। नित्त, नैमित्तिक आदि कार्यो के करने, सत असत विवेक, भोग, विराम, और कामनाओं को बस में करने से आत्मा पवित्र होती है और मनुष्य उच्च विद्या हासिल करता है। इसके बाद अद्वैत के फलसफे को समझना, उसकी सच्चाई में अपना विश्वास बढ़ाना और आखिर में योगिक क्रियाओं द्वारा उसकी एकता पर ध्यान लगा कर अद्वैत को प्राप्त करना--यही इस सिद्धांत की अंतिम अवस्था है। इसी से आत्मा और परमात्मा की एकता हासिल होती है।

हिंदुस्तान के दूसरे बड़े उपदेशक रामानुजाचार्य, जिन्होंने वेदांत सूत्र पर टीका लिखी है, ईसा की 11वीं सदी के आखिरी और 12वीं के पहिले चरण में रहते थे। जहां एक तरफ शंकर के फलसफे ने विचारशील जनता में स्थान पाया, ठीक उसी नरह दूसरी तरफ रामानुज के सिद्धांतों ने हजारों स्त्री और पुरुषों के ऊपर गहरा असर डाला, जिससे उन्होने सच्चाई और भक्ति की जिंदगी बिताई। हालांकि रामानुज शंकराचार्य के 'अद्वैत' को भली भांति मानते हैं, फिर भी दोनों सिद्धांतों के बीच में कुछ खास खास बातों पर मतभेद है। रामानुज का ईश्वर सब कुछ देखने वाला, सब कुछ करने वाला और सब जगह रहने वाला है। उसके अंदर अपार दया है और परहित के सारे गुण हैं। वह दुनिया का बनाने वाला और उसको चलाने वाला है। विश्व की सारी चेतन और जड़ चीजों के अंदर बसता है। उसी की दया से मनुष्य उसमें मिलकर आवागमन से छुटकारा पाते हैं। भक्ति के आंदोलन पर जोर देने के कारण ही हिंदुस्तानी संस्कृति के विकास में रामानुज की महत्ता है। शंकर हिंदुस्तान के उस हिस्से में रहते थे जहां पर हिजरी सन् की पहली सदी में मुसलमानों ने आकर अपनी सबसे पहली बस्ती बसाई थी। रामानुज, जो शंकर से 300 साल बाद पैदा हुए, हिंदोस्तान के उस भाग में रहते थे जो मुसलमान व्यापारियों ओर इसलाम कुबूल करने वालों से बहुत समय से परिचित था। शंकर का अद्वैतवाद इस्लामी वहदत के फलसफे से प्रभावित हुआ और रामानुज का भक्ति-मार्ग और रहस्यवाद इसलाम के सूफी मत से। "रामानुज के मत के अनुसार परमात्मा के पास पहुंचने का खास

साधन है प्रपत्ति यानी अपने को ईश्वर को अर्पण कर देना। जब मन परमेश्वर की प्रार्थना से भरा रहता है, इसका पूरा विश्वास होता है कि वही अकेला उद्धार करने वाला है, और आत्म-समर्पण के सिवाय उस परमेश्वर की दया के पाने का और कोई दूसरा तरीका ही नहीं है--ऐसी अवस्था को ही प्रपत्ति कहते हैं। इस प्रकार के भक्तों की दो विशेषताएं हैं। एक तो निर्भरत्व, यानी भक्त अपने को पूरी तौर से परमात्मा के अर्पण कर देता है। दूसरी उपाय-शून्यता अर्थात् भक्त इस बात को समझ लेता है कि इसके अलावा सारे साधन व्यर्थ हैं। भक्त, चाहे उस पर कितनी ही मुसीबतें पड़ें हमेशा मुस्कराता रहता है और खुशी के साथ सारे कष्टों को झेलता है। वह 'एकांती' है और एकांती होने के कारण सिर्फ परमात्मा में ही उसका पूरा विश्वास है। असल में उसका मन ईश्वर मे इतना लीन रहता है कि दुनियावी चीजों के लिए वहां जगह ही नहीं रहती। द्वेष, लालच, घृणा, बैर आदि का उसमें आना नामुमकिन हो जाता है और दुनिया के सभी प्राणियों के लिए उसके हृदय में मैत्री, दया और उदारता भर जाती है। ईश्वर के ध्यान मे लगा हुआ यह भक्त एक नैतिक वीर, नित्यशूर है, जिसे न इस लोक के और न परलोक के प्रलोभन लुभा सकते हैं। धर्म शास्त्रों के कर्मकाण्डों की उसके ऊपर कोई बंदिश नहीं रहती। लेकिन अपने रास्ते को आसान बनाने के लिए उसे एक गुरु से दीक्षा लेनी चाहिए, जिससे वह अपने मन की सारी बातें बिना छिपाए कह दे।

इस प्रपत्ति-धर्म के सहायक साधन हैं : (1) अनुकूलस्य संकल्पः - यह निश्चय कि हम ईश्वर ही की मर्जी के मुताबिक चलेंगे। (2) प्रतिकूलस्य वर्जनम् - परमात्मा की इच्छा के खिलाफ जो काम है उसे हम कभी नहीं करेंगे। (3) रक्षिष्यतीति विश्वासः-- पूरा विश्वास कि वही हमारी हिफाजत करेगा। (4) गोप्तृत्ववरणम् - रक्षा करने वाला मान कर उसकी प्रार्थना करना। (5) आत्म निक्षेप - अपने को पूरी तौर से उसके ऊपर छोड़ देना। (6) कार्पण्य - यह समझना कि मैं कुछ नहीं हूं, केवल उसी का आसरा है।

परमात्मा की कृपा दो तरह की होती है, निर्हेतुक और सहेतुक।

भक्त दो प्रकार के होते हैं। विधिगोचर - जो शास्त्रों में कहे गए कर्मो को पूरा करते हैं, दूसरे--अविधिगोचर--जो इन कर्मो की ओर से उदासीन रहते हैं। आत्मा में खुशी खुशी रम जाना ही प्रपत्ति-मार्ग पर चलने वाले का परम लक्ष्य है।

रामानुज के लिए प्रपत्ति भाव की अवस्था नहीं है, बल्कि ज्ञान की है। लेकिन रामानुज के अनुयायियों ने ज्ञान की अवस्था के साथ साथ भावना की अवस्था को भी बढ़ाया। उन्होंने परमात्मा और भक्त का रिश्ता कृष्ण और गोपी की तरह प्रियतम और प्रेमी का माना। प्रेमी की तरह भक्त भी संयोग के आनंद और वियोग के दुःख का अनुभव करता है।

रामानुज का समय हमें अपने इतिहास के उस ज़माने में ले जाता है जबकि उत्तर हिंदुस्तान इसलाम के प्रभाव में आ चुका है और हिंदू धर्म में इसलामी विचार और संस्कार मिलने लगते हैं। लेकिन इसके साथ ही साथ इसलाम धर्म भी हिंदू-शास्त्र और दर्शन के तरीकों और ख्यालों को ग्रहण करता है जिससे दोनों एक दूसरे के निकट आ जाते हैं। इसलिए, इन दोनों का मेल-जोल किस तरह शुरू हुआ यह जानना बहुत ज़रूरी है।

तसव्वुफ या इसलामी सूफी रहस्यवाद की नींव कुरान के उपदेशों पर ही रखी गई है। सूफी अपने सिद्ध पुरुषों की चरितावली हज़रत मुहम्मद से ही शुरू करते हैं और उनमें से बहुत से हज़रत अली को उनका पहला खलीफा मानते हैं। यहां पर तसव्वुफ के आरंभ के उल्लेख की जरूरत नहीं; लेकिन मंसूर-उल-हल्लाज, जिनका जन्म 858 ईस्वी में ईरान में इस्तख के पास तूर नामक गांव में हुआ था, के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। उनकी जीवनी से मालुम होता है कि वह हिंदोस्तान में आकर गुजरात और काश्मीर में ठहरे थे और फिर उसके बाद ख़ुरासान गए। आखीर में बगदाद जाकर रहने लगे और वहीं पर उपदेश देने लगे। इनके विचार पुराने ख्यालवाले लोगों को पसंद न आए और इब्न दाऊद उल इस्फहानी ने, जो जाहिरिया संप्रदाय के आलिम थे, उनके खिलाफ फतवा दे दिया। वजीर के सामने मुकदमा हुआ और 922 ई. में उनको फांसी दी गई। मन्सूर के इस ऐलान से कि 'मैं' और 'हक' एक ही हैं (अनलहक) उस वक्त भी जनता पर काफी असर पड़ा। इसी के साथ उनकी रायि, कि हज वगैरह पांचों फरजों की जगह और संस्कार ले सकते हैं, बड़े वाद विवाद का सबब बनी। मन्सूर की शिक्षा थी कि अल्लाह सृष्टि की सारी सीमाओं के परे है और अल्लाह और इनसान की रूह दोनों आखीर में एक हो जाते हैं। इस उसूल को 'हुलूले लाहूत फी अन्नासूत' कहते हैं।

मन्सूर के 200 साल बाद इमाम मुहम्मद ग़ज़ाली हुए। उनको 'हुज्जत-उल इसलाम' यानी 'इसलाम का सबूत' कहा जाता है और वे मुसलमानों में सबसे ऊंचे दर्जे के आलिम समझे जाते हैं। फ्रांसीसी लेखक रेनां, जिसने मुसलिम विचारधारा का काफी अनुशीलन किया था, उनको अरब के दार्शनिकों में सबसे मौलिक मानता है। इन्होंने इसलामी दर्शन पर यूनान का जो प्रभाव पड़ा था उसको इस तरह से उखाड़ कर फेंक दिया कि वह पूरब में फिर न पनप सका।

गजाली का जन्म 1066 ईस्वी में तूस नामक शहर में हुआ था। उन्होंने अपना जीवन एक धर्म-शास्त्री और भाष्यकार की हैसियत से शुरू किया लेकिन बाद में फलसफे की ओर उनका मन झुका। बगदाद के मशहूर निजामिया कालिज के वह प्रोफेसर मुकर्रर किए गये। कुछ समय के बाद उनके दिमाग में एक इनकलाब हुआ और उनकी आत्मा में उथल पुथल मची। फलसफे की तरफ से विश्वास हट गया और वह नास्तिक हो गए। अपनी जगह से इस्तीफा देकर उन्होंने तपस्या के द्वारा शांति हासिल की। मक्का आदि तीर्थ स्थानों की यात्रा करके उन्होंने ध्यान में मन लगाया। आखिरकार उनकी परेशान आत्मा को शांति मिली। वह नेशांपुर वापिस आए और वहां कालिज में पढ़ाने लगे। इसके थोड़े ही समय बाद वह अपने स्थान तूस लौटे जहां सन् 1111 ईस्वी में उनका देहान्त हो गया।

गजाली का 'इह्य-उल-उलूम' उनका सबसे उत्तम रचनात्मक ग्रंथ है। इसमें उन्होंने धर्म और फलसफा संबंधी सारी समस्याओं पर विचार किया है। ज्ञान या इल्म के बारे में उनका कहना है कि यह दो प्रकार का है—अक्ली-यानी अक्ल या बुद्धि से संबंध रखने वाला और दीनी—यानी आत्मा से संबंध रखने वाला। पहिले तरह का इल्म वैज्ञानिक इल्म है और प्रत्यक्ष प्रमाण, तर्क, और अध्ययन इसके हासिल करने के साधन हैं। एक ओर औषधिशास्त्र, गणित, ज्योमेट्री शास्त्र और दूसरी ओर धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा व्याकरण आदि इसकी शाखाएं हैं। दूसरी तरह का ज्ञान इल्मे मकाशिफा यानी आत्मा के साक्षात्कार का ज्ञान है। इसका मकसद उस ईश्वर की प्राप्ति है जिसके सिवा सब असत् है। यह मनुष्य को सारे फंदों से छुड़ाकर सत् का साक्षात्कार कराता है। मन में चंचलता पैदा करने वाली इंद्रियों को स्थिर करना, हृदय की शुद्धि (तजकिया-ए-नफस) और गूढ़ तत्वों पर चिंतन (मराकबा और मकाशफा) इसके लिए पहली शर्त है। पहली तरह के दुनियावी इल्म की सच्चाई अनिश्चित है, किंतु आत्मिक

ज्ञान की निश्चित, क्योंकि यह सचमुच ईश्वर ही का सामना करा देता है। पहिली तरह का ज्ञान दूसरी तरह के ज्ञान से नीचे दर्जे का है, इसलिए जब तक यह दूसरे प्रकार के ज्ञान के विकास मे सहायक है तब तक तो ठीक, वरना बिल्कुल बेकार।

इन दोनों प्रकार के ज्ञानो के बीच मे फर्क दिखलाने के लिए गजाली ने दो उदाहरण दिए हैं। पहिला–किसी खेत में एक कुंआ खोदा गया। इसमे पानी दो तरह से भरा जा सकता है, एक तो जमीन की सतह पर नालिया खोदकर किसी दूसरे कुएं से इसमें पानी लाया जा सकता है या फिर उसी कुए की तह की जमीन को इतना गहरा खोदा जाय कि अंदरूनी सोते से खुद-ब-खुद फूट कर पानी ऊपर आ जाए। दूसरी तरह का आया हुआ पानी पहिली तरह से आए हुए पानी के मुकाबले मे अधिक निर्मल, और स्थायी होगा। ठीक उसी तरह मनुष्य का मन, कल्ब, एक कुंआ है, नालिया पाच इद्रियां, और उनके द्वारा लाया गया पानी, तजरुबे ओर अनुभव पर आश्रित ज्ञान की तरह है। लेकिन दूसरे तरह का ज्ञान वह है जो छिपे हुये सोते से कुंए की तह की मिट्टी के हट जाने पर अपने आप निकल आता है। यह वह सीधा ज्ञान है जो लौहे-महफूज पर लिखा हुआ है, और यह उस दैवी सत् का ज्ञान है जो ईश्वर की दया से खोजने वाले की आत्मा मे प्रकाशित होता है।

दूसरा उदाहरण–एक राजा से कहा गया कि रोमन और चीनी बड़े अच्छे चित्रकार हैं। उन दोनों की चतुराई की तुलना करने की गरज से राजा ने अपने कमरे की एक दीवार चीनी कलाकारो और सामने वाली रोम कलाकारो को दी। दोनो के बीच में एक पर्दा डाल दिया गया। रोमन लोगो ने तरह तरह के रंग इकट्ठे किए। लेकिन चीनियो ने बिना किसी रंग के ही अपना काम शुरू किया। जब दोनों ने अपना काम खत्म कर लिया तो उनकी चित्रकारी का मुआयना करने के लिए राजा को बुलाया गया। रोमन लोगो की सुंदर तस्वीरो को देखकर राजा बहुत ही खुश हुआ और फिर चीनियों की दीवार की ओर मुडा जिस पर कोई भी रग इस्तेमाल नहीं किया गया था। राजा ने आश्चर्य से पूछा 'चित्र कहां है?' तब चीनियों ने बीच का पर्दा हटा दिया और रोमन चित्र की सारी सुंदरता की परछाई उस चीनी दीवार पर पड़ी। इतना ही नहीं बल्कि चीनियों ने अपनी दीवार पर ऐसी अद्भुत पालिश की थी कि परछाई असली तस्वीर से भी कहीं खूबसूरत लगी और उसकी जगमगाहट के सामने असली तस्वीर फीकी पड़ गई।

ईश्वर के भक्त इन चीनियों की तरह से ही हैं। व अपने दिल के आईने को इस तरह शुद्ध और निर्मल कर लेने हैं कि सनातन सत्य उसमें अपने पूरे प्रकाश के साथ चमकने लगता है, लेकिन पोथी पढ़ने वाले पंडित रोम वालों की तरह से हैं, उनका ध्यान सिर्फ बाहरी दुनिया की शोभा तक ही सीमित रहता ह।

सूफी परमेश्वर को एक अनिर्वचनीय तेज पुंज मानते हैं। गजाली ने तो एक जगह यह भी लिखा है, "अल्लाह सत्तर हजार पर्दो के भीतर है, जिनमें से कुछ प्रकाशमय हैं और अन्य अधकारमय। यदि वह किसी प्रकार उन परदों को हटाकर अपने को अनावृत कर ले तो जिस किसी की भी दृष्टि उस उस पर पड़ेगी, वह उसके प्रखर प्रकाश से जल जायेगा।" गजाली के अनुसार "मनुष्य अपना जन्म ग्रहण करते ही उन प्रकाशमय पर्दो की ओर से क्रमशः अधकारमय पर्दो की ओर बढ़ना आरंभ कर देता है, किंतु यदि कभी वह संभल जाता है और एक "सालिक" के साधन के रूप मे उधर से लौट पड़ता है तो फिर वह उस दिव्य आलोक की ओर अग्रसर होने लगता है तथा उसे परमात्मतत्व की उपलब्धि हो जाती है।" इस यात्रा में उसे सात विभिन्न स्थलों या दिशाओं को पार करना पडता है–जो क्रमशः अनुताप, आत्मसंयम आदि के रूप में हुआ करती हैं और उसे उनके कारण आत्मबल मिलता है तथा अंत में वह एक ऐसी स्थिति में आ जाता है, जहा उसमें अतीन्द्रिय आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता आ जाती है। सूफियों ने फिर इस दशा की भी चार भिन्न-भिन्न कोटियों की कल्पना की है और उन्हें क्रमश· "मारिफत", "इश्क", "वज्द" एवं "वस्ल" के पृथक-पृथक नाम दिए हैं। इनमे से "मारिफत" एक प्रकार का हृदयप्रसूत ज्ञान है, जिसमें गहरी अनुभूति का अंश बहुत अधिक मात्रा में रहा करता है और "इश्क" उसी का वह भावावेगमय रूप है, जिसे सूफियों ने सदा अधिक महत्व प्रदान किया है तथा जिसकी स्थिति में आकर "सालिक" का अपने आपको क्रमशः विस्मृत करते जाना भी बतलाया गया है। इस दशा के अनंतर ही "वज्द" वा उन्माद की स्थिति आती है, जो सालिकों की इस यात्रा का उच्चतम सोपान है और जहां से उन्हे उनके अंतिम ध्येय "वस्ल" (ईश्वर-मिलन) की सिद्धि हो जाती है।

एक सूफी परमेश्वर को अपना परम आत्मीय समझता है और वह अपने को उससे बिछुड़ा हुआ भी अनुभव करता है। वह उसके विरह में तड़पा करता है, उसकी उपलब्धि के लिए आतुर बन जाता है और इसी भावना के साथ वह अपनी उपर्युक्त

साधना में प्रवृत्त भी होता है। उसे इसकी परवाह नहीं होती कि मेरा प्रियतम मुझे किसी स्थूल शरीर में आकर दर्शन दे और वह न यही चाहता है कि मुझे उसके समक्ष सदा उपस्थित रहने का ही अवसर मिले। वह उसके 'नूर' के दिव्य प्रकाश से ही अपने को अभिभूत मानता है।

सूफियों की भक्ति-भावना के अंतर्गत "श्रवण" का एक रूप उनके "तिलवत" वा "कुरान शरीफ" के नियमित पाठ में मिल सकता है। यह वस्तुतः इष्टदेव के गुणानुवाद का दूसरों में "सुनना" नहीं है, अपितु स्वयं धर्म-ग्रंथ का पारायण करके उसे कर्णगोचर कर लेने के रूप में पाया जाता है। इस "तिलवत" से ही मिलती-जुलती सूफियों की एक अन्य साधना "अवराद" के रूप में मिलती है, जिसके अनुसार कतिपय चुने हुए भजनों का ही दैनिक पाठ किया जाता है। सूफी साधकों के "कीर्तन" को "समा" कहा जा सकता है, जिसका भी शाब्दिक अर्थ "सुनना" है, किंतु जिसका प्रयोग यहां संगीतादि को श्रव्ण कर तल्लीन होने के लिए किया जाता है। इसलाम धर्म की दृष्टि से संगीत के प्रति आकृष्ट होना निषिद्ध कहा जा सकता है, किंतु सूफियों के "चिश्तिया" एवं "कादिरिया" संप्रदाय में इसे विशेष महत्व दिया जाता है। प्रसिद्ध सूफी मौलाना रूम द्वारा प्रचलित किए गए "मौलवी" संप्रदाय ने तो इसे अपने लिए प्रमुख साधना के रूप में अपनाया है। "समा" के लिए साधारण गीत के साथ नृत्य तक की आवश्यकता पड़ती है और सूफी साधक उनके द्वारा अपने को आत्मविभोर कर देता है। चिश्ती संप्रदाय के प्रसिद्ध बाबा फरीद ने तो "तिलवत" वाले उक्त "कुरान" का पाठ भी सुंदर लय में ही करने को महत्व दिया था। उनके अनुसार वैसा पाठ परमेश्वर के साथ वार्तालाप करना है। "समा" का आयोजन प्रायः "उर्स" के अवसरों पर भी किया जाता है और सूफी लोग भावावेश में आकर कभी-कभी बेसुध तक हो जाते दीख पड़ते हैं। कहते हैं कि "समा" के अवसरों पर उठने वाली मधुर ध्वनि में लीन हो जाने वाले की अंतर्दृष्टि आप से आप खुल जा सकती है और वह प्रियतम के निकट भी चला जाता है।

परंतु सूफी साधकों में साधारणतः "ज़िक्र खफी" अथवा "गुप्त जप' को ही अधिक महत्व दिया जाता है। इसमें जीभ द्वारा किसी मंत्र का स्पष्ट उच्चारण करना आवश्यक नहीं और न किसी आसन-विशेष पर बैठने अथवा शरीर को मोड़ने की ही आवश्यकता पड़ती है। यह "ज़िक्र" वस्तुतः एक अन्य साधना "फ़िक्र" वा चिंतन

जैसी होती है, जिसमें साधक का चित्त सदा अपने इष्टदेव की ओर आकृष्ट रहा करता है। "ज़िक्र खफी" का साधक अपने पवित्र मंत्र को ही सभी कुछ समझकर उसकी ओर ध्यान दिए रहता है और ऐसा समझता है मानो उसकी विधिवत् आवृत्ति भी करता आ रहा है। "फ़िक्र" की साधना में किसी मत्र की आवश्यकता नहीं रहती, किंतु अपने चित्त को परमात्म-तत्व के "नूर" वा दिव्य ज्योति की ओर लगाना पड़ता है। यह क्रिया अपने जीवन में निरंतर चल सकती है और साधक इसे करता हुआ भी अपने दैनिक व्यवहार को क़ायम रख सकता है। "फ़िक्र" की विशेषता उसके गुप्त रूप से चलने में ही होती है। प्रसिद्ध सूफी कवि जायसी ने अपनी रचना "पदमावत" के एक स्थल पर कहा है :

परगट लोकाचार कहु बाता; गुपुत लाउ मन जासों राता।

एक अन्य सूफी नूरमुहम्मद ने भी अपनी रचना "अनुराग बासुरी" के अंतर्गत इस प्रकार की साधना को "मन की माला फेरने" का नाम दिया है और बतलाया है कि हृदय द्वारा अपने प्रियतम के नित्य चिंतन या उसके स्मरण के "योग" की साधना पूरी हो जाती है। वे प्रेमी धन्य हैं, जो ऐसी साधना किया करते हैं। जैसे–

मन के मालै सुमिरें नेही लोग;
ध्यान और सुमिरन सौं पूरन जोग!
धनि सनेह के लोभें, जेहि दिन रात;
सुमिरन बिना न दूसर कछू सुहात!

सूफियों की "फ़िक्र" नामक साधना उनकी "मुराकवत" (ध्यान) से भिन्न हुआ करती है, जिसके लिए उनकी दृष्टि में "खिलवत" (एकांत-सेवन) भी नितांत आवश्यक है।

इस प्रकार सूफी साधकों की सारी क्रियाएं वस्तुतः अंतः साधना के ही विविध रूप हैं, जिनसे उनकी अंतवृत्ति के एकांतनिष्ठ बनने में सहायता मिलती है। जैसे-जैसे इसमें दृढ़ता आती जाती है, साधक एवं साध्य अथवा लक्ष्य रूप परमेश्वर के बीच का व्यवधान क्रमशः क्षीणतर होता चला जाता है और इसके फलस्वरूप उसके हृदय रूपी दर्पण के मल भी दूर होते चले जाते हैं, जिनके कारण वह अपने प्रियतम के अलौकिक "नूर" को भली भांति नहीं देख पाता था। हृदय के वे मल व विकार

सांसारिक बंधनों के कारण उत्पन्न आसक्तियों के रूप में रहा करते हैं और वे उस पर मोरचे की भांति चिपककर उसे सर्वथा मलिन बना दिया करते हैं। परंतु जब उक्त अंतःसाधना के कारण साधक की अंतर्वृत्ति केवल एक ही ओर केंद्रित हो जाती है, सारी आसक्तियों वाले बंधन आप-से-आप एकत्र होकर उस ओर ही लग जाते हैं, जिसका प्रतिबिम्ब ग्रहण करना रहता है, और इस प्रकार उसका संपूर्ण हृदय-पटल आलोकित हो उठता है। "तिलवत", "समा", "जिक्र", "फिक्र" अथवा अन्य ऐसी विविध साधनाएं सूफियों की उस प्रेम-साधना में केवल सहयोग प्रदान करती हैं।

यदि सूफी मत के ऐसे साधकों में से किसी महिला की चर्चा की जाय तो उस दशा में हमें राबिया बसरी से बढ़कर कोई दूसरा उत्कृष्ट उदाहरण नहीं मिल सकता। राबिया किसी निर्धन माता-पिता की पुत्री थी, जिसे बचपन में किसी ने केवल छः सिक्कों में ही दासी रूप में बेच दिया था। वह परमेश्वर के प्रति एकांतनिष्ठा का भाव रखती थी। इसमें संदेह नहीं कि उसके ईश्वरीय प्रेम की प्रगाढ़ता बहुत अधिक मात्रा तक पहुच चुकी थी। किसी समय सूफी अबू हसन द्वारा पूछे जाने पर कि "क्या तुम्हें विवाह करने की इच्छा है", उसने उत्तर दिया था–"क्या शरीर संबंधी विवाह? मेरा शरीर ही कहां रह गया है? मैंने तो उसे परमेश्वर के प्रति पूर्णतः उत्सर्ग कर दिया है। अब तो वह उसी के अधीन है और एक मात्र उसी के कार्यो में सदा व्यस्त भी रहा करता है।" इसी प्रकार कहते हैं कि एक बार स्वप्न में स्वयं हज़रत मुहम्मद द्वारा भी पूछे जाने पर कि–"क्या वह उनके प्रति किसी प्रकार प्रेमभाव रखती थी", उसने उन्हें स्पष्ट उत्तर दिया था, "हे अल्लाह के रसूल, ऐसा कौन होगा जो आपसे प्रेम न करता हो? किंतु परमात्मा के प्रेम ने मुझपर इस प्रकार अधिकार कर लिया है कि उसके अतिरिक्त किसी अन्य से प्रेम या घृणा तक करने के लिये मेरे हृदय में स्थान नहीं है।" राबिया को प्रेम भक्ति में पूरी अनन्यता का भाव था और वह पूर्ण आत्मसमर्पण भी कर चुकी थी।

इस्लामी तसव्वुफ के विकास में शहाबुद्दीन सुहरावर्दी (1145-1234 ई.) ने नुमाया हिस्सा लिया। इस विषय पर उनकी लिखी हुई पुस्तक 'अवारिफुल मआरिफ' बहुत मशहूर है। सुहरावर्दी ने इल्मों के फर्क को भली भांति से जांचा है। उन्होंने बतलाया है कि इंद्रियों और बुद्धि से प्राप्त (इद्राकी, हिस्वी, अक्ली) अनुभव इल्म या ज्ञान से जुदा है। इस अनुभव के दो पहलू हैं–एक 'अकले हिदायत' यानी बनाने वाले

के विषय में जानकारी और दूसरा 'अक्ले मआश', बनाई हुई चीजों के विषय की। इल्म तीन तरह का है (1) इल्मे तौहीद–यह ज्ञान कि ईश्वर एक है, (2) इल्मे मआरिफत–खुदा के कार्यो का ज्ञान; और (3) इल्मे शरियत–खुदा के हुक्मों का ज्ञान। लेकिन इस इल्म के भी परे एक भीतरी दीठ है जिसे मआरिफत कहते हैं "मआरिफत इबारत अज बाज शिनाखतने उजूमे मुजलिम दूर सूरते तफासील।" (दीठ उस जानने का नाम है जो ज्ञानों में साधारण और विशेष की पहचान से हासिल होती है। वह बताते हैं कि भीतरी दीठ (मारिफत) समाधि (वज्द) से मिलती है, और इसीलिये ज़बान में ताक़त नहीं कि वह इसे बयान कर सके। अनुभव और ज्ञान इसके लिये केवल भूमिका के समान हैं। इसलिए इल्म के बगैर दीठ (मारिफत) नामुमकिन है और इल्म दीठ के बिना एक बोझ है। सबसे ऊंची दीठ (मारिफत), मारिफते इलाही (ईश्वर की दीठ) है, जो आत्मा की पहचान पर निर्भर करती है। कहा है–"मन अरफा नफमहि अरफा रब्बिहि।"

"जो आत्मा मे दीठ रखना है वही परमात्मा को पहचानता है।"

ईश्वर क्या है, उसका मनुष्य से क्या संबंध है–इन विषयों पर सुहरावर्दी के विचार उनके इल्म और मारिफत (ज्ञान और दीठ) के सिद्धांतों में शामिल हैं। उनके विचार से खुदा पूर्ण सत् और शुद्ध तत्व है जो गुण और विशेषणों से परे है। "अल्लाह, अहद, समद, मुनज्जा अज वालिदो वलद, व मऊनतो मदद, व मुकद्दस अज शबीही नज़ीरो वजीरो मशीर।"

खुदा एक और सनातन है। उसका न कोई पैदा करने वाला है और न खुद उससे ही कोई पैदा होता है। उसको न कोई मदद देता है और न वह किसी की मदद करता है। न उसका कोई सानी है, न कोई उसके समान है, न कोई उसको सहायता देने वाला वजीर है और न कोई सलाह देने वाला मंत्री! देश, काल, गुण, आकार, संख्या, परिमाण आदि से उसे कोई संबंध नहीं। वह तर्क, अनुभव, इंद्रिय-ज्ञान, और अनुमान आदि से अप्राप्य, उनसे दूर और स्वतंत्र है। "हरचि दर अक्लो फहमो हवासी कयास गुंजद जाते खुदावंदे सुबहान अजा मुनज्जही मुकद्दस अस्त।"

लेकिन यह पूर्ण चेतना वह चमकता दमकता तेज है जो हमेशा के लिये छिपा नहीं रह सकता। सुहरावर्दी का कथन है–"मुराद अज तजल्ली इन्कशाफे शम्से हकीकते हक अस्त, तआला व तकद्दुस अज गयूमे सिफाते बशरी व गैबते आं।"

इनसानी गुणों के बादलों को हटा कर, ऊंचे और विशुद्ध ईश्वर के परम सत्य रूपी सूरज को रोशन करना ही तजल्ली (आत्मा की ज्योति) है। यह प्रकाश तीन प्रकार का है, (1) तज्जली-ए-जात--ईश्वरीय तत्व का प्रकाश, (2) तज्जली-ए-सिफात, उसके गुणों का प्रकाश और (3) तज्जली-ए-अफजाल--उसके कार्यो का प्रकाश। पहली अवस्था को मुशाहदा, दूसरी को मुकाशफा, और तीसरी को मुहाजरा कहते हैं। मुशाहदा की सबसे ऊंची अवस्था वह है जबकि देखने वाला (द्रष्टा) देखी गई वस्तु (दृष्ट) में अपने को मिला देता है।

परमात्मा और मनुष्य के संबंध पर रोशनी डालकर सुहरावर्दी सूफियों के रीति रिवाज, शिष्टाचार और आदर सत्कार पर अपने विचार पेश करते हैं। इसके बाद वह उनके फरायज और शिफातों को बताते हैं, अखीर में अंतिम लक्ष्य तक पहुंचने के लिये रास्ते की मंजिलें और अवस्थाएं बयान करते हैं। उनके मत के अनुसार यह बहुत जरूरी है कि शरियत (विधि-विधान) में बताए गए नियम कर्म किए जाएं और जिन कामों को करने से मना किया गया है (निषेध) वे न किए जाएं। मसलन पांच फ़र्ज अवश्य करने चाहियें। सद्गुणों में सच, धीरज, विनय, उदारता, मित्रता, क्षमा, स्नेह और प्रेम पर वे जोर देते हैं। पश्चाताप, तप, त्याग, दीनता, समर्पण, कृतज्ञता, भय, आशा, ईश्वर में विश्वास और उसकी इच्छा का पालन--यह सब उस मार्ग की मंजिलें हैं। इन सब गुणों से युक्त सूफी ईश्वर प्रेम और आकर्षण की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का अनुभव करता है और अंत में फना व वका (मोक्ष) के मंजिले मक़सूद पर पहुंच जाता है।

इब्न अरबी जो 'शेख-उल-अकबर' के नाम से मशहूर हैं, सुहरावर्दी से छोटे लेकिन उनके समकालीन थे। उनका जन्म स्पेन देश के मुरचिया स्थान में सन् 1165 ई. में हुआ; लेकिन वह सच की तलाश में पूर्वी देशों में आये और कई मुल्कों का सफर करते हुए दमिश्क में बस गए। सन् 1240 ई. में उनका जीवन समाप्त हो गया।

ईश्वरी तत्व की खोज के साथ उनके फलसफे का आरंभ होता है। उनका विचार है कि ईश्वर को न तो केवल सबके परे (तन्जीह) और न सिर्फ सबके अंदर (तशबीह) माना जा सकता है, क्योंकि वह दोनों ही है। कुरान का कहना है "हूउल अव्वल, हूउल आखिर, हूउल बातिन, हूउल जाहिर।"

'वह सबसे पहिला और सबसे आखिर है; वह अंदर वाला है, और बाहर वाला भी।' यह भी कहा गया है "सनरीहुम आयतना फिलाफाकि व अन्फसहुं हत्ता यतबीन लहुं इन्नहुलक्के"। 'मैं आसमान में और उनके प्राणों में अपने चिन्हों को जाहिर करूंगा ताकि उनको साफ-साफ मालुम हो जाए कि वही सत्य है।' जब कि यह कहा जाता है कि "उसके समान कोई चीज नहीं है", तो उसके तन्जीह या परा रूप से तात्पर्य है, और जब कहा जाता है कि 'वही सुनने और देखने वाला है' 'हू उस्समी हू उल बसीर' तो उसकी 'तशबीह' या अंतर्व्यापी अवस्था से मतलब है। जहां एक ओर वह बुद्धि के परे है वहां दूसरी ओर वह अपने को हब्ल-उल-बरीद यानी गरदन की नाड़ी से भी पास बताता है।

इसीलिए परम सत् का ब्यान केवल ऐसे ही शब्दों में किया जा सकता है जो आपस में विरोधी हा लेकिन यदि वह परम सत् संपूर्ण है तो इसका एक नियत रूप भी होना चाहिये। ब्रह्माड का विकास इसी नियत रूप से संबंध रखता है।

प्रवृत्ति का सिद्धांत ईश्वर के नियत रूप से बंधा है। इससे सृष्टि के विकास-क्रम का पता चलता है। इस विकास की पांच अवस्थाएं हैं। पहली अवस्था वहदत यानी पूर्ण ऐक्य या अद्वैत की है जिसमें बाह्य जगत और अंर्तजगत् बिलकुल एक होते हैं। दूसरी अवस्था वह है जिसमें ऐका टूट जाता है और अर्न्तजगत (बुतून) और एकत्व का सामना होता है। इसको वहिदियत कहते हैं। इसके बाद अहदियत यानी बहुत्व में एकत्व वाली अवस्था आती है, इस अवस्था में गुणों (सिफात) में तत्व और तत्व में गुण प्रकट हो जाते हैं। चौथी अवस्था वह है जब विचार नाम (एयान) उत्पन्न होते हैं और आखिरी वह जबकि रूप (अजसाम) पैदा होते हैं। मनुष्यों, चीजों और जगत् के इस बहुत्व के पीछे, दरअसल, एक ही सत्य है, जैसा कि कुरान में कहा गया है, "ऐ लोगों अपने रब का आदर करो, जिसने एक जान से सारी खलकत को पैदा किया।" या ऐयहा उन्नास उत्तिकू रब्बिकुं अल्लजी खल्ककुं मन नफसहि वाहिदतुन्"।

बाहरी जगत के स्वभाव के बारे में इब्न अरबी ने अजीब विचार ज़ाहिर किए हैं। 'फुसूस्-उल-हिकम' में वह कहते हैं कि मनुष्य और खुदा का संबंध पदार्थ और उसकी परछाई का सा है; और मनुष्य का जीवन स्वप्न समान है। और भी कई विषयों पर इब्न अरबी के विचार बिलकुल मौलिक थे। उदाहरण के तौर पर मूर्ति

पूजा के बारे में उनका विरोध साधारण रूप से कहे जाने वाले मतों से भिन्न विचारों पर मुनहसर था। वह कहते थे कि हर पूजा की चीज में, चाहे वह पत्थर, पेड़ या कुछ भी क्यों न हो, ईश्वर या उसके गुणों का प्रकाश होता है, लेकिन उपासना के यह साधन ईश्वर को एक ही वस्तु में सीमित कर देते हैं। और उसकी असली संपूर्णता और एकत्व निकाल देते हैं जो ठीक नहीं। (फस्से-हारूनी)।

अब्दुल करीम जीली जो इब्न अरबी के ही संप्रदाय के थे, 14वीं सदी के आखरी हिस्से में फारस में रहते थे। ऐसा मालूम होता है कि उसने जवानी में हिंदुस्तान का भ्रमण किया था। उसका फलसफा ज्यादातर इब्न अरबी के ही उसूलों से मिलता जुलता है। जहां तक पूर्ण ब्रह्म का अपने शुद्ध अंतर्जगत से, जिसे जीली 'काला बादल' (अल अमा) कहता है, बाह्य जगत के अनगिनत रूपों में बदलने (अवतरण) का विषय है। जीली और इब्न अरबी के मत यकसां हैं। लेकिन गुणों वाली दुनिया किस प्रकार फिर शुद्ध ओर सरल तत्व में लौट जाती है--इस पर भी जीली विचार प्रकट करता है, और सत असत के चक्र को पूरा करता है। इस चक्र के बीचो बीच आदमी का स्थान है, क्योंकि उसकी आत्मा एक ओर ब्रह्म और दूसरी ओर प्रकृति से मिल जाती है।

आदमी सत और असत के बीच में पुल बांधता है। आत्मा में सत्ता के सारे गुण एक हो जाते हैं। इसीलिए उसके द्वारा बहुत्व में फंसा हुआ एक अपने एकत्व के बारे में सचेत हो जाता है। जिस मनुष्य में इस एकत्व के ज्ञान का उदय हो जाता है वह इन्साने कामिल, पूर्ण पुरुष (परम हंस) कहलाता है। इस ज्ञान के उदय की तीन अवस्थाएं--नाम की ज्योति, गुणों की ज्योति और तत्व की ज्योति। यह अवस्थाएं ब्रह्म के प्रकृति में उतरने की तीन मंजिलें हैं। इन्हें अहदिय्यत (एकता), हुविय्यत (तदीयता) और अनिय्यत (अस्मदीयता) के नामों से पुकारते हैं।

बाद के सूफी लेखकों ने इस अवस्थाओं के दूसरे नाम रखे हैं। जैसे साधारण चेतना की अवस्था को नासूत कहते हैं और इससे आगे वाली तीन अवस्थाओं को क्रम से मलकूत, जब्रूत और लाहूत नाम देते हैं। मलकूत अवस्था में जो चेतना होती है उसकी स्वप्न से तुलना की गई है। इसको सूक्ष्म जगत और अमिट रूपों का जगत भी मानते हैं। दूसरी अवस्था बेखुदी या तल्लीनता की है जो सुषुप्ति के तुल्य है। यह वह गहरी नींद है जिसमें सपने नहीं दिखाई देते। सबसे ऊंची अवस्था सत्य,

तत्व और एकत्व की अवस्था है। इन हालतों की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं की जांच करें तो मालुम होता है कि मनके विषयों का धीरे-धीरे इस प्रकार नाश होता है, कि अंत में एक अवस्था ऐसी आती है जब चेतना में कोई भी दूसरी वस्तु न रहकर वह अकेली रह जाती है। पहली अवस्था वह है जिसमें विषयी, विषय और उन दोनों के आपस के संबंध मौजूद रहते हैं; दूसरी वह है जिसमें विषयी और विषय रह जाते हैं, संबंध टूट जाते हैं, और आखिरी वह है जिसमें केवल विषयी ही रह जाता है, विषयों का अंत हो जाता है। यह फना (मोक्ष) की मुख्तलिफ़ सीढ़ियां है जिन पर चढ़ कर आत्मा परमात्मा के पास पहुंच जाती है और उसकी यात्रा पूरी हो जाती है।

यही यात्रा जिसे 'तरीका' कहते हैं एक संयम है, जिसके दो हिस्से हैं। पहिले हिस्से को ''मुजाहिदा' (अभ्यास) और दूसरे को 'मराकबा' (ध्यान) कहते हैं। मुजाहिदा या अभ्यास का ध्येय हृदय की शुद्धि तजकियाए नफस है और इसमें शरियत के नियमों, विधि और निषेधों, को मानना है। दूसरे हिस्से के अंदर शारीरिक और मानसिक क्रियाएं हैं जिन्हें ज़िक्र (ध्यान) कहते है। ज़िक्र (ध्यान) की कई किस्में हैं, इनमें जली एवं खफी अधिक मशहूर हैं। इन क्रियाओं के लिए खास खास आसन हैं और इनके साथ साथ प्राणायाम (हब्से दम) भी किया जाता है जिसमें ईश्वर का परम नाम 'ला इला इल-अल्लाह' जपा जाता है। यह क्रियाएं एक गूढ़ प्रभाव पैदा करती हैं जिसमें अनदेखे रंग और अनसुने शब्द दिखाई और सुनाई देते हैं। मौलाना रूम इसी की तरफ इशारा करते हैं और कहते हैं--''दर अबल कुफ्लस्त व दर दिल पुर आवाजएं।'' होठों पर ताला लगा है, और दिल में एक नाद है, होंठ चुपचाप हैं लेकिन दिल नाद से भरा है। कबीर इसे कहते हैं :

अनहद बाजत ढोल रे, तोहे पीव मिलेंगे!

अब वेदांत और तसव्वुफ़ दोनों में क्या समानता है यह जानने के लिये दोनों की तुलना करनी चाहिये। सबसे पहिले हम ज्ञान के सिद्धांतों को लें। उस विषय में वेदांत और तसव्वुफ दोनों ही मानते हैं कि विद्या दो प्रकार की होती है, एक का विषय सत्य है और दूसरी का जगत। एक अपरा है, और दूसरी परा, एक दीनी और दूसरी दुनियावी। पहली प्रकार की विद्या का लक्ष्य अपने को जानना, आत्म-प्राप्ति है यानी 'साक्षात्कार' या 'मुशाहदा', 'अनुभव'--'समाधि' 'वज्द', 'जमा-उल-जमा'--यानी

परमानन्दमय अनुभव इसके साधन हैं। 'अभ्यास' या 'रियाजत' 'योग' या 'जिक्र' 'संयम' और 'ध्यान' या 'मुजाहदा' और 'मराकबा' आदि मानसिक साधन इसकी क्रियाएं हैं।

दोनों ही मत उस पूर्ण 'तद्' 'हू' 'धातु' 'जात' को एकसा मानते हैं। हिंदू और मुसलमान दोनों की दृष्टि से वह दूर से दूर और पास से पास है। वह परम या मुतलक; सत्यस्य सत्यम् या हकीकत-उल-हकायक, ज्योतिषाम्-ज्योति या नूरून-अला-नूरिन; सर्व व्यापी या सुहीत है। दोनों मानते हैं कि सिर्फ बुद्धि या अक्ल के ज़रिये इसका बोध नहीं हो सकता। जहां एक ओर उपनिषद् कहते हैं कि "वह न मन से, न वाणी से और न आंखों से पाया जा सकता है, 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति सो मना' वहां जामी फरमाते हैं 'परम प्रकाशित सत्य का तत्व न इल्म से पाया जा सकता है और न दृष्टि से।'

'हकीकते हके सुबहान न दर इल्म गुंजद व न दर अयान।"

दोनों ही ब्रह्म के जगत-रूप में बदलने को विकार कहते हैं और इसकी कई सीढ़ियां मानते है। इस क्रम का लक्षण उस गूढ़ अद्वैत में नाम और रूप या इस्म और सिफ़ात का पैदा हो जाना है। दोनों ही मानते हैं कि जगत का बाहुल्य उसकी इच्छा का फल है। उपनिषद में आया है–

'उसने सोचा कि अब मुझे जगत की रचना करनी चाहिए।'

हदीस में आया है, "कुन्ती कनजन् मरूपीयन फहबबतो अन उरिफो फखलकतो अल खल्को"

'मैं एक छिपा हुआ खजाना था, फिर मैंने इच्छा की कि लोग मुझे जानें। इसलिए मैंने सृष्टि की रचना की।'

वेदांत और तसव्वुफ दोनों ही मनुष्य को परमेश्वर का खास कृपा पात्र मानते हैं, क्योंकि उन दोनों के अनुसार मनुष्य की बुद्धि या कल्ब चेतन (खुदा) और जड़ (प्रकृति, दुनिया) के मिलने की जगह है। जहां हिंदू मनोवैज्ञानिक इस प्रकृति में सत्व, रजस् और तमस तीन गुण पाते हैं वहां गजाली भी उसमें इद्राक (सत्व), कुदरत (रजस), और शहवत-ओ-गजब (तमस) यह तीनों तत्व बतलाते हैं।

इसी तरह आत्मा के फिर ईश्वर में लय हो जाने के बारे में दोनों संप्रदायों



इडोनीसिया के चंडी सिंगसारि से प्राप्त महिषासुरमर्दिनी की प्रतिमा



चीन से प्राप्त क्वान्-यिन् अर्थात् अवलोकितेश्वर की काष्ठ-प्रतिमा।

के एक से विचार हैं। एक ही मार्ग से दोनों एक ही मंज़िल पर पहुंचते हैं। दोनों ही में समान संयम है, समान गुणों की आवश्यकता है, और दोनों के अनुभव एकसा हैं। रास्ते की मंजिलें और अवस्थाएं एक ही हैं। केवल नामों का फ़र्क है। मामूली से मामूली आदमी से यह बात नहीं छिप सकती कि दोनों संप्रदायों के विचार और लक्ष्य एक हैं। यदि परमात्मा की कृपा और प्रसाद की एक तरफ ज़रूरत है तो दूसरी तरफ भी उतना ही ज़रूरी है कि उसका फ़ैज और लुत्फ हो। न तो हिंदू बिना गुरु के इस पवित्र यात्रा को पूरा कर सकता है और न मुसलमान पीर या मुरशिद के बग़ैर; और दोनों ही दशाओं में शिष्य या मुरीद का गुरु पर पूरा-पूरा भरोसा होना चाहिये। परमार्थतः प्रेम या इश्के हकीक़ी की ताक़त ही दोनों को रास्ते पर चलने के लिए प्रेरित करती है।

जब तसव्वुफ़ और वेदांत हिंदुस्तान की सर ज़मीन पर मिले तो इन्होंने दोनों हिंदू और मुसलमानों में, ईश्वर की तलाश करने वाले लोगों के हृदय में, उत्साह भरा। दोनों में इतनी साफ साफ समानताएं थीं कि दोनों ही ने उन्हें पहिचान कर अपना लिया। दोनों सूफी और संतों ने मालूम कर लिया कि उनके लक्ष्य और साधन एकसा हैं। आपस के इसी मिलाप से विचार की वह गहरी धारा बह निकली, जो मध्यकालीन हिंदुस्तान की संस्कृति का आधार बनी। इस समय के अनेकों मज़हबी नेताओं और सुधारकों ने इस आत्मिक ऐक्य के विचार ज़ाहिर किए। मिसाल के तौर पर हम उनमें से कुछ यहां देते हैं। 'गुलशने-राज़' के लेखक शहाबुद्दीन मुहम्मद शबिस्तरी, जिनकी 1320 ई. में मृत्यु हुई, मूर्तिपूजा और इसलाम के फ़र्क को बतलाते हुए कहते हैं:

बुत ईंजा मजहरे इश्क अस्तो वहदत,
बूअद जुन्नार वस्तन अकदे खिदमत।
चू कुफरा दीं बुअद क़ायम व हस्ती,
शवद तौहीद ऐने बुत परस्ती।
चू अशिया हस्त हस्ती रा मज़ाहिर
अजा जुमला यके बुत बाशद आखिर।
मुसलमां गर विदानिस्ते कि बुत चीस्त
विदानिस्ते कि दीं दर बुत परसतीस्त।
वगर मुशारक जिबुत आगाह गश्ते

कुजा दर दने, खुद गुमराह गुश्ते।
नदोद ऊ अज बुत इल्ला खल्के ज़ाहिर
वर्दी इल्लत शुद अंदर शिर्क काफ़िर।
तू हम गर अजू न वीनी हक पिनहां
बशरअ अंदर न ख्वानंदत मुसलमां।

मूर्ति इस दुनिया में प्रेम और अद्वैत को प्रगट करने वाली है। और जनेऊ बांधने का मतलब सेवा का प्रण करना है। चूंकि कुफ्र और दीन (हिंदू और मुस्लिम धर्म) दोनों ही दुनिया के अस्तित्व पर कायम हैं इसलिए तौहीद (अद्वैत धर्म) मूर्ति-पूजन का असली तत्व है। चूंकि जगत की सारी वस्तुएं अस्तित्व को प्रगट करती हैं, इन सब ही वस्तुओं में मूर्ति भी एक वस्तु है। अगर मुसलमान जानता कि मूर्ति सचमुच क्या है, तो समझ जाता कि मूर्तिपूजा ही धर्म है। और अगर मूर्ति पूजने वाला मूर्ति की असलीयत जानता तो वह अपने धर्म से न विचलता। उसने मूर्ति में केवल बाहरी प्रकृति को देखा और इस कारण उसने ईश्वर को न पहचाना और अविश्वासी हुआ।

"तू भी अगर उसमें सत्य को छिपा हुआ नहीं देखता तो तुझे भी शरअ (धर्म शास्त्र) के हिसाब से मुसलमान नहीं कहेंगे।"

मिर्ज़ा जान जानान मज़ंहर, जिनका जन्म 1699 ई. में हुआ, हिंदू धर्म के बारे में यूं लिखते हैं :

बुत परस्ती व ईं अमल मुशाबहत
व ज़िक्रे राब्ता दारद कि मामूले
सूफिया अस्त, व ईं माना मुनासिवत।
अक़ीदए कुफ्फार अरब न दारद
कि आंहा बुतां रा मुतसरिफ्फ दिलजात
गुफ़तन्द न आला ए तसर्रूफ़ इलाही

मूर्तिपूजा उस प्रयोग से समानता रखती है जिसे ज़िक्रे राबता (मिलाने वाला ध्यान) कहते हैं। यह प्रयोग सूफियों का मामूल (अभ्यास) है। इस अर्थ में मूर्तिपूजा का कोई संबंध काफिर अरबों के मत से नहीं है क्योंकि अरब मूर्तियों को स्वयं शक्तिमान मानते थे न कि ईश्वर की शक्ति के साधन।

थाइलैण्ड (सायम) और भारत

इतिहासविद स्व प्रकाश उपाध्याय के अनुसार– भारतीय सभ्यता आर सस्कृति ने एशिया महाद्वीप के कुछ भागो को प्राचीन काल मे एक उच्च सस्कृति प्रदान की और उन स्थानो के आदि निवासियो को मानव जीवन का सच्चा महत्व समझाया। भारतीय सभ्यता का प्रचार लका, बर्मा, मलाया, जावा (यवदीप), सुमात्रा (स्वर्णद्वीप) बाली, बोर्नियो, अन्नम (चम्पा), कम्बोडिया (कम्बुज), सायम (थाइलैण्ड), तिब्बत, कोरिया, जापान, चीन, अफगानिस्तान, मिस्र, यूनान, ईरान, तथा कुछ विद्वानो का मत है कि, मक्सिको म भी हुआ था। पुरानी खोजो से जो कुछ भी शिलालेख, प्रतिमाए, मन्दिरो के खडहर तथा पुस्तके मिली है, उनसे यह बात साफ-साफ मान ली गइ है कि प्राचीन काल मे जहा-जहा विदेशो मे भारतीय उपनिवेश बने, वहा-वहा, भारतीय सभ्यता ओर सस्कृति भी मानवजाति के जीवन का एक अग बन गई। यह माना हुआ विचार है कि प्राचीन भारतीय उपनिवेशो की स्थापना का आधार मध्यकालीन तथा वर्तमान काल का यूरोपीय साम्राज्यवाद न था परन्तु सभ्यता और सस्कृति का प्रचार करना था। भारतीय सस्कृति ने विदेशो की सभ्यता को नष्ट नही किया वरन् उसमे एक नये जीवन का सचार किया। उन्नीसवी शताब्दी मे फ्रासीसी व डच लेखको ने दक्षिण-पूर्वीय द्वीपो के विषय मे जो पुस्तके लिखी है, उनमे यह कही नही लिखा हे कि वृहत्तर भारत के शासक भारतवर्ष के किसी भी सम्राट के आधीन थे, परन्तु इसके ऐतिहासिक प्रमाण है कि दक्षिण भारत के चोल वशीय शासक तथा बगदेश के पाल सेन राजा दक्षिण पूर्व एशियाई देशो के शासको के साथ समानता का व्यवहार करते थे।

विदेशों में जिस भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विस्तार हुआ, उसका मूल तत्व, सत्य और न्याय का प्रचार करना था; जिसकी साकार प्रतिमा अशोक प्रियदर्शी थे। ब्राह्मण पडित तथा बौद्ध भिक्षु विदेशों में गये और वहां पर उन्होंने अपनी जन्म-भूमि

की सभ्यता और संस्कृति का प्रचार किया। आधुनिक खोज से जो कुछ भी प्राचीन काल के अवशेष मिले हैं, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि विदेशों में जहां भी भारतीय ़ाये, वहां भारतीय धर्म, साहित्य, कला-कौशल तथा सामाजिक व्यवस्था ने, वहां के रहनेवालों पर भारतीयता की एक ऐसी स्थायी छाप लगा दी, जो सैकड़ों वर्षों तक कायम रही।

सायम (थाइलैंड) के निवासी

सायम का देश बर्मा के पूर्व में स्थित है। सायम के उत्तर में भी सायम के आदि निवासी 'ताइ' थे जो विद्वानों के अनुसार 'सायमी' 'लाओ' तथा 'शाम' जातियों के पूर्वज थे। चीनी और ताइ जातियों को विद्वान सहवर्गीय मानते हैं। उसका यह कारण है कि प्राचीन चीनी भाषा और ताइ भाषा में समानता पाई जाती है, तथा दोनों जातियों के लोगों की रूपरेखा में भी समानता मिलती है। ताइ जाति का ईसा के कई शताब्दी पूर्व से चीन देश से संबंध था। कोलोफेंग नामक ताइ राजा अपने आपको चीनी सम्राट के अधीन मानते थे; परंतु 750 ई. में हुनान के एक सूबेदार ने ताइ राजा का अपमान किया, इस पर ताइ राजा ने तिब्बत के शासक से संधि कर ली। तिब्बत के राजा ने ताइ राजा को छोटे भाई को उपाधि भी प्रदान की थी। कुछ वर्षों तक सायम कम्बोडिया राज्य का भी अंग रहा। चौदहवीं शताब्दी के मध्य में बड़ी कठिनाई से सायम में एक स्वतंत्र साम्राज्य की स्थापना हो सकी। सायम के इस नये राजवंश के राजाओं का धर्म हीनयान बौद्ध धर्म था और जो वर्तमान काल तक राजा व प्रजा का धर्म चला आ रहा है। सायम में अब भी एक दंत कथा प्रचलित है कि दो हजार वर्ष पूर्व एक चीनी राजकुमार अन्नम और कम्बोडिया होता हुआ सायम आया था। कथा इस प्रकार है कि उस राजकुमार ने कुछ लोगों के कहने में आकर अपने पिता की हत्या करने का विचार किया। षडंयत्र का भेद खुलने पर राजा ने अपने पुत्र व उसके अन्य साथियों को देश से निकाल दिया। यह चीनी राजकुमार अपने साथियों के साथ सायम की खाड़ी में आया और समुद्र तट पर आकर उसने जूडिया नामक नगर की स्थापना की। उस स्थान पर राजकुमार को सात साधु मिले जिनकी शक्ल आपस में एक-दूसरे से मिलती जुलती थी।[2] अनेक विद्वान इस बात को मानते हैं कि सायम में सबसे पहले चीनी सभ्यता व संस्कृति का प्रचार हुआ, तथा ऊपर लिखी दन्त कथा को भी सच मान लिया जाता है क्योंकि

ईसा के कई शताब्दी पूर्व से ही सायम के शासक अपने आपको उसी चीनी राजकुमार के वंशज मानते चले आ रहे थे तथा उन्होने चीनी सम्राट की अधीनता भी स्वीकार कर ली थी।

सायम में भारतीय बस्तियां

सायम में प्राचीन काल मे ही चीनी सभ्यता का प्रचार हो गया था और सायम उस समय कम्बोडिया राज्य का एक प्रात था। सायम मे स्वतंत्र राज्य की स्थापना 1350 ई. के निकट ही हुई थी। सायम मे तमिल भाषा का एक शिलालेख मिला है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि ईसा से पूर्व ही भारतीय व्यापारी तथा मल्लाह सायम मे आने लगे थे और व्यापार ही उनका मुख्य ध्येय था।[3] इस शिलालेख में 'नारनय' (विष्णु) का नाम आया है, तथा 'मनिग्रामम्' नाम भी आया है। 'मनिग्रामम्' व्यापारी संघ का नाम माना जाता है और यह भी माना जाता है कि यह व्यापारी संघ दक्षिण भारत का था। एक विद्वान का कथन है कि सायम में विष्णु मंदिर का निर्माण शायद तमिल वैष्णव योद्धाओं ने कराया होगा, जोकि उच्च कोटि के नाविक भी थे।[4] इस शिलालेख को विद्वान ईसा की नवी शताब्दी का मानते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में सायम में भारतवासियों ने एक उपनिवेश स्थापित कर लिया था। एक दूसरे विद्वान का कथन है कि सायम में भारतीय उपनिवेश सम्राट अशोक के समय में स्थापित हो गया था और उनका यह विचार है कि कलिंग देश के निवासी ही यहां आकर बस गये थे। राईस डेविस नामक लेखक ने बौद्ध धर्म पर जो पुस्तक लिखी है, उसमें लिखा है, कि 'सोन' व 'उत्तर' नामक बौद्ध साधुओं को स्वर्णद्वीप में धर्म प्रचार करने भेजा गया था। डा. रमेशचन्द्र मजुमदार तथा अन्य लेखक पगू से लेकर सम्पूर्ण मलाया द्वीप का नाम स्वर्ण द्वीप मानते हैं। परंतु कुछ विद्वान वर्तमान सुमात्रा को स्वर्णद्वीप मानते हैं। यह तो माना हुआ विचार है कि पगू में सोना होता ही नहीं। मध्य सायम में उधोग नामक नगर है, जिसका अर्थ होता है, 'स्वर्ण का उद्गम' और मध्यकालीन समय में इसी नगर का नाम था, 'सुवन्य-उमि' इस शब्द का भी अर्थ (सुवन्य-स्वर्ण, उमि-भूमि) स्वर्णभूमि का स्वर्ण का उद्गम ही होगा। यह नगर राम तिवोदी नामक राजा की राजधानी था।[5]

वाद विवाद का दूसरा प्रश्न यह है कि सायम में पहले जो भारतवासी गये थे वे ब्राह्मण धर्म के मानने वाले थे या बौद्ध थे? यह बात तो मान ली गई है

कि बौद्ध धर्म के प्रचार से पहले सायम में भारतवासी थे और इसी आधार पर यह भी माना जाता है कि उनका धर्म पुराना ब्राह्मण धर्म ही था। सम्राट कनिष्क के समय में जब बौद्ध धर्म के दो भेद हो गये तब बरमा, सायम तथा कम्बोडिया में हीनयान सम्प्रदाय का ही प्रचार रहा। सायम में उस काल की जो बौद्ध प्रतिमाएं मिली हैं, वह पूरी तरह गाधार मूर्ति कला के आधार पर बनी मालूम होती हैं। हुएनत्सांग, जो सम्राट हर्ष के समय में भारतवर्ष आया था, लिखता है कि कम्बोज में बौद्ध साधुओं की सभा होने के बाद हमने सायम में भी बौद्ध साधु भेजे।[6] जब भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का पतन होने लगा, उस समय सायम में भी इसका प्रभाव पड़ा, और वहां बौद्ध धर्म की महानता कम हो गई तथा उसी समय कम्बोडिया में फिर से ब्राह्मण धर्म की महानता हो गई। यह तो पहले कहा जा चुका है कि सायम उस समय कम्बोडिया राज्य का प्रांत था। कम्बोडिया के शासकों ने, जिनमें जयवर्मन द्वितीय तथा सूर्यवर्मन द्वितीय का नाम उल्लेखनीय है, ब्राह्मण धर्म की प्रभुता को फैलाया। उन्हीं के शासन काल में अगंकोर धाम तथा अगंकोर-वाट नामक नगरों में विशाल शिव मंदिरों की स्थापना की गई। कम्बोडिया के इस ब्राह्मण धर्म का प्रभाव सायम पर भी पडा। यही कारण है कि आठवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक सायम में भी ब्राह्मण धर्म का प्रभाव था।[7]

सायम में भारतवासियों के पहुंचने के लिए जल व स्थल दोनों ही मार्ग थे। स्थल से वे असम व बर्मा होकर हिंद-चीन पहुंचते थे। जल का मार्ग भारतवासियों के लिए आदि काल से खुला ही था। यह ऐतिहासिक सत्य है कि भारतीय नाविक दक्षिण-पूर्वीय द्वीपों से आदि काल से व्यापारिक संबंध रखते थे। जो भारतीय व्यापारी व नाविक सायम गये, उन्होंने 'लिगोर' नामक स्थान में जाकर एक बस्ती बसाई। सायम की प्राचीन दंतकथाओं में 'लिगोर' एक महत्वपूर्ण नगर था और उसका प्राचीन नाम 'श्री धर्मराज नगर' बतलाया जाता है।[8] हिन्द-चीन में भारतवासियों की जो बस्तियां बसीं थीं, प्राचीन पुस्तकों में उन बस्तियों के संस्कृत भाषा के नाम मिलते हैं— (1) 'यवन देश', (2) चम्पा देश' (3) 'कम्बुज देश' (कम्बोडिया) (4) 'सायम देश' (थाइलैंड), (5) 'रमनय देश' (6) 'मलय देश'। यवन देश हिन्द-चीन का उत्तरीय भाग था, जिसकी राजधानी कुषाम नगरी थी। चम्पा देश वर्तमान अन्नम था, जिसकी राजधानी चम्पापुर थी। कम्बुज देश में वर्तमान कम्बोडिया तथा पूर्वीय सायम का कुछ भाग शामिल था। सायम देश वर्तमान सायम के उत्तरी भाग का नाम था और इस

देश का मुख्य नगर 'हरिपुण्यपुर' (वर्तमान लम्फुम) था। पश्चिम मे सायम देश की सीमा वर्तमान मनीपुर के पास तक कही जाती है। रमनय देश में वर्तमान पगू व बर्मा का कुछ भाग शामिल था। मलय देश की भौगोलिक स्थिति वर्तमान स्थिति के ही समान थी।[9] हिन्द-चीन में भारतवासियों ने जो बस्तियां बसाई उनके कुछ नाम तो अब तक मिलते हैं। वर्तमान नाम भी संस्कृत भाषा से बिगड़कर बने है। नगरों के उन नामों के आधार पर माना जाता है कि वहां संस्कृत भाषा का कितना अधिक प्रचार था। कुछ नगरो के नाम ये हैं[10]:

वर्तमान नगर		**प्राचीन संस्कृत नाम**
रातपूरि	=	राजपुरी
अयुथिआ	=	आयोध्या
उत्तरदीध	=	उत्तरतीर्थ

सायम में ब्राह्मण धर्म

विद्वानों का यह सुनिश्चित विचार है कि सायम में पहले ब्राह्मण धर्म ही गया। परंतु यह बात भी सच है कि ब्राह्मण धर्म सायम मे एक शक्तिशाली धर्म न बन सका। उसका मुख्य कारण है कि तेरहवीं शताब्दी के पूर्व तक सायम कम्बोडिया राज्य का एक भाग था। इतिहासकार एकमत होकर यह भी मानते हैं, कि सायम में ब्राह्मण धर्म व बौद्ध धर्म का प्रचार कम्बोडिया से ही हुआ। बंगकोक नामक स्थान पर कुछ प्राचीन शिलाएं मिली हैं, जिन पर मूर्तियां बनी हुई हैं। इन शिलाओं को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे उस काल में बनाई गई हैं। गणेश की भी दो प्रतिमाएं मिली हैं। 1317 ई. के एक शिलालेख पर कुछ शिवलिंग की स्थापना का वर्णन है।[11] गणेश, विष्णु और लक्ष्मी तथा शिव की प्रतिमाएं कांसे की बनी मिली हैं। एक प्रतिमा में विष्णु के चार हाथ दिखलाये गये हैं, जिनमें ऊपर के दोनों हाथों में वे शंख और चक्र लिये हैं। शिव की एक प्रतिमा में भगवान शंकर 'तांडव नृत्य' कर रहे हैं।[12] इन प्रतिमाओं का अध्ययन करने से यह पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें कुछ तो भारतीय-शिल्पकारों की बनाई हुई हैं और दूसरी सायम के कारीगरों द्वारा बनाई मालूम होती हैं। शिव की मूर्ति में, जिसमें वह तांडव नृत्य कर रहे हैं, उंगलियों की बनावट दक्षिण भारत में प्राप्त 'नटराज शिव' की मूर्तियों की

उंगलियों से मिलती हैं। 'विष्णु और लक्ष्मी' की प्रतिमा में वह बनावट और सफाई नहीं मिलती।[13] लोपपुरी में एक प्राचीन मंदिर मिला है, जिसके विषय में एक लेखक का कथन है कि यह मंदिर हिदू-कला के आधार पर बनाया गया था। इस मंदिर की निमार्ण-कला कम्बोडिया के सुदूरपूर्व के मंदिरों के समान है। इस मंदिर में तीन छोटे-छोटे शयनागार हैं जिनके प्रवेश द्वार छोटे हैं और जिनकी छतें साधारण शिलाओं से ढ़की हुई हैं। उस लेखक के मतानुसार ये तीन शयनागार शायद ब्रह्मा, विष्णु और शिव के लिये थे। ये तीनों शयनागार ढके हुये रास्तों से मिला दिये गये हैं।[14] प्राचीन काल में यह मंदिर चाहे जिस अभिप्राय से बनाया गया हो, परंतु आजकल उसमें बुद्ध की प्रतिमाए भी मिलती हैं। यह सच है कि चौदहवीं शताब्दी के मध्य से सायम में राजा व प्रजा का धर्म बौद्ध धर्म ही था, फिर भी यह भी माना जाता है कि एक समय था जबकि सायम में ब्राह्मण· धर्म का भी प्रचार था।[15]

सायम में ब्राह्मणों का अच्छा आदर होता था और राजदरबार में ब्राह्मण पंडितों की गिनती बौद्ध भिक्षुओं के समान ही होती थी। वर्तमान काल में सायम में ब्राह्मणों को 'फ्राम्म' कहते है। सायम में ब्राह्मणों की सख्या आजकल बहुत ही कम है। 'बटवोट-फ्रम' नामक मदिर के निकट उनकी एक बस्ती है। इस स्थान पर ईटों के तीन मंदिर हैं, उनमें एक मदिर में आजकल भी 'त्रिमूर्ति' की एक प्रतिमा विद्यमान है। इस त्रिमूर्ति को सायम के निवासी 'फ्रामहा· रक्षेश्वरविथि' कहते हैं। राज दरबार में ब्राह्मणों का सम्मान किया जाता है। नये राजा के सिंहासनारूढ़ होने के समय वे आदर पाते हैं। सायम में ब्राह्मण अब तक 'होरा' या ज्योतिषि' 'आसार' या आचार्य का काम करते हैं।[16] वर्तमान सायम में प्राचीन भारत की तरह कुछ त्यौहार भी मनाये जाते हैं। सायम का राजा अब भी प्रतिवर्ष बंगकोक में राजमहल के उपवन में 'रेकना' उत्सव मनाता है। इस अवसर पर राजा कुछ दूर तक हल चलाता है। इस प्रथा का आधार हमें बौद्ध धर्म की पुस्तक 'नितांत कथा' में मिलता है, जहां शक राजा सुद्धोधन का वर्ष में एक बार हल चलाना लिखा हुआ है। सायम में भारतवर्ष की तरह बच्चों के मुण्डन की प्रथा अब तक प्रचलित है। बंगकोक के एक मंदिर में रामायण की कथा दीवार पर शिल्प की हुई है। सायम के शिल्पी वर्तमान समय में भी यमराज तथा इंद्र की प्रतिमाएं बनाते हैं। सायम के निवासी बर्मा के समान 'मेरू पर्वत' को ही भू-पटल का मध्य बिंदु मानते हैं।[17]

सायम में बौद्ध धर्म

आजकल सायम में राजा व प्रजा का धर्म बौद्ध धर्म है। बौद्ध धर्म का प्रचार ईसा की पांचवी शताब्दी में हुआ था। सायम में बौद्ध धर्म का प्रचार कम्बोडिया से हुआ था। चौदहवीं शताब्दी से पूर्व सायम में बौद्ध धर्म का आजकल का सा प्रचार न था, क्योंकि तब तक सायम कम्बोडिया राज्य का एक भाग था और कम्बोडिया के राजा कई शताब्दी तक 'शैवधर्म' के कट्टर अनुयायी थे। सन् 1356 ई. में सूर्यवंशी राम नामक राजा ने सायम को कम्बोडिया की अधीनता से मुक्त किया। इस राजा ने सायम मे बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये लंका से महास्वामी संघराज नामक बौद्ध साधु को बुलाया था तथा उसी के शासन-काल में सन् 1358 ईस्वीं में लंका से पवित्र बौद्ध वृक्ष की एक शाख सायम में लगाई गई थी। राजा ने जिस स्थान पर उस पवित्र वृक्ष की डाल लगाई थी, वहां एक विहार का निमार्ण किया था।[18] जावा के बोरीबुदूर मंदिर तथा भारतवर्ष के भारहुत के मंदिर के सिंहद्वार पर जो बौद्ध धर्म की जातक कथाओं का वर्णन है वह सायम में भी प्रसिद्ध विहारों की दीवारों पर अंकित है।[19] सायम में बौद्ध विहार तथा स्तूप अधिक संख्या में मिलते हैं। कुछ वर्ष पहले सायम में बौद्ध बिहारो की सख्या बीस हजार के करीब थी जिनमें लगभग एक लाख बौद्ध साधु रहते थे।[20] सायम के विहारों का वर्णन करता हुआ एक लेखक लिखता है कि "समस्त देश में बडे और छोटे विहारों का एक जाल-सा बिछा हुआ है। सारे विहारों में अनेकों प्रकार की धातुओं की बौद्ध प्रतिमाएं मिलती हैं जिनकी कारीगरी व बनावट अति सुंदर है। विहारों के मध्य में जो मंदिर बने हुये हैं, उनकी छतों में सोना, चांदी व तांबा मढ़ा हुआ है। बौद्ध मंदिरों की प्रतिमाएं अति विशाल हैं। कुछ प्रतिमाओं के नीचें धन-राशि एकत्रित की हुई मानी जाती हैं।"[21] सायम के बौद्ध साधु भारतवर्ष के हीनयान सम्प्रदायवादियों की तरह साधारण केसरिया वस्त्र धारण करते हैं। उनके बाल भी मुड़े रहते हैं। बौद्ध विद्वानों का राजदरबार में बड़ा आदर होता है। बौद्ध साधु सांसारिक वस्तुओं का प्रलोभन नहीं करते, उनको विवाह करने की आज्ञा नहीं होती तथा किसी भी स्त्री से उनका वार्तालाप करना बुरा समझा ज़ाता है। बौद्ध विहारों के व्यय के लिये कुछ सरकारी सहायता प्रत्येक मठ को मिलती है तथा बौद्ध विहारों के भिक्षु प्रातः काल भिक्षा मांगने गृहस्थों के यहां जाते हैं। बौद्ध साधुओं के लिए किसी भी प्रकार की मादक वस्तु का सेवन करना बुरा माना जाता है।[22]

सायम का शासक पूर्णरूप से बौद्ध धर्म का सर्वप्रथम तथा सर्वोच्च अधिकारी होता है। वह अपने धर्म का 'धर्मरक्षक' माना जाता है। राजा मठों के आंतरिक प्रबन्ध में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता। राजा की ओर से बौद्ध विहारों का प्रबन्ध-कर्ता होता है जिसको 'संगकर्ता' कहते हैं। वह राजा की सलाह से समस्त धार्मिक झगड़ों का फैसला करता है।[23]

सायम की वर्तमान शासन प्रणाली में भी भारतीय राज्य शासन का प्रभाव मिलता है। मनु तथा कौटिल्य के बनाये नियमों का प्रभाव साफ मालूम पड़ता है। सायम में उत्तराधिकार का नियम भारतवर्ष के ही समान है। मध्यकालीन समय तक सायम के राजा वृद्धावस्था में, राज्य का भार अपने ज्येष्ठ पुत्र पर छोड़कर शांति से जीवन व्यतीत करते थे। नये राजा के सिंहासनारूढ़ होने पर सबसे पहले ब्राह्मण ही उसका तिलक करता था। भारतवर्ष के समान सायम के राजाओं के नाम के साथ-साथ भी अनेक उपाधियां रहती थीं।[24] सायम के निवासी अपने राजा का सम्मान ईश्वर के समान ही करते है।[25] हिंदू राज्य शास्त्र में भी राजा को ईश्वर का स्वरूप मानते हैं। सायम में भारतवर्ष के समान राजा के पांच राज चिन्ह होते हैं[26] –

(1) सित्त चत्र = श्वेत छत्र
(2) पहतचानी = बजानि (राजसी पंखा)
(3) फ्रंक हान = राजसी खंड
(4) राज मुकुट
(5) राज पादुकाएं।

राजा का छोटा भाई या तो प्रधान मंत्री होता है या सेनापति। राजा के मंत्रिमंडल में अब तक संस्कृत भाषा के नामों की ही प्रधानता मिलती हैं। सायम में निम्नलिखित मन्त्री होते हैं[27] –

1) मोन्त्री = मन्त्री (प्रधान मन्त्री)
2) परोहित = पुरोहित (राज पुरोहित)
3) छत्तोक खहो = छत्रगहो (राज छत्र ले जानेवाला)
4) खत्त' खहो = खण्ड गहो (खण्ड रखनेवाला)
5) चतन्था = चदन्ता (पीलवान)

6) अतसव	=	असा (घोड़ों का मालिक)
7) अमत	=	आमात्य (मन्त्री)
8) श्री राम कोषाधिपति		
9) योमरत्त	=	यमराज (फौजदारी का न्यायाधीश)
10) श्री कैलत्त	=	श्री कैलाश (पुलिस कर्मचारी)

सायम के राजाओं की राजमुद्रा पर गजसिंह राज तथा राक्षस की प्रतिमाएं अंकित रहती हैं। सायम का राजा भारतीय राजशास्त्रों के आधार पर अपनी प्रजा पर शालीनता, शान्ति व सत्य का भाव रखता है।[28] जिस प्रकार मनु महाराज ने अपराधों को अठारह भागों में विभाजित कर दिया है उसी प्रकार सायम के उन्नीस अपराधों की सूची में मनु के भी अपराध सम्मिलित हैं। जिस प्रकार मनु ने दासों को सात श्रेणियों में विभाजित किया है, उसी प्रकार सायम में भी दासों को सात श्रेणियों में विभाजित किया जाता रहा है। भारतवर्ष की ऋण की प्रथा का, कि ब्याज कभी मूल के समान न होना चाहिये, सायम में पालन किया जाता रहा है।

सायम का साहित्य

सायम के साहित्य में 'रामायण' व 'महाभारत' महाकाव्यों को उच्च स्थान मिला हुआ है। यह सच है कि सायम में दोनों ग्रन्थों की कथा में कुछ उलट फेर कर दिया गया है फिर भी यह कहा जा सकता है कि जो भारतीय आदि काल में सायम में जाकर बस गये थे, वे अपने ग्रन्थों को भी साथ लेते गये और नये वातावरण में भी उनकी महानता न भूले। सायम में रामायण की कथा का वर्णन 'राम के उन', नामक पुस्तक में मिलता है। इस पुस्तक में फ्राराम (राम) फ्रलक (लक्षमण) का, दुश्कन्त (रावण) जोकि श्री राम की भार्या नगं सेद (सीता) को चुराकर ले गया था, के साथ युद्ध का वर्णन है। रामायण की कथा के आधार पर एक अन्य पुस्तक और है जिसका नाम 'फनान सन नांग' है। इस पुस्तक में सुग्रीव को वानर राजा बालि की शिक्षाओं का वर्णन है। सायम की दन्त कथाओं के अनुसार फ्लों (बालि) तथा सूक-क्रोथ (सुग्रीव) दोनों भाई श्री राम के नौकर थे। परन्तु जब दोनों भाई लड़ने लगे तब राम ने सुक्रोथ (सुग्रीव) को मार डाला।[30]

महाभारत के आधार पर सायम की भाषा में एक नाटक है, जिसका नाम

'उन्नरत' है। इस पुस्तक में श्री कृष्ण के पौत्र अनिरूद्ध के जीवन का वृतान्त है। नाटक की कथा इस प्रकार है:— इन्द्र, राजा अनिरूद्ध को प्रलोभन देकर मृग के रूप में 'याक' के महल में ले गया। वहां पर अनिरूद्ध याक राजा की कन्या से प्रेम करने लगता है। उसके बाद याक कन्या एक चित्र देकर अपनी दासी को अनिरूद्ध की खोज करने भेजती है। राजा गुप्त रूप से दासी का पीछा करता हुआ राजमहल में आ जाता है, परन्तु वहां पर याक कन्या का भाई उसको पहचान लेता है और नाग फांस में बांध देता है। यह समाचार सुनकर अनिरूद्ध के चाचा गरूड़ को देखकर नाग अनिरूद्ध को बन्धन मुक्त कर देते हैं। अंत में युद्ध होता है जिसमें विजयी होने पर अनिरूद्ध याक कन्या से विवाह कर अपने देश लौट जाता है।[31]

सायम में बौद्ध धर्म की पुस्तकें अधिक संख्या में मिलती हैं। 'प्रथोग' नामक पुस्तक में विश्व रचना का भारतीय विचारधारा के अनुसार वर्णन है। इसी पुस्तक में महाराज़ मनु का भी परिचय मिलता है, यहां मनु का नाम 'थौम मनु' लिखा हुआ है। 'पोखवदी' नामक पुस्तक में 'भवानी' का भी वर्णन मिलता है। 'सोमन खोदोम' नामक पुस्तक में भगवान गौतम बुद्ध का जीवन चरित्र है। 'फ्रफ्रोटिसत' (बोधी सत) में गौतम बुद्ध के पूर्व जन्म का वर्णन है। सायम में पाली भाषा का प्रचार संस्कृत भाषा से अधिक रहा। सायम के एक राजा ने पाली भाषा के 'त्रिपिटकों का सायमी भाषा में भाषान्तर करवाया था। 'जिन काल मालिनी' तथा 'काम देवी वंश' पुस्तकें बौद्ध धर्म के इतिहास के लिए महत्वपूर्ण है। सायम में पाली भाषा में लिखी हुई एक पुस्तक मूर्ति-निमार्ण-कला पर भी मिली है।[32]

भारतीय दन्त कथाओं के आधार पर सायम में भी कई पुस्तकें मिली हैं, जिनमें कथा का सूत्रपात भारतवर्ष ही मालूम पड़ता है। 'प्रंग टोंग' नामक पुस्तक में एक कथा का वर्णन है कि किस प्रकार एक कन्या जन्म के पूर्व ही एक यक (यक्ष) को दान कर दी गई थी, क्योंकि उस कन्या की माता ने उस यक्ष से एक फल ले लिया था। 'नोक खुम' नामक पुस्तक में मनुष्य-मात्र की उत्पत्ति की कथा मिलती है कि किस प्रकार आदि पुरूष का जन्म 'हंस' के अण्डे से हुआ था। सायम में 'नीति' विषयक कई पुस्तकें मिलीं हैं। धर्म शास्त्र तथा मनुस्मृति के आधार पर सायम की न्याय पुस्तकें मिलीं हैं। वैदूयक शास्त्र पर जो पुस्तक मिली है; उसमें और भगवान बुद्ध के वैदूय कुमार भाष के बताये नियमों में अधिक समानता मिलती है। इसी

पुस्तक के आधार पर माना गया है कि जल, वायु, गर्मी नथा मिट्टी के मिलने से ही मानव शरीर का निमार्ण हुआ है।[11]

वर्तमान सायम की भाषा में अब तक संस्कृत तथा पाली भाषाओं की भरमार मिलती है। संस्कृत भाषा के शब्द 'अमरावती' को सायमी भाषा में 'अः मः राः वः दी' लिखा जाता है। 'आदित्यवार' (रविवार) को 'व्न अथित' लिखते है। सायमी भाषा में बेसाख महीने का भी नाम मिलता है। निम्नलिखिन सूची से यह स्पष्ट हो जायेगा कि वर्तमान सायमी भाषा में भारतीय भाषाओं का कितना समावेश है[14]–

संस्कृत व पाली		**सायमी भाषा**
अप्सरा	=	अवसोन
आकाश	=	अकाट, अकाटस
अहिंसा	=	अमित
प्रयोजन	=	अनप्रः योल
अगार	=	अगरवर
अंकुश	=	अकुस
आगम	=	अरम
अवतार	=	अः वः तान
पाताल	=	बदन, बदल
पुष्प	=	वुत्स
जल	=	चल, चले
हरि	=	ह. रि
हस्त	=	हट

सायम के राजाओ के नामों मे भी भारत का प्रभाव मिलता है।[15] जैसे–

श्री इन्द्रादित्य	=	श्री इन्तः रतः इत्य
रामाधिपति	=	राम तिवोदि
राम राजा	=	बोरोम राज
नारायण	=	नराय

सायम के नगरों के नाम भी भारतवर्ष के नगरों के नामों के समान ही मिलते हैं[16]–

अयोध्या	=	अयुतिअ
इन्द्रपुरी	=	इन्तबुरी
कंदन्पुर	=	चदवुन
विष्णुलोक	=	पित सबुलोक
स्वर्ग लोक	=	स्वंक लोक

सायम का समाज

सायम के समाज में वर्तमान काल में भी अनेकों ऐसी प्रथाएं मिलती हैं, जोकि इस बात की जीती जागती प्रमाण हैं कि आदिकाल में सायम भारतवासियों का एक उपनिवेश था और सायम की सभ्यता तथा संस्कृत पर भारतवर्ष का प्रभाव था। सायम में नवजात शिशु के पैदा होते ही उसके दाहिने बाजू में एक पवित्र तावीज बांध दिया जाता है। नवजात शिशु की जन्मकुण्डली उसी समय बनाई जाती है। कुछ बडे होने पर बालक का मुण्डन बड़े समारोह के साथ किया जाता है। इस प्रथा को सायम में 'सुता-कन्तन-मंगल' कहते हैं। मुंडन की यह प्रथा पूर्णरूप से ब्राह्मण धर्म की है। परंतु सायम मे बौद्ध धर्म के अनुयायी भी इस प्रथा का पालन करते हैं। वालक का मुंडन, उसके वश का कोई वृद्ध पुरूष ही करता है। जब किसी राजपुत्र का मुंडन होता है तब बंगकाक में एक महान उत्सव मनाया जाता है। उस उत्सव के अवसर पर ब्राह्मणों का मुख्य हाथ रहता है। राजपुत्र अपने पिता तथा अन्य वंशजों के साथ मंदिर में जाता है; वहां ब्राह्मण उसके बालों को तीन भागों में विभाजित करते हैं। बालों को इस प्रकार तीन भागों में अलग करने का अभिप्राय 'त्रिमूर्ति' (ब्रह्मा, विष्णु व महादेव) से होता है। उस अवसर पर शंख बजाये जाते हैं। उसके बाद राजपुत्र अपने पिता के साथ एक बनावटी पर्वत पर जाता है, (भगवान शंकर ने भी गणेश का मुंडन कैलाश पर्वत पर ही किया था)। मुंडन के बाद राजपुत्र को ब्राह्मण एक स्वच्छ रूई का राज मुकुट पहनाते हैं।[37]

सायम में विवाह की आयु भी नियमित है। पन्द्रह वर्ष की लड़की तथा सत्रह साल का लड़का ही विवाह के योग्य माना जाता है। सायम में बाल-विवाह की प्रथा नहीं है। सायम में एक मनुष्य कई स्त्रियों से विवाह कर सकता था।[38]

सायम में जब बालक पांच या छः वर्ष का हो जाता है तब उसे विद्या पढ़ने

के लिये बौद्ध विहारों में भेज दिया जाता है। जब तक बालक पूरी तरह अपनी विद्या समाप्त न कर ले उसको घर आने की आज्ञा नहीं मिलती। यह प्रथा भारतवर्ष के गुरूकुलों में विद्या अध्ययन के ही समान है, जहां पर रहकर बालक पच्चीस वर्ष के बाद ही घर आ सकता था। सायम में स्त्री-शिक्षा का अब भी अभाव है परंतु कन्याओं को ग्रहस्थी का पूरा ज्ञान सिखाने का भार उनकी माताओं के ऊपर होता है।[39]

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. W.A.R. Wood, 'A History of Siam, p.31.
2. Journal of the Siam Society, Vol. VII (1910), Part-I, pp.6-7.
3. Col. Gerini: 'South Indian Islands', Vol.III, p.91.
4. J.R A.S. 1913, pp.337-339.
5. W.A.R. Wood, 'History of Siam', p.42.
6. W.A R.Wood; History of Siam', pp.43-45.
7. Ibid, pp 46-47.
8. Le Siam Ancien-L. Fournerean, Vol.I, p.49.
9. Ibid, pp 50-52.
10 Indian Colony in Siam. p.26
11. Ibid, p.98.
12. Le Siam Ancient; Vol.I, plates XXIV, XXVIII, XXIX, XLIX, XXVII.
13. Indian Colony in Siam, pp.99-100.
14. Journal of Siam Society, V (1908) III. pp.20-21.
15. Indian Colony in Siam, pp.108.
16. Ibid, p.109.
17. Ibid, p.110.
18. Ibid, pp.46-48.
19. Ibid, pp.49.
20. Ibid, p.100.

21. सोमनाथ के मंदिर में शिवलिंग के भीतर महमूद को अथाह धनराशि मिली थी।
22. Journal of Siam Society, Part I (1910), pp 76-77.
23. Saunders-Epochs in Buddhist History, p.115.
24. Asiatic Researches, 1836, p.249.
25. Journal of Siam Society, 1910, Part-I, p.17, 18.
26. Indian Colony in Siam, p.114
27. Asiatic Researches, 1836, pp.120-121.
28. Indian Colony in Siam, p.118.
29. Journal of Siam society, VI, I, (1909) p 26.
30. Indian Colony in Siam, pp.124-125.
31. Ibid, pp.124-125.
32. Ibid, pp.125-132.
33. Ibid, pp 133-134.
34. Ibic, pp 136-140.
35. S.A.R Wood : History of Siam, p 183
36. Ibid, p.285.
37. Ibid, pp 121-122.
38. Journal of the Siam Society VII, I, pp 85-86.
39. Indian Colony in Siam, pp 123.

अन्नम और भारतीय संस्कृति

यह सभी विद्वानो ने स्वीकार किया है कि एशिया के कई देशों में प्राचीन काल मे भारतीय मल्लाहो ने अपने उपनिवेश बनाये और वहां के निवासियों को भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति से परिचय कराया। इस देशों में अन्नम को भी शामिल किया जाता है। अन्नम का प्राचीन नाम 'चम्पा' था। अन्नम भारतवर्ष के सुदूर पूर्व में है। सम्पूर्ण भारत में फैलाव के बाद, आर्यो ने देश के बाहर भी अपने उपनिवेश बनाये। आर्यो की सभ्यता और संस्कृति भारतीय सीमा में बंधी न रह सकी। यह तो सब मानते हैं कि आदि काल में भी आर्यो को भूमंडल की भौगोलिक स्थिति का पूरा ज्ञान था। रामायण मे द्वीपो का मतलब वर्तमान जावा व सुमात्रा मे था। 'महावंश' महाकाव्य में भी लंका की विजय का वर्णन है तथा 'मिलिन्दपन्ह' नामक पुस्तक मे लिखा है कि एक नाविक महासागरो को पार करके बंग, टकोला, चीन सौवीर, सूरत, सिकन्दरिया, कोरोमंडल तथा सुदूर भाग्न मे जा सकता है।[1] सिकन्दरिया के प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य ने भूमंडल का जो पहला नक्शा बनाया था, उसमें यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि प्राचीन काल में गोपालपुर (गंजाम के मुहाने के पास) से नाविक बंगाल की खाडी को पार करके सुदूर पूर्व में जाया करते थे। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि कलिंग देश से सुदूर पूर्व के लिये आदि काल मे जल मार्ग था और व्यापारी नाविक व्यापार करते थे[2]। 'सुसोदी जातक' मे भी वर्णन है कि भडोच से और पूर्वीय द्वीपो से प्राचीन काल मे व्यापार होता था।[3] बंगाल के विजय नामक राजकुमार ने लंका मे उपनिवेश बनाया था।[4] सम्राट अशोक के एक वंशज ने मलाया द्वीप मे दन्तपुर मे जाकर उपनिवेश बनाया।[5] ब्रह्म देश मे वर्तमान समय मे भी यह कथा प्रसिद्ध है कि कृष्णा और गोदावरी नदियो के निकट रहनेवाले निवासियो ने इरावदी के डेल्टा पर जाकर एक भारतीय उपनिवेश बनाया था।[6]

भारतवर्ष का पूर्वीय देशो से जो स्थल मार्ग से संबंध था, उसके विषय मे

सर आर्थर फायरे का कथन है कि गंगा के मैदान तथा ब्रह्मदेश में आपसी व्यापार आसाम और मणिपुर के मार्गों से भी होता था। पैलिअट तथा जेरेमी भी इस कथन को मानते हैं। पैलिअट का तो कथन है कि स्थल मार्ग से भारत और सुदूर पूर्व का आदि काल से ही संबंध था। सुदूर पूर्व के जितने भी द्वीप हैं, भारतवासियों ने किस प्रकार अपने उपनिवेश बनाये, इसका प्रत्येक द्वीप के इतिहास की कथाओं में वर्णन है। उन द्वीपों के निवासियों के आचार-विचार, भाषा तथा साहित्य में भारतीयता का जो प्रभाव है तथा उन द्वीपों मे जो मंदिर मिले हैं, उनमें शिव, विष्णु, ब्रह्मा, गणेश, उमा की भी जो प्रतिमाएं मिली हैं, वे सब इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि आदि काल में भारतवासियों ने उन द्वीपों में जाकर अपने उपनिवेश बनाये तथा वहां के आदि निवासियों को एक नई सभ्यता प्रदान की। सुदूरपूर्व के द्वीपों में तथा एशिया के अन्य भागों में जो भारतीय सभ्यता और संस्कृति गई उसका ध्येय उन स्थानों की प्राचीन सभ्यता को नष्ट करना न था, वरन् भारतीय सभ्यता ने उन द्वीपों की सभ्यता में एक नई ज्योति और जीवन का संचार किया।

अन्नम के आदि निवासी

अन्नम में भारतवासियों के उपनिवेश बनाने के पहले वहां किस जाति के लोग बसते थे, उनकी सभ्यता क्या थी तथा उनकी जाति का उद्गम कहां से हुआ, इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान इस बात को मानते हैं कि 'अन्नम में 'चम' तथा 'किरात' जाति के लोग रहते थे। चम किरातों से अधिक सभ्य थे? चीनी इतिहासकारों ने अन्नम के आदि निवासियों की सभ्यता तथा उनके रहन-सहन का वर्णन किया है। 'चम' जाति के लोगों के विषय में लिखते हुये एक चीनी लेखक का कथन है कि वे काले रंग के, गहरी आंखों तथा घने बालों वाले लोग थे। उनके वस्त्रों में सिर्फ एक लुंगी होती थी जोकि कमर से पैर तक लटकती रहती थी। इसके अतिरिक्त वे लोग कोई अन्य वस्त्र धारण नहीं करते थे। साधारण जन नंगे पैर ही रहते थे, परन्तु धनी आदमी चमड़े के जूते भी उपयोग में लाते थे। स्त्री व पुरुष दोनों अपने बालों को संवारते थे और कानों में बालियां तथा अन्य प्रकार के गहने पहनते थे। पांचवीं शताब्दी के अंत में एक चीनी यात्री ने एक और पुस्तक लिखी थी। उसमें वह अन्नम देश के एक भाग के निवासियों का वर्णन करता हुआ लिखता है कि वे लोग नंगे पैर फिरते हैं, कानों में बड़ी बालियां पहनते हैं, लड़के और लड़कियां

नंगे ही घूमते हैं और वे उसे शर्म की बात नहीं समझते। गर्मी के मौसम मे वे शरीर को ढकते नहीं परंतु धूप में घूमते रहते हैं। इसलिये उनका रंग काला पड़ जाता है। काला रंग वहां के निवासी अच्छा समझते हैं।[10] उसी चीनी विद्वान लेखक के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि अन्नम की 'चम' जाति में कुछ चीनी जाति का भी प्रभाव था, क्योंकि वह लेखक लिखता है कि ईसा की तीसरी शताब्दी पूर्व में जो चीनी देश से निकाल दिये गये थे वे जाकर जनजाति में जा मिले थे। वे उस समय तक अपनी प्राचीन चीनी सभ्यता तथा रहन सहन को भूल गये थे।[11] सिखम्स नामक लेखक का कथन है कि हिंद चीन तथा सायम में ईसा से कई शताब्दी पूर्व जो लोग गये थे, उनका आदि देश भारतवर्ष ही था। उसका कहना है कि मध्य भारत और छोटा नागपुर में जो मुडा जाति पाई जाती है, उसी नस्ल के लोग असम और मनीपुर के मार्ग से हिंद चीन तथा समस्त दक्षिण पूर्वी एशिया के द्वीपों में जाकर बस गये थे। इस लेखक के अतिरिक्त अन्य विद्वान भी इस मत का समर्थन करते है।[12]

अन्नम के हिंदू शासक

चम्पा (अन्नम) के प्राचीन इतिहास का अभी पूरा-पूरा ज्ञान नहीं है। अन्नम में अब भी कुछ दन्त कथायें प्रसिद्ध हैं, जिनसे यहां के रहने वाले अपने पहले राजा का परिचय बताते हैं। उनमें एक कथा रामायण के आधार पर है। कथा इस प्रकार है कि आदिकाल में अन्नम की सीमा के बाहर दिएन-गहिंएम नामक एक राज्य था। उस राज्य के राजा का नाम दशानन था। उस राज्य के उत्तर में होत्तो-तिंह नामक राज्य था जिसके राजा का नाम दशरथ था। राजा दशरथ के पुत्र चुंगतु की पत्नी अति सुन्दर थी। राजा दशानन उस रानी की सुन्दरता पर मोहित हो गया और दिएन गहिंएम राज्य को युद्ध में परास्त कर रानी को ले आया। चुंगतु नामक राजकुमार ने बदरों की एक सेना एकत्रित की जिसने पत्थरों से समुद्र पर एक पुल बनाया। अन्त में दशानन को परास्त कर अपनी पत्नी को वापस लाया। कथा के अंत में लिखा है कि चम जाति 'होत्तो-तिंह' देश के निवासियों की ही वंशज है।[13] ईसा की दूसरी शताब्दी का एक शिलालेख 'वोचन्ह' में मिला है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि उस समय चम्पा में श्रीमार नामक राजा के वंशज राज्य करते थे।[14] चम्पा के राजा इंद्र वर्मन द्वितीय का एक लेख 797 सम्वत शक का मिला है, जिसमें

लिखा है कि भगवान शंकर ने उरूज को पृथ्वी पर भेजा और कहा कि शम्भु भद्रेश्वर के चरण रज पर जाकर राज्य कर।[15] यो नगर में जो शिलालेख मिले हैं, उनमें विचित्र सागर नामक राजा का उल्लेख आया है जिसने द्वापर के 5911 वर्ष में राज्य किया था।[16] वर्तमान विद्वान उरूज तथा विचित्र सागर को ऐतिहासिक विभूतियां नही मानते? मासपेरौ तथा अन्य लेखक श्रीमार को ही चम्पा का प्रथम हिंदू शासक मानते हैं।[17] इनिहासकार स्पष्ट रूप से तो नही, परंतु अपनी सुगमता के हेतु यह मानते हे कि ईसा की छठी शताब्दी नक श्रीमार के अतिरिक्त फन वेन (336–349ई.), भद्रवर्मन, (380-413 ई.), गंगराज (413-415 ई.), देववर्मन (508-520 ई.) तथा विजयवर्मन (520-529 ई.) मुख्य हिंदू राजा हुये हैं।[18]

विजयवर्मन के बाद रूद्रवर्मन चम्पा का राजा हुआ। उसी के शासन काल मे महादेव के प्रसिद्ध मदिर 'भद्रेश्वर स्वामी' को किसी ने जला दिया था। विजयवर्मन का शासन काल वर्तमान विद्वान 520-529 ई. मानते हैं। रूद्रवर्मन के पुत्र शम्भुवर्मन ने भद्रेश्वर स्वामी के मदिर का पुनः निर्माण कराया और मंदिर की प्रतिमा का नाम 'शम्भु-भद्रेश्वर' कर दिया।[19] उसी के शासन काल में दो बार चीन को राजदूत भेजे गये थे। चीनी राज्य की हीनता देख कर उसने वार्षिक कर भेजना बंद कर दिया था, परंतु 605 ई. में चीनी सेनापति लिएऊ फंग ने चम्पा पर चढ़ाई कर दी और शम्भुवर्मन को पराजित किया। युद्ध में शम्भुवर्मन की गजसेना चीनी धनुष धारियों के सामने न ठहर सकी। लिएऊ फग चम्पा की राजधानी से अनेक बहुमूल्य पदार्थ तथा कुछ संगीत के पंडितों को साथ लेकर चीन लौट गया। शम्भुवर्मन के बाद 629 ई. में कन्दर्पधर्म राजा हुआ। वह शान्तिप्रिय शासक था। इसके बाद राज्य में उथल-पुथल रही और अंत में 650 इ. में विक्रातवर्मन द्वितीय राजा हुआ, उसने चीन से मित्रता का भाव रखा। अंत में गंगराज के वंश का भी अंत हो गया। रूद्रवर्मन द्वितीय के 757 ई. में मरने के बाद चम्पा का राज दूसरे राज्य वंश के हाथ में आ गया।

चम्पा के नये वंश के शासक कउघर से, जो कि दक्षिणी चम्पा का एक भाग है, आये थे। उसी वंश के सत्यवर्मन राजा के शासन में जावा के शासक ने चम्पा पर चढ़ाई की और 'मुखलिंग' महादेव के मंदिर को नष्ट कर, असंख्य धनराशि के साथ लौट गया। सत्यवर्मन ने उसी स्थान में फिर मंदिर का निमार्ण कराया और शिव-मुख-लिग मूर्ति की स्थापना की। 784 ई. में इन्द्रवर्मन जोकि राजा का भाई

था गद्दी पर आया। इन्द्रवर्मन के समय में 787 ई. में जावा वालों ने चम्पा पर फिर चढ़ाई की और भद्राधिपलीश्वर के मंदिर को नष्ट कर दिया। 793 ई. में इन्द्रवर्मन ने चीनी सम्राट को भेंट भेजी और मित्रता का भाव रखा। इन्द्रवर्मन के बाद उसकी वहन का पति 'राजाधिराज श्री चम्पा-पुरा परमेश्वर' हरिवर्मन राजा हुआ। हरिवर्मन के पांडुरंग (वर्तमान फनरंग) के सूबेदार ने कम्बुज (कम्बोडिया) पर चढ़ाई की। 820 ई. में विक्रांतवर्मन तृतीय राजा हुआ। इस वंश को पांडुरंग ने चलाया था, इसीलिये इसको पाडुरंग वंश कहते हैं और विक्रांतवर्मन की 860 ई. में मृत्यु के बाद इस वंश का शासन भी समाप्त हो गया।

विक्रांतवर्मन के बाद 'भ्रगुवश', के लोग चम्पा के शासक बने। भृगुवश वाल अपने आपको महादेव का वशज बताते थे, क्योंकि चम्पा की कथाओं के अनुसार भगवान शंकर ने ही भृगु को चम्पा पर राज्य करने भजा था।[20] श्री जय इन्द्रवर्मन महाराजाधिराज इस वंश का पहला प्रतापी राजा हुआ। इन्द्रवर्मन ने एक बोद्ध मठ बनवाया था। परंतु वह शेव धर्म का ही अनुयायी था। इस वंश का अतिम राजा भी इन्द्रवर्मन तृतीय हुआ और उसके शासन काल में कम्बुज (कम्बोडिया) के राजा ने चम्पा पर चढ़ाई की तथा अनेक मदिरो की प्रतिमाएं और धनराशि लूट कर ले गया। इन्द्रवर्मन की मृत्यु 972 ई. में हुई।

जय परमेश्वरवर्मनदेव ईश्वरमूर्ति नामक राजा ने 980 ई. में नये राज्य वश की स्थापना की। पांडुरंग नामक प्रांत पर अन्नम के कई हमले पहले भी हुये और परमेश्वरवर्मन देव ने उस प्रांत मे शांति स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसे सफलता मिली। युवराज सेनापति ने जोकि चपा के शासक का ही एक संबंधी था, कम्बुज पर चढ़ाई की और शम्भुपुर को जीत लिया। परमेश्वर वर्मनदेव ने चीन और अन्नम के शासकों से मित्रता रखी और उन देशों में अपने दूत भी भेजे। अन्नम के राजा ने रुद्रवर्मन चतुर्थ के समय में चपा पर चढ़ाई की और राजा को वंदी बना लिया। चंपा के राजा को अपने राज्य के उत्तरी तीन ज़िले देने के बाद स्वतंत्रता मिली। रुद्रवर्मन चतुर्थ ने 1061-1069 ई. तक राज्य किया।

ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य के प्रारंभ में हरिवर्मन राजा हुआ। हरिवर्मन के पिता का नाम पालेश्वर धर्मराज था जोकि 'नारियल वर्ण' (coconut clan) का सरदार था। उसकी मां 'पां केफल' के वंश की थी। इस प्रकार हरिवर्मन चंपा के दो

विरोधी वंशों में हो था। रुद्रवर्मन के समय से अन्नम का आक्रमण चला आ रहा था, उससे देश में अशांति रही और हरिवर्मन को अपनी प्रभुता बचाने के लिये विरोधी दलों से कई बार युद्ध करने पड़े। दुर्भाग्यवश उसी समय अन्नम के शासक ने 1075 ई. में चढ़ाई चंपा पर कर दी। और उसी समय कम्बुज के राजा ने चंपा के सीमांत प्रांतों पर लूटमार भी प्रारंभ कर दी। हरिवर्मन ने इन सब आपत्तियों का सामना किया। माइसन के शिलालेख से यह स्पष्ट है कि हरिवर्मन ने अपने बाहर के विरोधियों से बारह बार युद्ध किया और उन्हें परास्त किया। 1081 ई. में हरिवर्मन ने राज्यपद त्याग दिया और उसका ज्येष्ठ पुत्र श्री राजेन्द्र राजा हुआ। वह एक ही महीने बाद मर गया और भारतीय प्रथा के अनुसार उसकी चौदह रानियां उसकी लाश के साथ सती हो गई। उसी समय चीन में मंगोल सम्राट को हराकर मिंग वंश का राजकुमार शासक बना। चंपा के राजा ने उससे मित्रता कर ली। अन्नम के राजा ने 1377 ई. में चंपा पर आक्रमण किया परंतु ची-बोंग-नगा ने उसको युद्ध में मार डाला। ची-बोंग-नगा ने 1384 ई. में अन्नम पर स्थल मार्ग से आक्रमण किया और वह बहुत सी धनराशि लूटकर चंपापुर वापस आ गया। ची-बोंग-नगा 1390 ई. में अन्नम के युद्ध में मारा गया और उसका सेनापति श्री जयसिंह वर्मनदेव पंचम के नाम से राजा हुआ। वह बसु वंश का संस्थापक था। अन्नम के राजा ने भद्रवर्मन देव के समय में चंपा पर आक्रमण किया और इन्द्रपुर के प्रांत को अपने राज्य में मिला लिया। भद्रवर्मन देव को चीनी सम्राट ने सहायता भेजी परंतु वह देर से आई। भद्रवर्मन 1441 ई. में मर गया और उसका भतीजा महा विजय राजा हुआ। चंपा और अन्नम का झगड़ा चलता रहा। अंत में च-कोट-पोड-ली जो सन् 1505-1543 ई. में चंपा का राजा था, युद्ध में हारा और चंपा की स्वतंत्रता हमेशा के लिए समाप्त हो गई। चंपा में भारतवासियों ने भी उपनिवेश बनाया, उनके वंशजों का राज सोलहवीं शताब्दी तक रहा। यह सच है कि चंपा में भारतवासियों ने 1500 वर्ष तक राज्य किया और उसके बाद वे इतिहास के पृष्ठों से उठ गये, परंतु उनकी सभ्यता अभी तक जीवित है।[21]

अन्नम में ब्राह्मण धर्म

एशिया के दूसरे हिस्सों में जहां-जहां भारतवासी जाकर बसे वहां-वहां उन्होंने अपने आदि देश के धर्म को भी फैलाया। जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो, कम्बोडिया,

सायम तथा चंपा में भारतीय धर्मों की महानता रही। चंपा में शैवधर्म का ही बोलबाला रहा। चंपा में जो 132 शिला लेख मिले हैं, उनमें 92 में शिव का ही वर्णन मिलता है। तीन शिलालेखों में विष्णु का नाम मिला है और पांच में ब्रह्मा का वर्णन मिलता है। भगवान बुद्ध का नाम सिर्फ सात शिला लेखों में ही पाया गया है।[22]

चंपा के शिला लेखों में तथा अन्य मंदिरों में भगवान शिव के अनेकानेक नाम मिले हैं, जिनमें से मुख्य ये हैं—महेश्वर, महादेव, अमरेश, ईश्वर, देवता, ईशान देव, शम्भु, उग्र, रुद्र, पशुपति, वामेश्वर, योगीश्वर, तथा इन्द्रलोकेश्वर।[23] चंपा में शिवलिंग के भी अनेक नाम मिले हैं, उनमें से मुख्य ये हैं—देवलिंगेश्वर, महालिंगदेव, महाशिवलिंगेश्वर, तथा धर्म लिंगेश्वर।[24] चंपा में भगवान शंकर को त्रिमूर्ति मे प्रधान माना गया है। भद्रवर्मन तृतीय के समय के एक शिला लेख में महाभारत के अनुशासन पर्व में वर्णित शिव की प्रभुता को शिला पर उतारा गया है। उस शिला लेख मे भगवान शंकर की प्रभुता का वर्णन है। श्लोक में शंकर को अन्य देवताओ से उच्च माना गया है:[25]

देवेन्द्रः किल पूर्वतोस्थित तदा याम्यां सरोजोद्भव
श्चन्द्रार्कविद पृष्ठतश्च भगवान् नारायणो वामनः।
मध्यस्थो ज्वलिताभर हिसहित श्चोंकार पूर्वैस्वधा
स्वाहात्रन्तोर्निजमन्त्रकैर्स्तुतनतो यो असो तदादैः सुरैः।।

चंपा में जितने भी शिला लेख मिले है, उन सबमें भगवान शंकर के अलग-अलग स्थानों मे पृथक-पृथक नाम मिलते है। चंपा के शिला लेखों में भगवान शंकर का कामदेव को भस्म करना, हिमालय की पुत्री से विवाह तथा गंगा को अपनी जटाओ में स्थान देने का पूरा वर्णन है। लिंग पुराण तथा वायु पुराण में भगवान शंकर के विषय में भद्रवर्मन तृतीय के समय के एक शिलालेख में एक कथा मिली है। कथा इस प्रकार है कि एक समय ब्रह्मा और विष्णु में वादविवाद हुआ कि भूमंडल मे सर्वश्रेष्ठ कौन है। उसी समय उनके सम्मुख एक शिव लिंग उपस्थित हुआ। दोनों ने उसके अंत को खोजने का प्रयत्न किया। ब्रह्मा ने हंस का रूप धारण किया और आकाश की ओर उड़कर लिंग के शिखर का पता लगाना चाहा और भगवान विष्णु एक जंगली सूअर (वाराह) का रूप धारण कर पृथ्वी के अंत तक जाकर लिंग के मूल की खोज करते रहे। हजारों वर्ष चलने के बाद भी उन्हें लिंग का ओर-छोर

न मिला। उसके बाद भगवान शंकर पुनः उत्पन्न हुये और फिर उन दोनों ने शंकर की महानता को मान लिया। शिलालेख में श्लोक इस प्रकार है—[46]

लिंगावसान मतिगाढ़तभन्त्वधस्ताद्
वराहरूप वहता हरिणापि नैत्र।
वीर्येग गाधपि युत्तम योगवेत्रा
शिकृन्न यस्य यदनिष्टवर प्रसादात।।6।।
लिंगाव सानमन भिज्ञातयो परिष्टाद्
मानोन्जितेन सरसीरुहयो निनादः।
स्वध्यानवीर्यरु चिरेण तथापि वेत्तुं
शक्तं न यस्य यद निष्टवर प्रसादात्।।7।।
यो विज्ञाय मुरारिपद्यवरजावज्ञान दोषेम्दति
प्रालेयग्लपिता ननाम्बुजं निभो प्रोवाच वाणीमिमा।
"हे गोविन्दसरोजजौ किमपरं सादध्वा मुपाभयां मनाग,
यदभू लाग्रवुभुत्सया मम नतिः कृत्या मुदा नान्यथा"।8।।

चंपा में शंकर को प्राणि-मात्र का जन्म दाता माना गया है तथा उन्हीं से भूः, भुवः तथा स्वः शब्दों का सूत्रपात हुआ था। भगवान शंकर का निवास-स्थान कैलाश और उनका क्रीड़ा-क्षेत्र मानसरोवर झील ही माना जाता है। योग, जप और ओंकार के द्वारा शिव समस्त भू-मंडल को शांति प्रदान करने हैं।

अन्नम में शिवलिंग और शिवमूर्ति दोनों की ही उपासना होती थी। भारतवर्ष के समान अन्नम में भी शिवलिंग ही अधिक मिलते हैं। शिव-लिंग अधिकतर 'स्नान द्रोनी' में ही मिले हैं। कहीं कहीं पर शिव-लिंग योनि के साथ भी मिलते हैं। अन्नम में कई जगह लिंग मिले हैं, जिनमें लिंग के शिखर या मध्य में मुख भी बना हुआ है। एम. मिनाट नामक लेखक का कथन है कि लिंग पर जो मुख अंकित है वह उस राजा का है जिसने कि उस लिंग की स्थापना की थी, परंतु एम. ऐमानियर तथा डा. रमेशचन्द्र मजुमदार का कथन है कि शिव-लिंग पर जो मुख बना मिला है, वह शिव जी का ही है क्योंकि पुराणों में एक कथा है कि एक बार भगवान शंकर ने लिंग से प्रकट होकर दर्शन दिये थे। अन्नम में शिव की जो मूर्तियां मिली हैं, वे कई प्रकार की हैं। अधिकतर शिव की मूर्तियां मिली हैं, उनमें वे मनुष्य रूप में खड़े

मिले हैं। उनके बाल गुंथे मिले हैं तथा नाग उनके शरीर का श्रगार किये हुये हैं। माइसन में जो शिव मूर्ति मिली है, वह साधारण है और उसमे श्रगार कम है।[27] ध्यानमग्न बैठे हुये शिव की मूर्तियां कम संख्या में मिलती हैं।[28] यन मम स्थान पर जो बैठे हुये शिव की मूर्ति मिली है, उसमें वे एक हाथ में त्रिशूल तथा दूसरे में अंकुश लिये हुये हैं। उस मूर्ति में शंकर का तीसरा नेत्र भी मिला है तथा वे जनेऊ भी धारण किये हुये हैं।[29] द्रन लाइ नामक स्थान पर जो शिव-मूर्ति मिली है, उसमें वे नंदी पर बैठे मिले हैं।[30] टाइ-पनुम नामक स्थान पर भी शिव मूर्ति मिली है, उसमें शंकर देवमदिर के द्वारपाल वनाये गये हैं। उसमें शंकर की मुद्रा अनि क्रोधिन मिलती है। उस मूर्ति में शंकर भयानक प्रतीत होते हैं।[31]

अन्नम में शकर का जो सबसे पुराना लिंग मिला है, वह अन्नम के राजा भद्रवर्मन के समय का है, जिसकी स्थापना ईसा की चौथी शताब्दी में हुई थी। अन्नम के निवासी प्राचीन शिव-लिंगो को राष्ट्रीय सम्पत्ति मानते हैं और उनकी रखवाली भी अच्छी तरह करते हैं। भद्रवर्मन ने इस शिवलिंग को माइसन में भद्रेश्वर स्वामी के नाम से स्थापित कराया था। अन्नम के राजा अपने इस शिवलिंग की बहुत मान्यता करते थे।[32]

अन्नम में भगवान शकर की 'शक्ति' की भी उपासना होती थी। अन्नम में 'शक्ति' को 'उमा', गौरी', 'भगवती', 'देवी', 'मात्रलिंगेश्वरी' तथा 'भूमीश्वरी' भी कहा जाता है।[33] पी नगर के मदिर में एक शिलालेख पर 'शक्ति' की निम्नलिखित स्तुति मिली है–[34]

भूता भूतेशभूता भुवि भवविभवोभ्द विभावात्मभावा
भावाभावास्वभावा भव भवकभवाभावभावैक भावा।
भावाभावाग्रशस्तिः शशिकुटतनोरर्धकाया सुकाया
काये कायेशकाया भगवति ममतो नो जयेव स्वसिद्धया।

पी नगर में जो 'भगवती' की मूर्ति मिली है वह काले पत्थर की है। मूर्ति के दस हाथ बड़े-बड़े लटकते हुये हैं। दो हाथ घुटनों पर खुले हुये बने हैं, अन्य आठों हाथों में कई प्रकार के हथियार हैं।[35] अन्नम में भगवती 'अर्धनारी' रूप मे भी हैं। इस मूर्ति में शंकर भगवती दोनों ही हैं परंतु 'तांत्रिक' विचार के आधार पर स्त्री रूप को अधिक महत्व दिया गया है।[36] शैव धर्म के अन्य देवताओं का

भी वर्णन अन्नम के शिलालेखों तथा मूर्तियों में मिलता है। स्वामी कार्तिक तथा गणेश की भी पूजा अन्नम में होती थी। माइसन की एक मूर्ति में गणेश, जिनको अन्नम निवासी 'विनायक' भी कहते थे, खड़े मिले हैं और उनके चार हाथ दिखलाये गए हैं। कार्तिक अन्नम में अधिक प्रसिद्ध थे। उनका नाम 'कुमार' भी मिलता है।

अन्नम में वैष्णव धर्म

अन्नम में भगवान विष्णु की भी पूजा होती थी और कई शिलालेखों में उनके कई नाम मिले हैं, जैसे 'पुरुषोत्तम', 'नारायण', 'हरि', 'गोविंद', 'माधव', तथा 'विक्रम'। मुंग मुंग के शिलालेख में भगवान विष्णु की स्तुति में लिखा है :

"इदं भगवतः पुरुषोत्तमस्य विष्णोरनादि निधन स्याशेष भुवनगुरोः पूजास्थान श्री प्रकाशधर्म्यणा कारितम्"। और यह भी खुदा हुआ है कि विष्णु का यह मंदिर श्री प्रकाशधर्म की आज्ञा से निर्माण किया गया।[37] विष्णु के समुद्र मंथन की कथा का वर्णन माइसन के स्तम्भ के शिला लेख में मिला है।[38] भारतवर्ष के समान अन्नम में भी राम और कृष्ण की गोवर्धन लीला का वर्णन तथा केसी और प्रलम्भ नामक राक्षसों को मारने की कथा का भी वर्णन मिलता है। अन्नम में कामदेव को कृष्ण और रोहिणी का ही पुत्र माना गया था। अन्नम के राजा अपने आप को विष्णु का अवतार मानते थे। विष्णु के वाहन 'गरुड़' का भी परिचय अन्नम में मिलता है। अन्नम में एक विष्णु मूर्ति मिली है, जिसमें वे गरुड़ पर सवार हैं।[39] भगवान विष्णु को नागराज वासुकी की शैया पर विश्राम करते हुये दिखाया गया है।[40]

विष्णु की शक्ति लक्ष्मी को, जिसे अन्नम निवासी 'पद्मा' और 'श्री' के नाम से पुकारते थे, पूजा होती थी। सुखी गृहस्थ नारी की उपमा लक्ष्मी से दी जाती थी। अन्नम के निवासी लक्ष्मी को हिमालय की पुत्री मानते थे।[41] अन्नम में लक्ष्मी की तीन अच्छी मूर्तियां मिली हैं।[42] भगवान विष्णु के वाहन 'गरुड़' का भी वर्णन मिलता है। गरुड़ को पक्षियों का राजा माना गया है। उसकी जो मूर्तिया मिली हैं उनमे से कई में उसके सिर पर एक मुकुट भी मिला है।[43]

ब्रह्मा, जो कि विश्वकर्मा थे उनका भी वर्णन अन्नम के अनेक शिलालेखों में मिला है। ब्रह्मा को 'चतुराननन' भी कहा जाता था। ब्रह्मा को 'स्वयं उत्पन्न' कहा गया है और इस 'स्वयं उत्पत्ति' का वर्म्मन पांच शिलालेखों में मिलता है।[44] ब्रह्मा

की चार मुखवाली मूर्तियां मिली हैं तथा उनके वाहन 'हंस' का भी वर्णन मिलता है। ब्रह्मा के सुमेरु पर्वत के निर्माण का वर्णन माइसन के शिलालेख में मिलता है—[45]

मर वाहनवर्य श्रीरकरोत्तां शिलामयोम्।
रम्यरौप्यवहिर्बद्धां ब्रह्मा मेरुशिलामिव।।

अन्नम में भारतीय ब्राह्मण धर्म के समस्त महत्वपूर्ण देवताओं की मान्यता थी। नवीं शताब्दी के पोनगर के एक शिला लेख में देवताओं की महत्ता को माना गया है। निम्नलिखित श्लोक में इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, वासुकी, शंकर, सूर्य, चन्द्र, वरुण, अग्नि तथा अभ्यद (बुद्ध) सब आ जाते हैं—[46]

क्वचिदपि वलभिज्जो ब्रह्मजो विष्णुजश्च
क्वचिदपि भुजगेन्द्रश्शंकरश्च क्वचिद्वा।
क्वचिद् भिरविचन्द्रो पाम्पतिर्वाहिरूप
क्वचिदभयद विम्बस्सत्व मोक्षाद्, बभूव।।

अन्नम में यमराज का भी भयानक रूप माना जाता था। यमराज साम्राज्य में शांति रखता था। कई शिला लेखों में उसे धर्म या 'धर्मराज' भी लिखा हुआ मिला है। माइसन के एक शिला लेख में चन्द्र और उसके विरोधी राहु का भी नाम मिलता है।[47]

अन्नम में सूर्य, कुबेर, सरस्वती तथा वनान्तरेश्व नामक देवताओं का नाम शिला लेखों में मिलता है। अप्सराओं तथा राक्षसो की भी प्रतिमाएं अन्नम में मिलती हैं। नागी की भी कई प्रतिमायें भारतवर्ष के समान ही मिलती हैं, जिनमें ऊपर का भाग स्त्री का, तथा शेष भाग नागी का था।[48] ध्यान, योग और समाधि की क्रियाओं का ज्ञान भी अन्नम निवासियों को था। अन्नम के राजा भी वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करके भारतवर्ष में गंगा तट पर आते थे। भारतीय 'कर्म' का जो विचार शास्त्रों में हैं, उसको भी अन्नम निवासी जानते थे और अन्नम निवासियों को भारतीय युगों का भी ज्ञान था।

अन्नम में बौद्ध धर्म

अन्नम (चंपा) में बौद्ध धर्म का भी प्रचार हुआ। खोज से जो प्राचीन शिलालेख

मिले हैं, उनमें से आठ में स्पष्ट रूप से बुद्ध का नाम आता है। अन्नम में बुद्ध के अनेक नाम मिले हैं, जिनमें हैं लोकनाथ, जिन लोकेश्वर, सुगत, धामेश्वर, शाक्यमुनि, वज्रपाणि तथा सधर्म। अंतिम नाम सधर्म का असली अभिप्राय बौद्ध धर्म से होता है, परंतु अन्नम निवासी उस शब्द का प्रयोग बुद्ध के लिये भी करते थे। अन्नम वासियों का विश्वास है कि गोतम बुद्ध, उन अनेकों बुद्धों में से हैं जोकि उनसे पहले भूमंडल पर अवतार ले चुके हैं।[49] दसवीं शताब्दी के एक शिलालेख में जोकि अन्नथाई में मिला है भगवान बुद्ध की महानता को माना गया है। अन्नम में महात्मा बुद्ध के बताये हुये कर्म और जीवन के आवागमन के विषय को अधिक महत्व दिया गया है। अन्नम निवासी मानते हैं कि मनुष्य के बुरे काम उसको 'मार' से नहीं बचा सकते। सिर्फ भगवान बुद्ध ही मनुष्य का 'मार' से उद्धार कर सकते हैं। यह विचार अन्नथाई के एक शिला लेख से प्रकट होता है।[50] बौद्ध धर्म ने 'निर्वाण' को सबसे उच्च माना है। कहा है कि वह सबसे उत्तम मोक्ष है और उसकी कोई समानता नहीं है।[51] अन्नम के निवासियों का विश्वास था कि अच्छे कर्म करने के बाद मनुष्य स्वर्ग को जाता है, जहां कि बुद्ध पुनः निवास करते हैं।[51]

अन्नम मे बौद्ध प्रतिमायें भी मिली हैं। वहां के हिंदू राजाओं ने भी भगवान बुद्ध की प्रतिमाओं की स्थापना की थी।[52] नवी शताब्दी के डीग डुओग के शिलालेख से मालूम हुआ कि श्री जय ईन्द्रवर्मन ने (जिसका नाम लक्ष्मीन्द्र ग्रामस्वामी भी था) एक बुद्ध प्रतिमा की स्थापना की थी और भविष्य मे वह प्रतिमा 'लक्ष्मीन्द्र-लोकेश्वर' के नाम मे प्रसिद्ध हुई।[53] अनथाई के एक दूसरे शिलालेख मे लिखा हुआ है कि अन्नम के शासक भद्रवर्मन और इन्द्रवर्मन ने नागपुष्प नामक साधु के कहने पर बुद्ध प्रतिमाएं मंदिरों में स्थापित कीं और उन मंदिरो के व्यय के लिये सरकारी आय का भी प्रबंध कर दिया था।[54] अन्नम के एक राजकुमार ने अपनी दादी की याद में 'अवलोकितेश्वर' का एक मठ बनवाया था। ई-त्सिग नामक चीनी लेखक के अनुसार अन्नम में 'आर्यसम्मति-निकाय' बौद्ध संप्रदाय के लोग ही अधिक थे। परंतु अन्नम में जो शिला लेख मिले हैं, उनसे यह बात स्पष्ट रूप से मालूम होती है कि अन्नम में महायान बौद्ध संप्रदाय का अधिक प्रचार था।

अन्नम में अनेकों बौद्ध मूर्तियां मिली हैं और डोंग-डुआंग नामक स्थान पर अधिक संख्या में बौद्ध प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। वज्र धातु की एक सुंदर प्रतिमा भी

उसी स्थान की खुदाई में मिली है। त्रंग तिन नामक स्थान पर बुद्ध की एक प्रतिमा मिली है जिसमें वे नाग के फन पर आसन बांधे बैठे हुये हैं। एक अन्य स्थान पर बुद्ध की प्रतिमा मिली है जिसमें उनकी रक्षा नागराज अपने फन से करना पाया गया है।[55] यह आश्चर्य की बात है कि अन्नम (चंपा) में बौद्ध मठ ठीक अवस्था में नहीं मिले हैं, परंतु चीनी भाषा की पुस्तकों के वर्णन में तो अन्नम में कई प्रसिद्ध बौद्ध मठों का पता लगता है। मालूम होता है कि भारतवर्ष के समान शैवधर्म और बौद्ध धर्म के अनुयाइयों में अधिक काल तक 'पंथ-संघर्ष' चलता रहा और यही कारण है कि वर्तमान अन्नम की खुदाई में बौद्ध मठ कम ही मिलते हैं।

अन्नम की शिल्पकला

भारतवर्ष के समान अन्नम, की भवन-निर्माण कला तथा शिल्पकला का एकमात्र साधन हिंदू मंदिर और बौद्ध मठ ही थे। यह सच है कि अन्नम की भवन-निर्माण कला कम्बोडिया (कम्बुज) तथा जावा (यवद्वीप) के समान उन्नत न थी, फिर भी जो कुछ प्राचीन खोज से मिला है, वह इस बात का प्रमाण है कि अन्नम की भवन निर्माण-कला तथा मूर्ति-निर्माण कला पर भारत की छाप थी। अन्नम में जो मंदिर मिले हैं वे अधिकतर ईंटों के ही हैं। भारतवर्ष में बंगाल में जो भी प्राचीन मंदिर मिले हैं, उनमें ईंटों का ही प्रयोग अधिक मात्रा में किया गया है। अन्नम में खोज करने से मंदिर अधिक संख्या में माईसन डोंग ओंग तथा पी नगर ही में मिले हैं। अन्नम में जो मंदिर मिले हैं, उनके सिंहद्वार अधिकतर पूर्व की ओर ही होते हैं। मंदिरों के शिखर पिरामिड की सी बनावट के हैं।

अन्नम के कई मंदिरों क शिखर द्रविड़ देश के मामल्लपुर तथा कांचीवरम के मंदिरों के समान हैं, जिनमें एक के ऊपर एक मंदिर की छतें होती हैं और सबसे ऊपर की छत सबसे छोटी होती है।[56] अन्नम के कुछ मंदिरों की छतें धनुषाकार मिली हैं। परमेण्टियर तथा अन्य लेखकों का कथन है कि उस प्रकार की छतें उत्तरी भारत के मंदिरों में मिलती हैं।[57] भगवान बुद्ध की जो प्रतिमाएं मिली हैं, उनमें गांधार कला का अधिक प्रभाव मिलता है तथा शंकर, ब्रह्मा, तथा विष्णु की भी मूर्तियां मिलती है, उनका आधार बंगाल तथा दक्षिण भारत की मूर्ति-कला ही था। यह सच है कि अन्नम के शिल्पकारों ने भारतीय कला का पूरा अनुकरण नहीं किया परंतु यह माना जाता है कि अन्नम की शिल्पकला और मूर्तिकला पर भारतवर्ष की कला का

अधिक प्रभाव था। अंत में यह भी कहा जा सकता है कि दक्षिण भारतीय भवन निर्माण कला को अधिक प्रधानता अन्नम में मिली है।

अन्नम का शासन-प्रबंध

अन्नम में हमेशा राजतंत्र की ही प्रथा रही जिसमें राजा साम्राज्य का सर्व प्रधान होता था। अन्नम राज्य के तीन मुख्य भाग थे—उत्तरी भाग 'अमरावती' कहलाता था और चंपापुर और इन्द्रपुर उस भाग के मुख्य नगर थे और प्राचीन इन्द्रपुर को ही वर्तमान समय में डोंग-डुओंग कहते हैं। राज्य के मध्य भाग का नाम विजय था और श्री विजय उस भाग का मुख्य बंदरगाह था। देश के दक्षिण भाग को पांडुरंग कहते थे और वीरपुर या राजपुर वहाँ का मुख्य नगर था। अन्नम का राजा जय इन्द्रवर्मन पांचवां शासन करने में महाराज मनु के बताये अठारह शासन-शास्त्रों के आधार को मानता था।[58] इन्द्रवर्मन नारद और माण्डवीय के धर्म-शास्त्रों का पूरा ज्ञाता था।[59] अन्नम के राजा की सेना में हाथी अधिक थे। एक राजा की सेना में तो 14,000 पालतू हाथी बताये गये हैं।[60] राज्य की सेना 'महासेनापति' और सेनापतियों के ही अधिकार में होती थी।

अन्नम निवासी राजा को ईश्वर का अवतार मानते थे। मनुस्मृति के आधार पर राजा चन्द्र, इन्द्र, अग्नि, यमराज और कुबेर को मिलाकर बनाया हुआ पुरुष माना जाता था। पो नगर के विक्रान्तवर्मन द्वितीय के एक शिलालेख में मिला है कि ब्राह्मण भी राजा के चरणों की पूजा करते थे।[61] अन्नम का राजा राज्य करने में साम, दाम, दंड और भेद का पालन करता था। राजा हमेशा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर से अलग रहता था।[62] अन्नम के शासक 64 कलाओं के ज्ञाता माने जाते थे। अन्नम के राजा के राजमहल में रानियों के अतिरिक्त नर्तकियां और वादियां भी होती थीं। मार्को पोलो, जोकि 1285 ई. में अन्नम गया था, लिखता है कि "उस समय के राजा के लड़के और लड़कियां मिलाकर 326 संतानें थीं जिनमें से कम से कम 150 हथियार संभालने योग्य थीं।"[63]

अन्नम का समाज

अन्नम के समाज में चार ही वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) थे। ब्राह्मण और क्षत्रियों में आपस में विवाह होते थे। भारतवर्ष में भी यह प्रथा बहुत काल

तक चली थी। अलबेरुनी इसका प्रमाण है। समाज में ब्राह्मणों का अच्छा आदर था। ब्रह्म-हत्या बहुत बुरी बात समझी जाती थी। विवाह के समय वंश और गोत्र का विचार किया जाता था। स्त्री और पुरुष को विवाह-सूत्र में बांधना एक धार्मिक क्रिया थी और विवाह कर्म कराना ब्राह्मणों का ही काम था। अन्नम में सती-प्रथा भी थी। अन्नम में वर्ष चैत्र महीने से ही प्रारंभ होता था और अमावस्या को महीना समाप्त होता था। मृतक को जलाने की प्रथा अन्नम में भी थी।

अन्नम में संस्कृत भाषा का प्रचार था। जितने भी शिलालेख मिले हैं, उनमें संस्कृत भाषा की ही प्रधानता है। परंतु उनमें कहीं कहीं प्राचीन अन्नम की भाषा भी मिली हुई है। समाज के उच्च वर्ग के लोग संस्कृत भाषा पढ़ते थे। राजा भद्रवर्मन को चारों वेदों का ज्ञान था। इन्द्रवर्मन तृतीय को भारतीय दर्शन-शास्त्र का पर्याप्त ज्ञान था। राजा जय इन्द्रवर्मन देव सप्तम को पाणिनि के व्याकरण, ज्योतिषशास्त्र और महायान बौद्ध धर्म-शास्त्रों का अच्छा ज्ञान था। रामायण और महाभारत का प्रचार भी अन्नम में था। श्रीराम, श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर तथा दुर्योधन का नाम शिलालेखों में मिला है। मानव धर्मशास्त्र का ज्ञान अन्नम निवासियों को था। पुराणों की कथाओं का भी वर्णन अन्नम के शिला लेखों में मिलता है।[64]

संदर्भ ग्रंथ

1. R.C. Majumdar, Champa, Chap. IV-V.
2. Gerini Researches on Ptolemy's Geography, p.743.
3. Jataka III, page 187.
4. Asutosh Mukerji's Silver Jubilee Volume VIII, p.113 J.A.S.B. 1922, p.435.
5. Gerini, pp.107-108.
   Cunningham's Geography, Sd. S.N. Majumdar, p.735.
6. Phayre, History of Burma, p.24.
7. Ibid, p.15.
8. Bulletin de li Ecole Francaise Extreme Orient (1904) p.142.
9. Toung Poo, 1910, p.174.
   Champa, p.12.
10. B.E.F. Vol. IV, No.9, p.15.

11 Ibid, p 13.
12 Oxford Pamphlets on Indian Affairs, No 22 p 10-11
13 Champa, p 12-13
14 Champa (Inscriptions), pp 2-3
15 Ibid, p 76
16 Ibid pp 76, 177
17 B E F Vol XVIII, No 3, pp 24-25
18 Champa, pp 33-34
19 Ibid, pp 56-57
20 Ibid, pp 56-57
21 Ibid, pp 56-149
22 Ibid p 170
23 Ibid, pp 171-172
24 Ibid, p 172
25 Ibid (Inscription) p 126
26 Ibid (Inscription, No 39) pp 112-113
27 Parm I C Vol I Fig 78 page 362-Fig 79, page 363
28 Ibid, Vol II, Figs 108-109, pp 404-405
29 Ibid, Fig 77, p 309
30 Ibid, Fig 105 p 401
31 Champa, p 179
32 Ibid (Inscriptions) No 17, p 35
33 Ibid (Inscriptions Nos 4,26 p 39,50,97)
34 Ibid (Inscriptions No 55) p 152
35 Parm I C, Vol II, page 412, B E F Vol I, Page 15 Fig 1
36 Ibid Fig 79, p 413-14
37 Champa (Inscription No II) p 15
38 Ibid (Inscription No 95) p 211
39 Parm I C Vol II Fig 124, p 412
40 Ibid Fig 125, p 423
41 Champa (Inscription No 21) p 40

42 Farm I C Vol II pp 421-422

43 Ibid, p 262

44 Champa (Inscriptions Nos 89,91,92,96,106), pp 208 217

45 Ibid (Inscription No 21) p 40

46 Ibid (Inscription No 31) p 79

47 Ibid (Inscription No 74) p 184

48 Champa, p 203

49 Champa (Inscription No 38) p 78

50 Ibid (Inscription No 37) p 103

51 Ibid (Inscription No 31) p 81

52 Ibid (Inscription No 31 C-8, p 81

53 Champa, p 209

54 Ibid, p 210

55 Ibid, p 211-212

56 Fergusson, History of Indian and Eastern Architecture Vol I Chapt III and VII

57 Champa, p 273

58 Champa (Inscription No 54) p 171

59 Ibid (Inscription No 81) p 199

60 Marco Polo Edited by Yule, Vol II, p 352

61 Champa (Inscription No 30) p 72

62 Ibid, p 171

63 Marco Polo, Edited By Yule, Vol II, pp 249-250

64 Champa, pp 231-234

सुमात्रा और भारत

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान स्खिम्त (Schmidt) के अनुसार हिंद चीन (इंडोचायना) तथा हिंद एशिया (इडोनेशिया) के आदि निवासी उसी जाति के हैं, जोकि पूर्वकाल में मध्य भारत तथा असम के जंगलों में मिलती थी। उस विद्वान के मतानुसार हिंद एशिया के आदि निवासियों का भी आदि निवास-स्थान भारतवर्ष ही था और यहीं से वे पूर्व तथा दक्षिण पूर्व एशिया में जाकर बस गये थे। डा. मजूमदार का कहना है कि जब भारतवर्ष में आर्य और द्रविड़ जातियों का प्रभाव बढ़ा तब आदि निवासियों को अपने रहने के लिये दूसरी जगह की खोज करनी पड़ी। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान सिलवन लेवी को भी दक्षिण-पूर्वीय द्वीपों में पुरानी भारतीय सभ्यता के चिन्ह पाये हैं। भारतीय विद्वान दासगुप्त ने हाल में सुमात्रा के कुछ खेलों का पता लगाया है, जिनकी समानता के खेल मध्य प्रदेश, पंजाब, बंगाल तथा उड़ीसा में खेले जाते थे। कुछ काल पूर्व सुमात्रा में शिव लिंग के आकार की कुछ शिलायें मिलीं हैं जो कि बहुत पुरानी मालूम होती हैं, परंतु मोहन जोदड़ो की खुदाई ने यह बात स्थापित कर दी है कि ईसा से हज़ारों वर्ष पूर्व भी भारत में शैव-धर्म की प्रतिष्ठा थी और यह माना जाता है कि प्राचीन काल में भी भारत से ही यह प्रथा सुमात्रा में पहुंची होगी।

सुमात्रा में श्री विजय राजकुल

सुमात्रा में प्रवासी भारतीयों ने वहां अपना राज्य भी क़ायम कर लिया था। उस राज्य का नाम चीन तथा दक्षिण भारत के चोल वंशीय राजाओं की पुस्तकों में 'श्री विजय' राज्य या 'शैलेन्द्र वंशीय' राज्य लिखा मिलता है। जे.ए. फेरां नामक विद्वान ने एक चीनी भाषा के बौद्ध सूत्र के आधार पर सबसे पहले यह बात कही थी कि ईसा की चौथी शताब्दी में सुमात्रा में 'श्रीविजय' राज्य था। चीनी यात्री ईत्सिंग ने अपनी पुस्तक 'तकाकुसु' में लिखा है कि मलाया देश भी श्रीविजय राज्य के अधीन था। सातवीं शताब्दी में सुमात्रा के राज्य ने अधिक उन्नति की और आठवीं

शताब्दी में तो 15 अधीन राज्य सुमात्रा के राज्य शासन मे थे। नवीं शताब्दी में बगाल के राजा पालदेव का एक ताम्रपत्र नालंदा में मिला हे ; ताम्रपत्र में सुमात्रा (सुवर्ण दीप के महाराजा बलपुत्र देव ने बंगाल के पाल वंशीय राजा देवपाल से पांच नगर मांगे थे, क्योंकि बलपुत्र देव ने नालंदा में एक बौद्ध मठ बनवाया था और उस मठ के खर्चे के लिये ये नगर बिहार में राजगृह के निकट मागे गये थे।) दशवीं शताब्दी के चोल राज्य के एक बौद्ध शिलालेख से मालूम हुआ है कि चोल वशीय राजराजा (985-1012 ई.) के शासन काल में श्री विजय के राजा ने नागापत्तन नामक स्थान मे बौद्ध मंदिर बनवाने के लिये आज्ञा मांगी थी। चोल वंश के राजेन्द्र चोल प्रथम (1012-1042 ई.) का एक शिलालेख मिला है, जिससे मालूम पड़ता हे कि चोल राजा ने श्रीविजय राज्य को युद्ध में परास्त किया था परंतु यह विजय स्थायी न रही क्योंकि 1068 इ. मे राजेन्द्र प्रथम ने श्री विजय राज्य के एक अधीन राजा को परास्त किया और फिर, कर लेकर उसी को वापस कर दिया। अरब सोदागर सुलेमान (851 ई.) तथा अबू ज़ैद हसन (916 ई.) ने अपनी पुस्तकों में इन द्वीपों का वर्णन किया हे और उसी वर्णन मे सुमात्रा के श्रीविजय राज्य का भी वर्णन आता है।

इतिहासकार यह मानते हैं कि ईसा की सातवीं, आठवीं, नवीं, तथा दसवीं शताब्दियों में सुमात्रा का श्रीविजय राज्य अधिक शक्तिशाली था। सातवीं शताब्दी के अतिम दिनो में सुमात्रा के राजा का राजदूत चीनी सम्राट के दरबार में था। चीनी सम्राट की ओर से अन्य देशो के राजदूतों की तरह सुमात्रा के राजदूत को भी वर्ष के पांच महीनों के लिये व्यय दिया जाता था। 702 ई. तथा 716 ई. में भी सुमात्रा का राजदूत चीनी सम्राट के यहां गया था। सुमात्रा के राजा श्रीइन्द्रवर्मन (चीनी पुस्तकों में उसका नाम (Che-es-to-lopa-mo लिखा है) ने 724 ई. में चीनी सम्राट के लिये अपने राजूदत के हाथ भेंट भेजी थी। भेंट में कुछ बौने, एक संगीत मंडली तथा पांच रंग का एक तोता था। चीनी सम्राट ने सुमात्रा के राजदूत को उपाधि से भी विभूषित किया।[1] चंपा, वर्तमान अन्नम को सुमात्रा के राजाओं ने जीत लिया था। सुलेमान सौदागर ने इसका वर्णन पूरी तरह दिया है। चंपा के राजा को परास्त करने के बाद चंपा का राज्य सुमात्रा के 'महाराजा' ने वहीं के एक राजपुत्र को दे दिया। उसी जीत का वर्णन करता हुआ अरब सौदागर सुलेमान लिखता है कि सुमात्रा के महाराज के इस काम से "जावज (सुमात्रा) के पुराने शिलालेखों तथा चीन की

पुस्तकों से यह बात स्पष्ट रूप से मान ली जाती है कि ईसा की आठवीं शताब्दी में सुमात्रा का शैलेन्द्र राज्य उन्नति की चरम सीमा पर पहुंच गया था। परंतु नवीं शताब्दी के मध्य में ही कम्बोडिया (कम्बुज) के राजा जयवर्मन द्वितीय (222-839) ने शैलेन्द्रवंश से अपने राज्य को स्वतंत्र कर लिया। जावा में भी शैलेन्द्रवंश का राज्य समाप्त हो गया था।

चोल राजाओं का सुमात्रा पर आक्रमण

ऊपर बताया गया है कि चोल राजा ने सुमात्रा के शैलेन्द्र वंशीय राजाओं के राज्य पर आक्रमण किया था और उन्हें परास्त किया था। दसवीं शताब्दी के अंत तथा ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ में राजराजा चोल महान (985-1014) तथा उसके पुत्र राजेन्द्र चोल (1014-1044) के शासन काल में चोल राज्य का विस्तार फैला और उत्तर में वंग देश तक आ गया था। चोल राज्य के पास एक सुसज्जित नौसेना भी थी और दक्षिण-पूर्व द्वीप समूहों से उस राज्य का आदि काल से व्यापारिक संबंध चला आ रहा था। राजेन्द्र चोल ने जिन कारणों से सुमात्रा के राजा पर आक्रमण किया, उनका वर्णन कहीं नहीं मिलता। शैलेन्द्र वंशीय राज्य पर चोल राजा की लड़ाई का पूरा ब्यौरा बगलोर जिले के मलूर के मंदिर के शिला लेख तथा तंजौर के शिला लेखों में मिलता है। तंजौर के शिला लेख से मालूम पड़ता है कि राजेन्द्र ने शैलेन्द्रवंशीय राजा के 'विद्याधर-तोरन' तथा श्रीविजय नामक नगर के रत्नद्वार को अपने अधिकार में ले लिया था।

सुमात्रा के शैलेन्द्र वंशीय राज्य के बारे में देशी व विदेशी विद्वानों में मतभेद है। परंतु यह मानना ही पड़ेगा कि कलिंग देश से गये हुये लोगों ने ही सुमात्रा में शैलेन्द्र राज्य की स्थापना की क्योंकि कुछ पुस्तकों तथा शिलालेखों में शैलेन्द्र राज्य को कलिंग लिखा गया है। हालांकि यह प्रश्न अब भी विवादग्रस्त है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार नीलकंठ शास्त्री का कहना है कि पांडय देश ही जावा तथा सुमात्रा के शासकों का आदि देश था।[3] शैलेन्द्र वंश के पतन के बाद मलायू वंश का राज्य आया। इस वंश में आदित्यवर्मन प्रसिद्ध शासक हुआ था। परंतु शैलेन्द्रवंश के पतन के बाद सुमात्रा का साम्राज्य आठ छोटे छोटे राज्यों में बंट गया था। इन राज्यों का वर्णन मार्को पोलो ने किया है। उसका कहना है कि इस द्वीप के लोग मंगोल सम्राट कुबलई खां को अपना सम्राट मानते थे। उसी समय धीरे-धीरे सुमात्रा में इसलाम

धर्म का प्रचार भी शुरू हुआ और तेरहवीं शताब्दी के मध्य मे सुमात्रा से हिंदू राज्य का अंत हो गया।

सुमात्रा में बौद्ध धर्म

नालंदा में देवपाल के समय का जो ताम्रपत्र मिला है उससे तथा चोल वंश के इतिहास से यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो गया है कि सुमात्रा के शैलेन्द्र शासक महायान बौद्ध संप्रदाय के अनुयायी थे। जावा के शिला लेखो से यह बात सिद्ध होती है कि काश्मीर के एक युवराज ने वहां जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार किया परंतु सुमात्रा में बौद्ध धर्म के प्रचार के संबंध में बहुत कम सामग्री मिलती है, फिर भी विद्वानों का मत है कि सुमात्रा में बौद्ध धर्म का प्रचार जावा के बाद ही हुआ। तेरहवीं शताब्दी में तिब्बत मे कल्याण मित्र ने 'फियाग-सोर्वे' नामक ग्रंथ लिखा था। इसमें लिखा है कि दिपांकर (अतिषा) (980-1053 ई.) नामक बौद्ध साधु स्वर्णद्वीप गया था और उसने वहां के तांत्रिक धर्म को नष्ट कर बौद्ध धर्म का प्रचार किया। शरतचन्द्र दास ने अपनी 'तिब्बत में भारतीय पडित' नामक पुस्तक में लिखा है कि दिपाकर स्वर्णद्वीप में बारह वर्ष रहा और वहां के महा बौद्ध पंडित धर्मकीर्ति से बौद्ध धर्म की पुस्तकों का अध्ययन किया। सुवर्ण द्वीप से लौटते समय वह ताम्रद्वीप (लंका) होता हुआ आया था।

जिस समय शैलेन्द्र वंश का राज्य जावा में था, उस समय के मध्य जावा मे कलसन नामक स्थान पर एक शिला लेख मिला है, जिससे मालूम होता है कि शैलेन्द्र वंश के एक शासक ने अपने गुरु की आज्ञा से तारा (महायान देवता) की स्मृति में एक विशाल देवालय बनवाया था। शिला लेख के बहुत से अक्षर साफ नहीं हैं।

तारा के इस मंदिर के विषय में भी बहुत मतभेद है। डच विद्वान डाक्टर स्टूटरहीम का कथन है कि शैलेन्द्र शासक का जब बंगाल के राजा धर्मपाल की पुत्री तारा से विवाह कर दिया गया, तभी से जावा तथा सुमात्रा में महायान बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। इस विद्वान का मत है कि धर्मपाल, शैलेन्द्र शासक का गुरु तथा ससुर भी था। परंतु अन्य विद्वानों का मत है कि 684 ई. में भी सुमात्रा मे 'वज्रयान' का नाम विख्यात था। फिर भी सब विद्वान मानते हैं कि जावा तथा सुमात्रा में महायान तथा तांत्रायन संप्रदाय का प्रचार बंगाल से ही हुआ। बोरोबोदुर का संसार विख्यात

बौद्ध स्तूप शैलेन्द्र वंशीय शासकों ने ही बनवाया था। यह पूरी चट्टान को काटकर बनाया गया है। इस स्तूप की कला 'ललित-विस्तर' के आधार पर बनाई गई है। इसमें महायान संप्रदाय के महत्वपूर्ण विषयों को सुचारू रूप से अंकित किया गया है।

सुमात्रा में तांत्रिक धर्म

शैलेन्द्र वंश के बाद मलायू वंश का राज्य सुमात्रा में आया। आदित्यवर्मन (महाराजाधिराज आदित्यवर्मन प्रतापपराक्रम राजेन्द्र मौलिमनीवमदिव) बड़ा प्रतापी राजा हुआ था। उसने 1347-1375 ई. तक राज्य किया। आदित्यवर्मन के शिला लेखो से मालूम पड़ता है कि वह तात्रिक बौद्ध धर्म का अनुयायी था। आदित्यवर्मन के चार प्रसिद्ध शिला लेख मिले हैं। मंजुश्री की मूर्ति के पीछे जो शिलालेख है, उससे पता चलता है, कि आदित्यवर्मन का तांत्रिक बौद्ध धर्म कट्टरपंथी न था। भैरव पंथ के एक साधु ने ही मजुश्री की मूर्ति की पूजा का प्रचार किया था। दूसरे शिला लेख जिसमें मतागि नीसा तथा तारा की मूर्तियां हैं, वे शैव तथा बौद्ध वातावरण से भरी हुई प्रतीत होती हैं। तीसरे शिला लेख में राजपुत्र के नामाभिषेक का वर्णन है। कुवूर राज के शिला लेख में आदित्यवर्मन के अंतिम संस्कार का वर्णन है। बौद्ध धर्म के अनुसार इस शिला लेख मे उसका नाम "लोकेश्वर" लिखा हुआ है। सुमात्रा के इस तांत्रिक धर्म मे बौद्ध धर्म तथा शैव धर्म दोनों का मेल है। सुमात्रा के तात्रिक धर्म में जो क्रियायें हैं वे अवश्य ही बंगाल से गई होंगी।[5]

सुमात्रा में संस्कृत भाषा

पासिर पंजग के शिला लेख की पहली तीन पंक्तियां नागरी अक्षरों में लिखी मिलती हैं। (1) महायानिक तथा (2) गौतम श्रीपदाः तो अत्यंत स्पष्ट हैं। गुनुंग तुआ के शिलालेख में संस्कृत भाषा की ही प्रधानता है, क्योंकि कुछ जगह मलय भाषा का भी प्रयोग किया गया है। यह शिलालेख टूटा फूटा है फिर भी उसमें संस्कृत भाषा स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

'स्वस्ति, शकवर्षातीत 946 चैत्रमास, तिथि त्रितीय शुक्ल, शुक्रवार, तत्काल जुरु पांडे, सुर्य्य वर्वत्, भटार लोकनाथ' शब्दों में कुछ अशुद्धि भी है। और इटैलिक शब्द

तो मलाया भाषा के हैं।

कुवूर राज के शिला लेख में भी संस्कृत शब्दों का ही प्रयोग अधिक संख्या में किया गया हे परंतु कुछ तो अत्यंत ही अशुद्ध हैं। फिर भी 'नीक्ष अवतार श्री लोकेश्वर' तथा 'देव' शब्द शुद्ध संस्कृत में लिखे हुये हैं। सुमात्रा की पुरानी भाषा का भी प्रभाव संस्कृत पर पड़ा। इसी कारण संस्कृत भाषा में अशुद्धता आ गई थी। सुमात्रा के कुछ शिला लेखों में संस्कृत के शब्दों में दक्षिण भारत का भी प्रभाव दिखाई देता है। कुछ विद्वानों का मत है कि इसका कारण चोल राजाओं का सुमात्रा से पूर्व काल से ही संबंध था। फिर भी यह कहना पड़ता है कि सुमात्रा (स्वर्णद्वीप) के शिला लेखों में संस्कृत की ही प्रधानता है।

सुमात्रा का समाज और सभ्यता

शैलेन्द्र वंश के राजाओं के नाम तो बिल्कुल भारतवर्ष की ही तरह थे। शासन प्रबंध में भी राज्य के कर्मचारी भारत की तरह सचिव, सेनापति तथा राजगुरु होते थे। सुमात्रा में शक् संवत ही प्रचलित था। महीनों के नाम, दिन के नाम तथा लग्न, योग का भी सुमात्रा में पूरा प्रचार था। भारतीय ज्योतिष शास्त्र का भी प्रचार था। बौद्ध धर्म का प्रचार तो था ही ओर शैलेन्द्र राजा बौद्ध गया को ही अपना तीर्थ मानते थे। तांत्रिक धर्म का भी अच्छा प्रचार था ओर वह भी बंगाल से सुमात्रा में गया था। बौद्ध धर्म के प्रचार के पहले सुमात्रा में शैवधर्म का भी प्रचार था। आर्यों की तरह स्त्रियां भी अपने पतियों के साथ ही धार्मिक कृत्यों में भाग लेती थीं। जावा से रामायण, महाभारत का भी प्रभाव सुमात्रा के समाज तथा साहित्य पर पड़ा। अरब के सौदागरों के लेखों से साफ पता चलता है कि सुमात्रा का समाज भारतवर्ष के समाज की ही तरह था। सुमात्रा के सबसे श्रेष्ठ पर्वत का नाम इन्द्रपुर है। सुमात्रा के पास मदुरा नाम का एक दूसरा द्वीप है। सुमात्रा दक्षिण पूर्वीय द्वीपों में बौद्ध धर्म का केन्द्र था और धर्मकीर्ति महायान संप्रदाय का महा पंडित माना जाता था। चोल राजाओं तथा बंगाल के राजाओं का सुमात्रा से घनिष्ट संबंध था। पुर्तगालियों के आने के समय से कुछ पहले तक सुमात्रा के कुछ भागों में छोटे-छोटे हिंदू राज्य थे।

संदर्भ ग्रंथ

1 R C Majumdar 'Suvarnadvipa', page 124

2 Elliot 'History of India as told by its own Historians, Vol I, page 81

3 R C Majumdar Suvarnadvipa, p 227

4 The Cultural Heritage of India, Vol III, p 113

5 Dr R C Majumdar 'Suvarnadvipa, p 368

6 Dr B R Chhatterji India and Java, pp 79-80

7 Dr B R Chhatterji 'Indian Cultural Influence in Cambodia', pp 358-363

जावा और भारत

बंगाल की खाड़ी से परे वृहत्तर भारत के फैलाव का श्रेय भारत के छोटे से कलिंग प्रदेश (आधुनिक उड़ीसा) को है। कलिंग के प्राचीन इतिहास को बहुत कम लोग जानते हैं। वास्तव में भारत के क़ौमी कारनामों में जावा का उपनिवेश एक बड़ी अहम घटना है और यह कितने दुख की बात है कि भारतीय इतिहास में इस महत्वपूर्ण घटना की कोई चर्चा नहीं मिलती।

ईसवी सदी के 75वें बरस में कलिंग राज्य से हिंदू मल्लाहों का एक जत्था निकला और बंगाल की खाड़ी पार कर हिम्मत के साथ अनंत हिंद महासागर को चीरता हुआ जावा के टापू पर जा लगा। वहां इन नाविकों ने भारतीय उपनिवेश की स्थापना की, नगर और शहर बसाये और अपनी मातृभूमि के साथ व्यापार संबंध क़ायम किया, जो सदियों तक चलता रहा। जावा के इस भारतीय उपनिवेश के संबंध में इतिहास लेखक एलफिंसटन लिखता है—:

"जावा का इतिहास इस बात की साफ गवाही देता है कि कलिंग देश के हिंदू इस द्वीप में आकर उतरे, यहां के निवासियों को सभ्य बनाया और ईसा के 75वें साल से अपना पहला सम्वत् सन शुरू करके अपने आने की तिथि निश्चित की। जावा के असंख्य खंडहर इस घटना के साक्षी हैं। यद्यपि जावा की बोलचाल की भाषा मलाया है, फिर भी धार्मिक, राजनैतिक और ऐतिहासिक ग्रंथ और अनेक उल्लेखों की भाषा संस्कृत की ही एक बेटी है। चौथी सदी ईसवी के एक प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान ने लिखा है कि उस समय जावा के निवासी सब हिंदू थे और यह यात्री जिन जहाजों से गंगा से सिंहल और सिंहल से जावा और जावा से चीन गया, उसके सब मल्लाह हिंदू धर्म के अनुयायी थे।"[1]

फर्ग्यूसन लिखता है—"अमरावती के शानदार खंडहरों से यह ज़ाहिर होता है कि कृष्णा और गोदावरी के मुहानों से आकर उत्तर और पश्चिमोत्तर भारत के बौद्धों

ने पगु, कम्बोज और आखिर में जावा के टापू को आ कर बसाया"।[2] टैवर्नियर लिखता है—"बंगाल की खाड़ी में मछलीपटनम् ही ऐसी जगह है जहां से भारतीय जहाज पूर्व की ओर बंगाल, अराकान, पगु, सियाम, सुमात्रा, कोचिन—चीन और मनिल्ला और पश्चिम की ओर होरमुज, मोरवा और मडागास्कर जाते थे"[3]। जावा के उल्लेखों से भी कलिंग और जावा के संबंध का पता चलता है।[4] डाक्टर भंडारकर भी इसकी तसदीक करते हैं।[5]

जावा की प्राचीन किंवदंतियों के मुताबिक भारत के पश्चिमी तट से यानी गुजरात से भी लोग वहां जाकर बसे, इस किंवदंति के अनुसार अजीजक नामक गुजरात का एक शक्तिशली राजा सन् 75 ईसवी में जावा पहुंचा, लेकिन किसी महामारी के सबब उसे शीघ्र ही वापस लौट आना पड़ा। सम्भव है वह कहानी उत्तर भारत के सक राजाओं के साथ जावा के प्राचीन राजवंश का संबंध जोड़ने के लिये गढ़ी गई हो। जावा के इतिहास मे एक दूसरी कामयाब गुजराती कोशिश का जिक्र मिलता है, जब सन् 603 ईसवी मे गुजरात के एक राजा ने अपने बेटे को 5 हजार लोगों के साथ जिनमें किसान, कारीगर, वैद्य और लेखक शामिल थे, 6 बड़े जहाजों और सौ छोटे जहाजों में भरकर जावा भेजा।[6] यह गुजराती बेड़ा जावा के पश्चिमी तट पर उतरा और वहां उन्होने 'मेदांग कामुलन' नामक नगर बसाया, बेटे ने और आदमी भेजने के लिये लिखा। इस वार राजा ने द्रो हजार आदमी भेजे, जिनमें संगतराश ओर पीतल का काम करने वाले शामिल थे। शीघ्र ही गुजरात और दूसरे देशो के साथ जावा की बड़े पैमाने पर तिजारत शुरू हो गयी। इन गुजरातियों ने वहां मदिरों की नींव रखीं, जो बाद में 'प्राणबानम' और 'बोरोबुदुर' मंदिर के नाम से मशहूर हुए। एशियाई बौद्ध कला के ये सुंदरतम नमूने हैं।

गुजरात के ये बौद्ध सक, जाहिर है, उस समय गुजरात छोड़कर जावा में जाकर बसे जब चन्द्रगुप्त दूसरे ने सौराष्ट्र और काठियावाड़ पर कब्जा करके बौद्ध धर्म की जगह ब्राह्मण धर्म की स्थापना की।[7] इन प्रवासियों के साथ बौद्ध-कला भी अपनी खूबियां लेकर जावा पहुंची, जहां बोरोबुदुर की तामीरीकला में वह अपने सुंदरतम रूप में जाहिर हुई।[8] उत्तर भारतीयों के इस जावा प्रवास के और भी कई कारण थे, जिनमें पांचवी और छठवीं ईसवी के बीच में तुर्की और सासानियों के हाथों सफेद हूणों की हार, श्री हर्ष के पिता प्रभाकर वर्धन की वे फतहें जो उन्होंने हूणों, गांधार, सिंध, गुर्जर और मालवा के राजाओं पर हासिल कीं और खुद श्री हर्ष के 20 बरस

के सैनिक हमले थे, जिनसे बौद्ध सक प्रवासियों की एक भीड़ जावा पहुंची। अगर इन कारणों में हम नीचे लिखे कारण और जोड़ दें, तो सिंध ओर गुजरात से जावा प्रवास की बात और ज़्यादा साफ हो जाती है–

(1) सातवीं सदी के दौरान तुर्कों के हमले[9]

(2) मगध से बामियां तक सन् 645-650 में तिब्बती और नेपाली फ़ौजों की कामयाबी।

(3) सिंध के बौद्ध सहराई को गद्दी से उतारकर उसके ब्राह्मण मंत्री छछ का गद्दी पर बैठना और जाटों के साथ उसका ज़ालिमाना बर्ताव।

आठवीं सदी ईसवी में बंगाल से भी प्रवासियों की एक बहुत बड़ी तादाद इसलिये जावा पहुंची चूंकि तिब्बती सेना ने बंगाल को विजय कर लिया था। नवीं सदी में बहुत से भारतीय बाद्धो न भी जावा में जाकर शरण ली। जावा के प्रवासी भारतीयों की कहानी जावा-भारतीय कलाकारों ने संगतराश की छेनी की मदद से पत्थरों पर नक्श कर दी है, जो हमेशा जिंदा रहेगी और हम में आत्माभिमान पैदा करती रहेगी। पत्थर की इन रेखाओं में गुजराती राजकुमार के जहाज़ी सफर के बड़े सुंदर और साफ चित्र खुदे हुये हैं। सिंहल से चलने वाले एक भारतीय जहाज में भी चौथी सदी के अंत और पांचवी सदी ईसवी के शुरू में मशहूर चीनी यात्री फाहियान ने दूसरे दो सौ यात्रियों के साथ जावा तक यात्रा की थी.[10] फिलेडेलिफया के म्यूजिअम में भी जावा के भारतीय जहाजों के बड़े सुंदर चित्र मौजूद हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1. History of India - Cowells edition p 185.
2 Indian Architecture, p. 103
3. Ball's Translation, 1, 174.
4. Indian Antiquity, V. 314, VI, 356.
5. Journal of Bombay Branch of R.A.S. XVII
6. History of Java - by Sir Stamford Raffles, Vol.II.
7. Early History of India - V.A. Smith; pp. 186-87.
8. Indian Sculpture and Painting - B. Havall p. 113.
9. Reinand's Memoire Sur L' Inde, pp.170, 176.
10. Beal: Buddhist Records, Vol.II, p. 269.

चीनी सभ्यता और संस्कृति

पहले ज़माने म चीन का देश कई अलग-अलग नामो से पुकारा जाता था। चीन वाले खुद अपने मुल्क को 'चुग कुओ' कहते हैं। 'चुंग' के मायने है 'बीच का', 'हुआ' का मनलब 'फूल' और 'कुओ' देश को कहते हैं। चीनी लोग मानते हैं कि उनका देश पृथ्वी के ठीक बीचो-बीच में है। उसमें फूल बहुत होते हे और लोग खूब सुख से ज़िदगी बसर कर सकते हैं। चीनी सभ्यता दुनिया की सबसे पुरानी और सबसे ऊची सभ्यताओ में से एक है।

शुरू ज़माने से उस देश के लोग आस-पास की कौमो को जीत कर अपने में मिलाते रहे या उन पर हुकूमत करते रहे। इसीलिये न उन दिनो चीन की कोई सरहद ठीक हो पाई और न हज़ारों बरस तक देश का कोई खास नाम रखा गया। आबादी और इलाका दोनों बढ़ते चले गए।

1000 ई.पू. (ईसवी से पहले) के क़रीब 'चीन' एक राजकुल का नाम था। इस कुल के राजाओं का उन दिनों मुल्क के उस थोड़े से उत्तर पश्चिमी हिस्से पर राज था, जिसमे आज कल कानसु और शेन-सि के राज्य हैं। इस कुल के नाम पर ही मुल्क का वह हिस्सा 'चीन कुओ' यानी 'चीन राजाओ का देश' कहलाने लगा। धीरे-धीरे इस कुल के राजाओं की ताक़त बढ़ी। उनका राज दूसरे सूबों पर भी फैला। एशिया के बीच के हिस्से में उन दिनों बहुत से छोटे-छोटे देश थे, जो 'पश्चिमी देश' कहलाते थे। चीन कुओ के लोगों के साथ यहां के लोगों का आना जाना था। इसलिये इन पश्चिमी देशों के लोगों ने सारे मुल्क को चीन नाम से पुकारना शुरू कर दिया। वहां से यह नाम दक्षिण में हिंदुस्तान और पश्चिम में यूनान और रोम तक पहुंचा। यूरोप में वह बिगड़ कर 'चाइना' हो गया। हिंदुस्तान के 'महाभारत' ग्रंथ में भी चीन देश का वर्णन. आता है, जिससे मालूम होता है कि हिंदुस्तान वालों को उस पुराने ज़माने में चीन देश का पता था और उससे उनका कुछ न कुछ नाता भी था।

जापानी चीन को 'दाइतांग' या 'महातांग' कहते हैं। सबब यह है कि 618 ई. से 907 ई. तक चीन में 'तांग' कुल का राज था। चीनी सभ्यता उस वक्त अपनी चोटी पर थी। जापानी अभी सभ्यता की दृष्टि से बहुत पीछे थे। सैंकड़ों जापानी उन दिनों विद्या पाने के लिये चीन आए। चीन से लौट कर उन्होंने अपने मुल्क में तरह तरह की विद्याओं का प्रचार किया। इन जापानियों में एक मशहूर नाम कोबोदाशी का है, जो 25 बरस तक चीन में रहा। कोबोदाशी को 'कुंगहाई' भी कहते थे। जापान लौट कर उसने जापानी भाषा लिखने के लिये चीनी लिखावट की मदद से एक लिखावट निकाली जिसे जापानी 'काना' या 'काता काना' कहते हैं। कोबोदाशी ही जापानी साहित्य का जन्मदाता माना जाता है।

जापानियों ने सभ्यता चीन से सीखी। जापान का धर्म, यानी बौद्ध धर्म भी हिंदुस्तान से चीन और वहां से कोरिया के रास्ते जापान पहुंचा। जापानी संस्कृति तांग राजकुल के ज़माने की चीनी सभ्यता की देन है। इसीलिये जापानी आज तक चीन को 'दाइतांग या महातांग' कहते हैं।

सन् 1911 ई. में चीन में ज़बरदस्त क्रांति हुई। पुराने राजकुलों की हुकूमत हमेशा के लिये खत्म हो गई। उस समय से चीन में, जो नया रिपब्लिक यानी जनतंत्री राज क़ायम हुआ, उसका नाम 'चुंग हुआ रिपब्लिक' रखा गया।

चीन के लोग

चीनी क़ौम में छः जातियां शामिल समझी जाती हैं। ये छै 'त्सु' कहलाती हैं। 1. हानत्सु, 2. मिआओत्सु 3. मानत्सु यानी मांचू 4. मांगत्सु यानी मोंगल 5. हुइत्सु यानी तुर्की मुसलमान और तांगत्सु यानी तिब्बती। इनमें हानत्सु की तादाद सबसे ज्यादा है। ये सबसे पुराने और चीन के खास बाशिंदे हैं। मिआओत्सु भी एक पुरानी और सभ्य जाति है। इनकी तादाद बहुत कम है। इनमें ज़्यादातर हानत्सु में मिल कर एक हो चुके हैं और बहुत थोड़े से दक्षिण पश्चिम के पहाड़ों में अभी तक अपनी अलग आबादियों में बसते हैं। मानत्सु पहले मांचूरिया के रहने वाले थे लेकिन अब हानत्सु के साथ मिलकर वे बिल्कुल एक हो गए हैं। मांगत्सु मंगोलिया के थे। लेकिन ये भी ज़्यादातर हानत्सु में घुल मिल गए हैं। हुइत्सु चीनी तुर्किस्तान (आंग) के रहने वाले मुसलमान हैं। वे भी बिना किसी भेदभाव के साथ हानत्सु में मिल जुल कर

रहते हैं। तांगत्सु यानी तिब्बतियों की हालत भी क़रीब-क़रीब वैसी ही है जैसी मंगोलिया वालों की। इनकी तादाद भी बहुत थोड़ी है। इस तरह से छै जातियां चीन में केवल नाम की अलग-अलग जातियां हैं।

मर्दुमशुमारी का तरीक़ा चीन में हज़ारों बरस से चला आता है। हज़रत ईसा के जन्म के समय चीन की आबादी आठ करोड़ थी, सन् 1928 में 47,47,87,386 हो गई और इस समय एक अरब दस करोड़ है।

दुनिया की सभ्य क़ौमों में सबसे पुरानी चार हैं : मिस्री, सुमेरी-बाबुली, हिंदी और चीनी। इनमें हिंदी और चीनी अभी तक दुनिया के सामने हैं। इन दोनों क़ौमों में कोई ऐसी खास बात जरूर होगी जिसकी वजह से ये इतने हजारों बरस कायम रहीं और अभी तक क़ायम है। चीनियों की तीन सबसे बड़ी विशेषताएं यह हैं : (1) सहनशीलता यानी बर्दाश्त, (2) परिस्थिति के बदलने के साथ-साथ अपने को बदल लेने की योग्यता और (3) भेदों और भिन्नताओं में सामंजस्य और एकता पैदा कर लेने की प्रवृत्ति। इनके अतिरिक्त चीनियों में तीन और खास गुण हैं : (1) शांति बनाए रखने की इच्छा, (2) मिलने-जुलने में शिष्टता और मिठास, और (3) दिल की सच्चाई। दूसरी कौमों की तरह चीनियों के चरित्र में कतिपय दोष भी हैं। चीनी उन्हें दूर करने की पूरी कोशिश कर रहे हैं। सारी दुनिया अब एक होती जा रही है। चीनी भी दूसरी सभ्यताओं की अच्छी बातों को अपनाते जा रहे हैं।

दुनिया की प्राचीन सभ्यता

यूरोप के विद्वान अकसर मिस्र और बाबुल की सभ्यताओं को सबसे पुरानी मानते हैं। लेकिन चीनी सभ्यता सबसे पुरानी और जीवित सभ्यता है।

चीनी इतिहास के मुताबिक योउत्साओ ने सबसे पहले घर बनाया और लोगों को घरों में रहना सिखाया। सुएइजेन ने आग ईजाद की और लकड़ी जलाकर लोगों को खाना पकाना सिखाया। ये दोनों ईजादें दस हजार साल से भी बहुत पहले की हैं। इसके बाद फुहिसि ने जाल डाल कर मछली पकड़ना और सितार बजा कर गाना सिखाया। उसी ने शादी का रिवाज डाला। शादी के लिये नियम बनाए और कुटुम्ब की बुनियाद डाली। उसने 'आठ शक्लें' ईजाद की जिनसे बाद में बढ़ते-बढ़ते आज कल की चीनी लिखावट ईजाद हुई। साल, महीनों वगैरह के जरिये समय का माप

भी उसी ने ईजाद किया। शेन नुंग ने फावड़ा और हल ईजाद किया और लोगों को खेती करना सिखाया। उसने सबसे पहले मंडी खोली और लोगों को एक चीज के बदले में दूसरी चीज देना-लेना सिखाया। बहुत सी जड़ी-बूटी पर तजुरबा करके उसने रोगों के इलाज की बुनियाद डाली। उसने एक तरह का पंचांग यानी कैलेण्डर बनाया। ये सब बातें भी करीब-करीब दस हजार साल पहले की हैं। इसके बाद से इसी तरह वहुत लोग तरह-तरह की नई ईजादें करते रहे। सन् 2000 ई.पू. म हुआग-ति यानी 'पीला सम्राट' चीन पर हुकूमत करता था। उसकी प्रजा बहुत खुश ओर सुखी थी। उसके जमाने मे और बहुत सी नई नई ईजादें हुईं, जिनमें से कुछ ये हैं: 1. टोपी और सिले हुए कपडे, 2. गाडी और किश्ती, 3. कुंडी-सोटा, 4. तीरकमान, 5. दिशा देखने का कम्पास, 6. धातु के सिक्के, और 7. मुरदे को रखने के लिये कफन। ज्योतिष में यानी सिहतारों ओर नक्षत्रो का अध्ययन करने मे और अलग-अलग मोसमों के तय करने मे भी उस ज़माने मे खासी नई-नई ईजादें हुई।

सम्राट हुआग-ति के समय तक (2697-2598 ई.पू. तक) ऊपर की सब चीजें चीन मे ईजाद हो चुकी थीं। धर्म, दर्शन, फलसफा और सदाचार शास्त्र ये तीनों कुछ समय बाद हिया, शाग ओर चोउ राजकुलों के समय में यानी दो हजार ई.पू. से 1000 ई.पू. तक के जमाने मे पूरी तरह तरक्की को पहुंचे। वह जमाना चीनी सभ्यता के इतिहास में बल्कि दुनिया की तरक्की के इतिहास में सुनहरा जमाना था।

किसी भी कौम के इतिहास में लिखने की विद्या ईजाद हुई इस बात का बड़ा महत्व है। हुआंग-ति के कई वजीर थे जिनमें एक 'इतिहास का वजीर' कहलाता था। त्सांग-चि उसका इतिहास का वजीर था। उसे आजकल की चीनी लिखावट का ईजाद करने वाला माना जाता है। असल में उसने नई लिखावट की ईजाद नहीं की बल्कि फुहिसि की ईजाद की हुई पुरानी लिखावट को सुधारा और तरक्की दी। बहुत से लोग कहते हैं कि चीनी लिखावट को सीख सकना दूसरे देश के लोगों के लिए बहुत मुशकिल है।

लिखावट (लिपि) हजारों बरस से ज्यों की त्यों चली आ रही है। सारे चीन में जिसका रकबा यूरोप के रकबे से ज्यादा है, यही एक लिखावट काम में आती है। इस एक लिखावट की वजह से चीनी कौम की एकता को बनाए रखने में बहुत बड़ी मदद मिली है। जब से चीन में लिखावट ईजाद हुई तभी से किताबें खासकर

ऐतिहासिक किताबें लिखी जानी शुरू हो गईं। इनमें से बहुत सी किताबों के अब सिर्फ नाम रह गए हैं और कुछ किताबें अभी तक मौजूद हैं। इनमें सबसे पहली किताब फुस्ति के वक्तों की 'यि-चिन' नाम की है जिसके मायने 'परिवर्तनों के नियम' हैं। यह 'शांग हसु' 2357 और 2208 ई.पू. के बीच की लिखी हुई है। 'शिह-चिन' 1500 ई.पू. से 500 ई.पू. तक के बहुत से गीतों का एक संग्रह है जो महात्मा कन्फूशियस का जमा किया हुआ है। वेदों के सिवाय दुनिया की और कोई किताब इन चीनी किताबों से ज्यादा पुरानी नहीं है। इन किताबों के अलावा बहुत से पुराने घरेलू गीत जगह-जगह गाए जाते हैं या किताबों में मौजूद हैं। मिसाल के तौर पर 2300 ई.पू. और 2200 ई.पू. के बीच के दो गीत ये है –

(1) "जब सूरज निकलता है मैं उठ जाता हूं,
जब सूरज डूबता है मैं आराम करता हूं,
पानी पीने के लिए मैं कुआं खोद लेना हूं,
और खाना खाने के लिए जमीन जोतता हूं,
सम्राट (ति) की हुकूमत सम्राट के पास रहे
मुझे उससे क्या लेना देना !

(2) "ऐ खुशकिस्मत बादल ! फैला दे
अपने रंगों को चारों तरफ,
ऐ सूरज ! और ऐ चांद ! चमकाओ
और सुंदर बनाते रहो
दिन और रात को हमेशा हमेशा"

विज्ञान का प्रारंभ भी चीन से हुआ था। 2000 ई.पू. और 1000 ई.पू. के बीच में चीन में 'लुयि' यानी छः विद्याओं और 'लुकुग' यानी छः दस्तकारियों के सीखने का खास रिवाज था। छः विद्याएं थीं–(1) 'लि' यानी शिष्टाचार, (2) 'यो' यानी संगीत (3) 'शेह' यानी तीरंदाजी, (4) 'यु' यानी गाड़ी, रथ चलाना, (5) 'शु' यानी लिखना और (6) 'सु' यानी गणित (मैथेमेटिक्स)। छः दस्तकारियां थीं–(1) 'तुकुंग' यानी इमारत का काम, (2) 'चिनकुंग' यानी धातुओं का काम, (3) 'शिहकुंग' यानी पत्थर की इमारतों का काम, (4) 'मुकुंग' यानी बढ़ई का काम, (5) 'शोउकुंग' जानवरों का शास्त्र, (6) और 'त्साओ-कुंग' यानी वनस्पति शास्त्र। इनमें से एक-एक



इंडोनीसिया के सिंगसारि मंदिरों से प्राप्त प्रज्ञापारमिता। सिंगसारि वंश के संस्थापक की महारानी उडस् की आधिदैविक प्रतिमा (13वीं सदी)।



जापान से सरस्वती (बेन् ज़ाइतेन)। यह रेखाचित्र केन्-इ की सन् 1305 की चित्रावली से लिया गया है।

की कई-कई शाखें थीं। शिष्टाचार, तीरंदाजी और गाड़ी चलाना इन तीनों की पांच-पांच शाखें थीं। गाने बजाने की और लिखने की छः-छः। और गणित की नौ शाखें थीं। राजनीति के सिद्धांतों, व्यावहारिक राजशासन और युद्धविद्या, इन की बरसों तालीम दी जाती थी। इन सब पर दलीलों के साथ और सिलसिलेवार कायदे से लिखी हुई बड़ी-बड़ी किताबें थीं। जिनमें हर मजमून का एक-एक पहलू अलग-अलग समझाया गया था। साइंस की सबसे ज्यादा असर रखने वाली ईजादों में से कम से कम चार ईजादों का श्रेय चीन को हासिल है—कम्पास, कागज, छपाई का काम और बारुद। असल में यही चार चीजें साइंस के युग का पेशखेमा हैं। लेकिन यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि चीनी लोग बारुद का इस्तेमाल खेल-तमाशों, आमोद-प्रमोद और आतिशबाज़ी के लिए करते थे, यूरोप की तरह दूसरों को मारने या किसी की जान लेने के लिए नहीं। इसी से पता चलता है कि चीनी सभ्यता और यूरोप की सभ्यता के बुनियादी असूलों में बहुत बड़ा फ़रक़ है।

चीनी सभ्यता की चार सबसे बड़ी विशेषताएं हैं :—

(1) चीनी सभ्यता रचनात्मक और मौलिक थी। वह बिल्कुल चीन ही की जमीन की उपज थी। वह किसी से नक़ल की हुई या उधार ली हुई चीज न थी।

(2) चीनी सभ्यता का एक बहुत बड़ा गुण उसका स्थायित्व है। मिस्र और सुमेर काल का ग्रास बन गये, लेकिन चीन अभी मौजूद है और बढ़ रहा है।

(3) चीनी सभ्यता बड़ी व्यापक है। चीनी भाषा और लिखावट, दोनों, सारे यूरोप से बड़े रकबे के लिये हमेशा एक ही रही हैं।

(4) अंत में चीनी सभ्यता मनुष्य मात्र का भला चाहने वाली और सबको फायदा पहुंचाने वाली है। बारुद का इस्तेमाल इसकी अच्छी मिसाल है। यह चीज चीन में सिर्फ, खेल-तमाशे और खुशी के अवसर पर इस्तेमाल की जाती थी, जो दूसरे देशों में मनुष्यों के नाश का सबसे जबरदस्त कारण बन गई।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि चीनी सभ्यता, सिवाय हिंदुस्तान की सभ्यता के, बाकी पुराने जमाने की या आजकल की सभ्यताओं से प्राचीन है। मिस्र और यूनान की सभ्यताएं इतनी देर तक न ठहर सकीं। यूनान और रोम की सभ्यताएं इतनी व्यापक नहीं थीं। यूरोप की आधुनिक सभ्यता पर राय ज़ाहिर करने का अभी समय नहीं आया।

दुनिया में सबसे पुराना इतिहास

चीन की पौराणिक कथाएं तो बहुत ज्यादा दूर तक जाती हैं। उन कथाओं के अनुसार चीनियों का आदि पुरुष 'पान-कु' था जिसने इस विश्व की रचना की है—और जिसका सारी दुनिया पर राज था। उसके बाद अनेक सम्राटों और अनेक युगों का जिक्र आना है। लेकिन चीन का विश्वसनीय इतिहास 2700 ई.पू. से यानी सम्राट हुआंग-ति के समय से शुरू होता है।

इससे पहले चीन मे बहुत से अलग-अलग क़बीले रहते थे जिनमें अक्सर लड़ाइयां होती रहती थीं। सम्राट हुआग-ति ने सारे चीन को मिलाकर एक बड़ा साम्राज्य क़ायम किया। उसी समय से समाज और शासन दोनों की नई व्यवस्था कायम हुई और सभ्यता के हर पहलू मे तरक्की होने लगी। हुआंग-ति को ही चीनी क़ौम का जन्मदाता माना जाता है। चीनी अपने को उसी का वंशज मानते हैं और उसकी तख़्त-नशीनी के समय से अपने देश का इतिहास शुरू करते हैं।

हुआग-ति के पीछे एक दूसरे के बाद बहुत से सम्राट हुए जिनमें याओ नाम के एक सम्राट ने पूरे 100 वर्ष शासन किया। उसके बाद के सम्राट शुन ने 48 वर्ष हुकूमत की। ये दोनों सम्राट याओ और शुन चीन में आदर्श शासक माने जाते हैं। महात्मा कनफ़यूशियस और मेन्सियस दोनों इन्हें आदर्श शासक कहकर बयान करते हैं। उनका जमाना चीनी इतिहास में बड़े गौरव का जमाना था। उन दिनों हर सम्राट अपने मरने से काफी पहले खुद अपनी इच्छा से गद्दी छोड़कर दूसरे को अपनी जगह देकर राजकाज से बिल्कुल अलग हो जाया करता था। इसीलिए वह ज़माना 'शान योग' यानी 'अपनी इच्छा से पद त्याग करने का ज़माना' कहलाता है। जब कभी कोई सम्राट ऐसा न कर पाता था तो उसके मरने के बाद लोग उसकी जगह दूसरा सम्राट चुन लेते थे।

सम्राट याओ और सम्राट शुन के ज़माने में 'यु' नाम का एक बूढ़ा वज़ीर था। चीन की नदियों में उन दिनों बड़ी-बड़ी बाढ़ें आया करती थीं जिनसे रिआया के जानमाल की बड़ी हानि होती थी। 'यू' ने नौ बड़ी-बड़ी दरियाओं के दहानों को चौड़ा करके और बहुत सी नहरें काट कर इस तरह का इंतजाम कर दिया कि आइंदा के लिये इन बाढ़ों से नुकसान होना बंद हो गया। सम्राट शुन के बाद लोगों ने यु को अपना

सम्राट चुना। आठ बरस बाद उसने सिहासन छोड़कर अपने एक वजीर 'पोयि' को सम्राट बनाना चाहा। उस वक्त तक के सम्राट अपने सबसे योग्य मत्री को ही अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करते थे। बाप की गद्दी बेटे को मिलने का उस वक्त तक चीन के सम्राटों में कोई रिवाज नही था। लेकिन अब चीन की प्रजा ने पोयि की जगह शुन के एक बेटे 'चि' को ज्यादा पसद किया। 'चि' ही शुन के बाद सम्राट हुआ और उसी समय से चीन मे बाप की गद्दी बेटे को मिलने का रिवाज पडा। एक दूसरे के पीछे कई राजकुल सम्राट की गद्दी पर बैठे। इनमे सबसे ज्यादा देर तक यानी 1122 ई.पू. से 155 ई.पू. तक, 867 साल तक चोउ राजकुल का जमाना रहा। इन 867 वर्षों मे इस कुल के 37 सम्राट चीन के सिहासन पर बैठे। यह सारा ज़माना चीन के इतिहास में स्वर्ण-युग समझा जाता है। सभ्यता के हर पहलू से चीन ने उन दिनो बहुत तरक्की की। बडे बडे सत, महात्मा और विद्वान हुए। महात्मा कन्फ्यूशियस और महात्मा लाओत्जे के अलावा मेन्सियस, मोतु, हसुनतु उस जमाने के प्रसिद्ध महापुरुष थे। हिदुओ के दर्शन-शास्त्रो से मिलते-जुलते उन दिनो चीन मे दस 'दर्शन' लिखे गए। वह जमाना विद्या और विचारो का जमाना था। चीनी सस्कृति उन दिनों खूब फूली फली।

चीनी साम्राज्य उस समय नए सिरे से नौ राज्यो में बांटा गया। हर राज्य मे कई-कई रियासतें शामिल की गई, जिनमे कुछ बहुत छोटी थीं। हर रियासत एक राजा के सुपुर्द की गई और उसके कुल मे पैतृक बना दी गई। उसके अलावा बहुत सा इलाका सीधा सम्राट के अधीन किया गया जो -'हुआंग चि' कहलाता था। हर राजा को अपने राज्य के इंतज़ाम की पूरी-पूरी रिपोर्ट सम्राट को भेजनी होती थी। हर तीन साल के बाद सम्राट की तरफ से एक अफसर रियासतों की जांच-पडताल, वहां की प्रजा की हालत का पता लगाने के लिये जाता था। इस तरह चीन की ये सब रियासतें मज़बूत शासन-सूत्र में बंधी रहती थीं। चीन की सारी प्रजा की खुशहाली का खास ख्याल रखा जाता था और अन्यायी राजा की शिकायत करने और उसे हटाने का पूरा मौका दिया जाता था। इन मायनों में चीन की रियासतें एक तरह की जनतंत्रात्मक रियासतें थीं।

उस ज़माने की दूसरी खास बात लगान की थी जिसे 'चिंग-तिएन' कहते हैं। सारी ज़मीन प्रजा की ज़मीन समझी जाती थी और सबमें बराबर-बराबर बाट दी गई

थी। हर मुरब्बा 'लि' के नौ टुकड़े किये गये और हर टुकड़े में सौ 'मोउस' जमीन थी। इन नौ सौ मोउस जमीन मे से 800 मोउस आठ कुटुम्बों को उनके गुजारे के लिये दे दी गई और बीच की सौ मोउस जमीन सरकारी या पंचायती जमीनों के तौर पर छोड़ दी गई। आस-पास के किसानों का फ़र्ज होता था कि बारी-बारी से उस सरकारी ज़मीन को जोते, बोए। सरकारी ज़मीन की पैदावार से सरकार का सारा खर्च चलता था और बाकी ज़मीनों की पैदावार पर किसानों का पूरा अधिकार होता था। सारे देश की ज़मीन इसी तरह टुकड़ों मे बांट दी गई। यह एक तरह का साम्यवाद (कम्यूनिज्म) था। यह पद्धति सदियो तक अच्छी तरह चलती रही।

220 ईसवी से लेकर 1911 ईसवी तक कई राजकुल चीन की गद्दी पर बैठे जिनमें तांग कुल और सुंग कुल सबसे ज्यादा मशहूर हैं क्योंकि इनके जमाने की चित्रकारी ओर चीनी मिट्टी के बर्तन दुनिया में कला के सबसे सुंदर नमूने गिने जाते है, जिनसे बढकर उस तरह की चीजें आज तक दुनिया के किसी देश ने पेदा नही की। सन् 1911 ई में चीन के अंदर राजकुलों का ज़माना हमेशा के लिये खत्म हो गया ओर शुद्ध जनतत्र का ज़माना शुरू हो गया।

चीनी संस्कृति की एक झलक

प्रोफेसर तानयुनशान लिखते हैं :–

चीनी समाज तीन मुख्य भागों में बंटा हुआ था :-
(1) कुलों के अनुसार,
(2) स्थानों के अनुसार और
(3) पेशो के अनुसार।

चीनी जनता अपने अपने कुलों के संस्थापकों की पूजा करती थी और इसीलिए उनमें कुल-बंधुत्व बहुत गहरा होता था। हर कुल अपने आप में समाज का एक भाग होता था और हर भाग का कुल के नाम से एक भवन होता था जो उनका 'कुल मंदिर' कहलाता था। हर कुल में भी कई फ़िरक़े होते थे और हर फिरके का अपना परिवार-भवन होता था जो 'परिवार-मंदिर' कहलाता था। आमतौर पर ज़िले के केंद्र में कुल-मंदिर होता था और गांव-गांव में परिवार-मंदिर। कुल का सबमें बूढ़ा आदमी ही कुलपति होता था और कुल-भवन के प्रबंध के लिये समस्त कुल वाले

मिलकर एक कमेटी चुन लेते थे। कुलपिता के जन्म दिन पर और दूसरे त्यौहारों पर समस्त कुल वाले कुल मंदिर में इकट्ठा होते थे और कुलपिता की याद में उत्सव मनाते थे। कुल से संबंध रखने वाले तमाम मामलों का वहा निपटारा होता था। कुल के सदस्यों में जब आपस में कोई मुक़दमेबाज़ी होती थी तो उसका फैसला भी इसी अवसर पर होता था। जब कुल मंदिर में फैसला नहीं हो पाता था तभी सरकारी अदालतों में मुकदमे जाते थे। हर कुल सावधानी के साथ अपना वंश परिचय सुरक्षित रखता था और कुल से सबंध रखने वाली खास-खास घटनाओं का क्रमबद्ध इतिहास लिखा जाता था। कुल के हर सदस्य की जन्म और मृत्यु की तारीखें भी कुल-मदिर के रजिस्टर में सावधानी के साथ दर्ज की जाती थीं।

चीन में लोग अपने खानदान और अपने गांव या शहर के प्रति भी सम्मान व भक्ति रखते हैं। उनकी यह भक्ति चीन के सामाजिक जीवन पर एक खास असर डालती है। गाव में "तु-ति मिआव" (स्थानीय मंदिर) "शेह-त्साग" (गाव का अन्न भंडार), "शु-युआन" (स्थानीय आम सभा) आदि संस्थाएं होनी थीं। शहरों में और खास कर ऐसे शहरों में जहां कल कारखाने हैं वहां की मुख्य संस्था "हुई-कुआन" थी। यह संस्था मध्यकालीन इंग्लैंड की ट्रेड गिल्ड से मिलती-जुलती थी।

गांव के मंदिर में गांव वाले मिलकर पूजा करते थे और गांव के अन्न भंडार में गांव वाले मिलकर, अपनी खपत से बचा हुआ, अनाज भर देते थे जो अकाल के दिनों में काम आता था। आम सभा के सुपुर्द उस भवन का इंतज़ाम होता था, जहां बड़े-बड़े सामाजिक जलसे और सभाएं होती थीं। गांव के आपसी झगड़ों का निपटारा इन्हीं आम सभाओं में होता था। जिस तरह गांव की सभाएं होती थीं उसी तरह ज़िले के केंद्र में भी आम सभाओं का संगठन होता था जहां ज़िले भर के गाव के प्रतिनिधि समय-समय पर इकट्ठा होते थे। ज़िले ही की तरह प्रांत में केंद्रीय सभाएं होती थीं जहां विविध ज़िलों के प्रतिनिधि इकट्ठा होकर प्रांतीय महत्व की बातों पर अपने फैसले करते थे। इन सभाओं के पास अपनी बड़ी-बड़ी जायदादें होती थी।

चीनी दस्तकारों और पेशेवरों का संगठन बहुत पुराना और अपने आप में परिपूर्ण था। विविध उद्योग धंधों में लगे हुए लोगों और दस्तकारों की जमातों को ''हांग'' (वर्ग) कहते थे। एक पेशे के सब दस्तकारों को "तुंग-हांग" कहते थे। चीन में विविध धंधों की इस तरह की तीन सौ साठ हांग थीं। हर हांग का केंद्र, ज़िले या

प्रांत की राजधानी में होता था। हर हांग के पास बहुत सा धन होता था, उसका अपना संगठन विधान होता था और उसकी चुनी हुई कार्यकारिणी समिति होती थी। हांग की जनरल कमेटी की साल में दो बैठकें होती थीं—एक बसंत में और दूसरी पतझड़ में। इन बैठकों में समस्त दस्तकार अपने-अपने व्यापार या धधों की चर्चा करते थे और उसे फैलाने और बढ़ाने के उपायों पर सलाह मशविरा करते थे। हर हांग का एक-एक इष्टदेव होता था जो उस धंधे का आविष्कारक समझा जाता था और साल में एक बार उसकी पूजा होती थी और उसकी मूर्ति के सामने भेटें चढाई जाती थीं।

चीनी समाज की सबमें बड़ी विशेषता यह थी कि वहा जानि-पाति के झगड़े नहीं थे। शुरू-शुरू मे चीनी जनता चार भागों में बटी हुई थी। (1) 'शिह' (विद्वान), (2) 'नुंग' (किसान), (3) 'कुग' (दस्तकार), और (4) 'शांग' (व्यापारी)। यही वहा का समाजी संगठन था। सरकार भी इनके साथ उचित व्यवहार करती थी। किंतु एक गिरोह से दूसरे गिरोह में जाने की मनाही न थी और महज पैदाइश की वजह से कोई एक गिरोह का बधैल न हो सकता था। चारों में से किस गिरोह मे कोई व्यक्ति रहे यह उसकी अपनी रुचि और पेशे पर निर्भर था। चारों गिरोहों में आपस में खूब शादी ब्याह भी होते थे। विद्वान के गिरोह की समाज में सबसे ज्यादा इज्ज़त थी और हर जगह उनका आदर होता था। व्यापारी को समाज में सबमें निकृष्ट समझा जाता था। बावजूद उसके पैसे के लोग उससे इसलिये नफ़रत करते थे कि वह अपनी मेहनत से कुछ भी पैदा नहीं करता था और समाज के ऊपर जोंक की तरह चिपटा रहता था।

चीनी समाज में परिवार का महत्वपूर्ण स्थान था। चीनी जनता माता-पिता के प्रति भक्ति, भाई-चारे और दोस्ती पर बहुत ज़ोर देती थी। सबकी यही ख्वाहिश होती थी कि उनका परिवार खूब बढ़े और वे सब साथ रहें।

चीन में सबमें आदर्श परिवार उसे कहते थे कि जिसमें माता-पिता हों, दादा-दादी हों, भाई और भाभियां और नाती-पोते हों। इस तरह के परिवार को 'वु ताइ तुंग तांग' कहते थे। इसका अर्थ है, ऐसा परिवार जिसमें पांच पीढ़ियां साथ रह रही हों। इस तरह के परिवार की समाज व सरकार दोनों इज्ज़त करते थे। दस आदमियों का परिवार तो एक साधारण सी बात थी। बहुत से परिवार ऐसे थे जिनके सदस्यों

की तादाद सौ से अधिक थी। कुछ बरस पहले चीन के समाचार पत्रों में 'ति मिंग युन' नामक एक चीनी विद्वान की तस्वीर और जीवनी छपी थी। यह विद्वान 1660 ई. में पैदा हुआ और 258 वर्ष तक जिया, चौदह बार शादी की और 180 बच्चे पैदा किये।

जिस तरह समाज का केंद्र है परिवार, उसी तरह परिवार का केंद्र है, पत्नी। उसी के हाथ में सारी शक्ति होती थी और वही घर पर हुकूमत करती थी। चीनियों का बहुत पुराने ज़माने से यह विश्वास रहा है कि मरदों को घर गृहस्थी के मामलों में कोई दखल न देना चाहिये। यह काम पूरी तरह औरतों का है। सबसे पुराने चीनी धर्म ग्रंथ 'ली-चिंग' में लिखा है, "मर्दों को घर गृहस्थी के मामलों में कोई दखल न देना चाहिये और औरतों को बाहर के मामलो में कोई दखल न देना चाहिये।" इस तरह पत्नी परिवार के अंदर सचमुच हुकूमत करती थी और घर के मामलों में उसका पूरा बोलबाला रहता था। पश्चिम की औरतें भले ही आजादी की डींग हाकें मगर अभी वहां की औरतों को उतने अधिकार नहीं मिले जितने चीन की औरतों को हमेशा से प्राप्त थे। चीनी औरतें अपने पति पर पूरी तरह हुकूमत करती हैं। एक पुरानी चीनी कहावत है "किसी सूरमा के लिये बीवी की बनिस्बत लाखों सैनिको से निपटना ज़्यादा आसान है।"

चीनी इतिहास के पुराने उल्लेखों से पता चलता है कि चीन में किसी ज़माने में स्त्रियां ही जायदाद की मालिक और वारिस होती थीं। उस जमाने में बेशक स्त्रियों का दरजा पुरुषों से ऊंचा रहा होगा। किंतु वह ज़माना बदल गया। दार्शनिकों और व्यवस्थापकों ने समय-समय पर क़ानून बनाकर स्त्रियों की शक्ति को कम करके समाज में उनके दरजे को घटा दिया।

चीनी धर्म ग्रंथ "लि-चि" (सामाजिक नियम) में स्त्रियों के तीन फ़र्ज बताये गये हैं–इस आदेश को चीनी भाषा में "सन-त्सुंग" कहते हैं। स्त्रियों में चार तरह के गुण होने चाहियें। इन गुणों को 'सुतेह' कहते हैं। उसके तीन कर्तव्य हैं– (1) बचपन में वह पिता का कहना माने। (2) शादी के बाद पति का कहना माने और (3) विधवा होने पर लड़के का कहना माने। उसके चार गुण हैं–(1) सतीत्व और धार्मिकता, (2) प्रेम और मिठास से बात करना (3) सदाचरण और नम्रता और

(4) घर के काम काज में पटुता यानी खाना पकाना, कपड़ा बुनना, सीना पिरोना और गृहस्थी संभालने में निपुणता।

बचपन से ही चीनी स्त्रियां कठोर अनुशासन के साथ शिक्षा देकर पाली पोसी जाती थीं। इसीलिये बड़े होने पर वे सदाचार और नम्रता की मूर्ति होती थीं। चीनी समाज में 'लिआंगचि' (अच्छी पत्नी) और 'हिएन-सु' (दयालु मां) आदर्श स्त्री समझी जाती थी।

चीन का सारा सामाजिक ढांचा एक नैतिक ढांचा है और सामाजिक संबंध एक प्रकार का नैतिक संबंध है। छोटे-बड़े, करीब के या दूर के, सब रिश्तेदारों के बीच में दर्जे बने हुए हैं। उदाहरण के तौर पर बड़े भाई को 'हिम-उंग' और बड़ी बहन को 'रजु' कहते हैं। छोटे भाई को 'ति' और छोटी बहन को 'मे' कहते हैं। ताया को 'पो' और चाचा को 'शु' कहते हैं। बुआ को 'कु' मामा को 'चिन' और मासी को 'यि' कहते हैं। ताई को 'पो-मु', चाची को 'शु-मु', फूफा को 'कु-फु' मामी को 'चिन-फु', और मौसा को 'यि-फु' कहते हैं। चचेरे भाइयों को 'तांग-हिस उंग ति' और चचेरी बहनों को 'तांग-रजु-मे' कहते हैं।

चीनी समाज में शुरू-शुरू में तीन तरह के बंधन थे जो 'सन-कांग' कहलाते थे। रिश्तों में छः दर्जे थे जो 'वु-लुन' कहलाते थे और नौ पीढ़ियों के रिश्तेदारों का हिसाब रहता था जिसे 'चिउ-त्सु' कहा जाता था। तीन तरह के संबंध थे।, (1) शासक और प्रजा का संबंध, (2) मां-बाप और संतान का संबंध, (3) पति और पत्नी का संबंध। छः दर्जे हैं—(1) पिता और पिता के छोटे बड़े भाई, (2) भाई और बहनें, (3) कुल, (4) मां और मां के भाई, (5) गुरु और (6) मित्र। पांच रिश्तेदारियां हैं—(1) मां-बाप और औलाद, (2) शासक और प्रजा, (3) पति और पत्नी, (4) भाई और बहन और (5) मित्र। नौ पीढ़ियों में चार पीढ़ियां ऊपर की यानी माता पिता, दादा-दादी, परदादा परदादी और लकड़दादा-लकड़दादी और चार पीढ़ियां नीचे की यानी बेटे-बेटी, नाती-पोते, परनाती-परपोते और परनाती परपोतों की औलाद। इनके अतिरिक्त तीन तरह के आम सामाजिक संबंध हैं—(1) खानदान के, (2) रिश्तेदारों के और (3) दोस्तों के।

चूंकि चीनी समाज नैतिक बुनियाद पर कायम था इसीलिये वह सदाचरण पर

बहुत जोर देता था, क्योंकि सदाचरण के बगैर नैतिकता रह ही नहीं सकती और न नैतिकता के बगैर सदाचरण। चीनी संतों ने अनादिकाल से नैतिकता और सदाचरण के बहुत से नियम बना दिये हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण और जरूरी पांच नैतिक नियम हैं जो 'यु-चांग' कहलाते हैं। इनमें (1) 'जेन' यानी परोपकार (2) 'यि' यानी न्याय (3) 'लि' व्यवहार, (4) 'चिह' यानी बुद्धिमानी और (5) 'हिसन' यानी विश्वासपात्रता। चार तरह के आवश्यक कर्तव्य हर एक को करना लाज़िमी थे जो 'रजुहिएंग' कहलाते हैं। ये हैं—(1) 'हिस आब' यानी माता पिता की भक्ति (2) 'ति' 'भाइयों से स्नेह, (3) 'चुंग' यानी देशभक्ति, (4) 'हिसंग' यानी विश्वासपात्रता। समझा जाता है कि समाज चार स्तंभों पर क़ायम था। (1) 'लि' यानी व्यवहार, (2) 'यि' न्याय, (3) 'स्यु' ईमानदारी और (4) 'चिह' यानी लज्जा की भावना। इनके अतिरिक्त और बहुत से नैतिक नियम हैं।

चीन को चीनी और दूसरे विदेशी भी 'संस्कारों और उत्सवों का देश' कहते हैं। दुनिया में और किसी देश में इतने उत्सव और संस्कार नहीं होते। यहां तीन सौ 'विधि संस्कार' और तीन हज़ार रीति-रिवाज माने जाते हैं। इनकी वजह से साधारण जनता के लिये परेशानी और मुसीबत बेहद बढ़ जाती है। शादी चीनी ज़िंदगी की सबसे महत्वपूर्ण घटना है और इसीलिये उसकी संस्कार विधि बहुत लंबी होती है। सगाई और शादी के बीच में छः संस्कार-विधियां होती हैं, वे हैं—(1)-"ना-त्साह" यानी वरदीक्षा (2) "वेन-मिंग" यानी लड़की का नाम पूछना (चीन में उस समय तक लड़की का नाम नहीं पूछ सकते जब तक शादी पक्की तरह बंध न जाए), (3) "ना-चि" यानी सगाई की रस्म (तिलक), (4) "चिंग चि" यानी शादी की तारीखें मुकर्रर होना, (5) "ना-चिंग" यानी कपड़े, बर्तन, गहने आदि की दहेज की रस्म का अदा किया जाना और (6) "चिन-थिंग" यानी शादी की तारीख पर वर का वधू के यहां जाकर शादी के बाद उसे विदा कर के अपने घर लाना। शादी के दिन वर और वधू की बड़ी खातिरदारी की जाती है। वधू जब अपनी ससुराल आती है तो उसे फूलों की पालकी में बैठाकर लाते हैं। इस पालकी को चार या आठ कहार उठाते हैं और आगे-आगे जुलूस गाजे-बाजों के साथ चलता है। जब बारात दुल्हन को लेकर वापस आती है तो सबसे पहले धरती और आसमान की पूजा की जाती है। फिर कुल-देवों और इष्ट-देवों की पूजा होती है। इसके बाद वर-वधू आमने-सामने खड़े होकर एक-दूसरे को प्रणाम करते हैं। इसके बाद दोनों को सुहाग-भवन में ले जाते हैं। वहां दो लाल

मोमबत्तियां जला दी जाती हैं। इसके बाद दोनों को सुहाग के पलंग पर बैठाया जाता है। फिर दोनों को एक ही प्याले से 'मए-उल्फत' पीनी पड़ती है। फिर तमाम घर वाले और रिश्तेदार मुंह देखकर दोनों को आशीर्वाद देते हैं। बुजुर्गों के बाद छोटों की बारी आती है और वे तरह-तरह का मज़ाक करके वर-वधू को परेशान कर देते हैं। शर्म के मारे वर का मुंह लाल हो जाता है और वधू लज्जा से गड़ जाती है। दूसरे दिन सुबह वर-वधू का मां-बाप, भाई-बहन, नाते-गोत्र वाले और दोस्तों से परिचय कराया जाता है। शादी के अवसर पर वर और कन्या पक्ष दोनों को एक या दो दिन खूब बड़ी दावतें देनी होती हैं। जब वधू ससुराल जाती है तो अपने पति के घर में वह एक महीने तक बिल्कुल मेहमान की तरह रहती है, रोज श्रगार करना और रिश्तेदारों और दोस्तो के यहां दावत उड़ाना। एक माह के बाद तीन दिन के लिये वधू अपने मायके वापस आती है। फिर लौटकर ससुराल में वह घर-गृहस्थी के काम में जुट जाती है और आने वाले मातृत्व की तैयारी करती है। पुराने ज़माने में शादियां माता-पिता ही तय करते थे। लड़के-लड़कियों से कोई सलाह न ली जाती थी। मगर आजकल लड़के-लड़कियां खुद अपने लिये साथी चुनकर शादी करना पसंद करते हैं। विवाह की रस्म भी बहुत बदल गई है। अभी पिछले दिनों शंघाई ओर दूसरे बड़े शहरों में 'त्यो-तुआन चेह-हुएन' नामक शादी की रीति चली। इसके अनुसार एक साथ और एक जगह बहुत सी शादियां हो जाती हैं। इसका मतलब यह है कि शादी की रस्म में क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया है।

चीन मे मृनक का क्रिया कर्म भी एक महत्वपूर्ण संस्कार है। चीनी रिवाज के अनुसार शादी माता-पिता का बच्चों के प्रति अपने कर्तव्य को अदा करना है और मृतक कर्म बच्चों का मां-बाप की तरफ अपना फ़र्ज अदा करना है। इसलिये जब मां बाप की मृत्यु होती है तो बच्चों के ऊपर ज़बरदस्त जिम्मेवारी आ जाती है। मृत्यु के बाद पुराने रिवाज के अनुसार पूरे सौ दिन तक हजामत बनवाना, शराब पीना, मांस खाना और यात्रा करना मना है। कोरा सफेद कपड़ा पहनना, एक ख़ास वियोग की टोपी पहनना और शव के पास सिकुड़े हुए बैठे रहना—यही उनका काम है। उसके बाद वे अपने तमाम रिश्तेदारों और दोस्तों के पास शोक पत्र भेजते हैं। जिस रिश्तेदार या मित्र को यह शोक पत्र मिलता है, उसका फर्ज है कि वह अर्थी पर जाकर फूल चढ़ाये और शोक-संतप्त परिवार के साथ समवेदना प्रकट करे।

चीनी प्रथा के अनुसार शव को ज़मीन में दफ़नाया जाता है। मौत के बाद फ़ौरन बहुत नजदीकी रिश्तेदार शव को नहलाते हैं और खास तौर पर बनाया हुआ रेशमी कफन उसे पहनाते हैं। उसके बाद शव को एक सुंदर और क़ीमती शवपेटी (ताबूत) में बंद करके घर के बड़े कमरे में रख देते हैं, ताकि रिश्तेदार और दोस्त आकर संवेदना प्रकट कर सकें। मौत के तीसरे दिन ताबूत (शवपेटी) को सील कर दिया जाता है और लकड़ी की तख़्ती में मृतक का नाम, उसके जन्म और मृत्यु की तारीख लिख दी जाती है। जब उन्चास दिन बीत जाते हैं तब दफनाने के लिए एक अच्छी जगह और शुभ मुहूर्त तय किया जाता है। शव जिस दिन दफन क़िया जाता है, उस दिन का संस्कार बहुत महत्वपूर्ण होता है। ताबूत को खूब सजाया जाता है और आठ से चौसठ आदमी तक उसे उठाते हैं। बेटे और पोते लकड़ी का सहारा लेकर आगे-आगे चलत हैं। दूसरे रिश्तेदार और मित्र ताबूत के अगल-बगल चलते हैं। स्त्रियां गाड़ियों पर ताबूत के पीछे चलती हैं। बौद्ध भिक्षु और 'ताओ' पुरोहित और भजन वाले गाजे बाजों के साथ आगे और पीछे रहते हैं। मृतक के इस जुलूस की शान और बड़प्पन शादियों के जुलूसों से कहीं ज़्यादा होती है।

चीन में खेल-तमाशों और त्योहारों का बहुत महत्व है। चीनी किसान अपने फुरसत के मौकों पर तरह-तरह के खेल-तमाशे करते हैं। उनका एक खेल है 'ता-तुंग'। इसमें दीवों का प्रदर्शन होता है। दूसरा खेल है 'बु-शिह'। इसमें शेर का प्रदर्शन किया जाता है। तीसरा खेल है 'बु-लुंग'। इसमें एक दानव के कारनामे हैं और भी बहुत से नाटक और तमाशे होते हैं। दीवो के खेल में तमाम गांव वाले जलते हुए दीवे लेकर इकट्ठा होते हैं और जुलूस बनाकर गाजे-बाजों के साथ गांव-गांव जाते हैं। सिंह और दानव के तमाशों में उछल-कूद, तलवार चलाना और दूसरी शारीरिक कसरतें दिखाई जाती हैं। इस तरह के खेल पंद्रह दिन से लेकर महीने-भर तक चलते हैं। पारी-पारी से सभी गांवों में ये खेल किये जाते हैं। एक गांव की बारी अक्सर कई बरसों में आती है। इन मेलों, तमाशों के साथ-साथ गांव की बनी चीज़ों की नुमाइश भी होती है, जहां कारीगरी और सुंदरता की वस्तुओं की प्रतिस्पर्धा होती है। बाज़ार भी लगते हैं, जहां हिंदुस्तानी मेलों की तरह चीज़ों की खरीद-फ़रोख्त होती है।

हिंदुस्तानियों की तरह चीनी जनता भी तीज-त्योहारों को बहुत महत्व देती है। उनका सबसे बड़ा त्योहार नौरोज़ है। चीनी पंचांग के अनुसार पहले महीने में पहली

तारीख से लेकर पंद्रह तारीख तक यह उत्सव मनाया जाता है। हर मकान और हर झोपड़े को सजाया जाता है। दरवाजे खिड़कियों पर लाल कागज की बन्दनवार और आकाश-दीप लटकाये जाते हैं। घरों में शुभ शब्द और कहावतें लिखी जाती हैं। तरह-तरह के दिल-बहलाव के तमाशे होते हैं और घर-घर में दावतें होती हैं। नौ रोज के बाद पांचवें महीने के पांचवें दिन 'तुआन-बु' और आठवें महीने के पंद्रहवें दिन 'मुंग-चिन' नामक त्योहार मनाये जाते हैं। दो त्योहार अपने पूर्वजों और बुजुर्गों की याद में मनाये जाते हैं। इन तिथियों में लोग अपने-अपने बुज़ुर्गों के मज़ारों पर जाते हैं और उनके नाम पर भेंट चढ़ाते हैं। सातवें महीने का सातवां दिन कुमारी कन्याओं के लिये बड़ा शुभ समझा जाता है। नौवें महीने के नौवें दिन विद्वान और कवि पहाड़ों की चोटी पर चढ़ते हैं। वहीं भोजन करते हैं और गा-बजाकर दिन बिताते हैं। चीनी और दूसरे मुल्कों के त्योहार धार्मिक होते हैं, चीन के त्योहार ऋतुओं के बदलने पर और दुनियावी बातों के सिलसिले में मनाये जाते हैं। जन-क्रांति के बाद सरकारी तौर पर चीन का पुराना पंचांग छोड़कर सन् ईसवी की तारीखें ही मानी जाने लगी हैं और त्योहारों की सूची में बहुत से राष्ट्रीय उत्सव भी शामिल कर लिये गये हैं। किंतु जनता अब तक पुराने पंचांग और पुराने त्योहारों से ही चिपटी हुई है। इसका मतलब यह नहीं कि चीनी-जनता कट्टर है, बल्कि चीनी पंचांग ईसवी सन् से कहीं ज्यादा उनके लिये मोजूं है और पुराने त्योहारों का मौसमों के साथ गहरा संबंध है।

चीनी सभ्यता दुनिया की अति प्राचीन सभ्यता है। चीनी जनता अपनी सभ्यता और संस्कृति की बेहद क़दर और इज्ज़त करती है। चीन ने हमेशा अपने आसपास की क़ौमों में अपनी संस्कृति का प्रचार किया है। भारतीय बौद्धकाल को छोड़कर यह क्रम हज़ारों बरस तक चलता रहा है। सिर्फ उन्नीसवीं सदी से जबकि चीन पश्चिमी सभ्यता के संसर्ग में आया, तब से चीन की संस्कृति आधुनिक और पुरातन का समन्वय बन गई है।

चीनी जीवन पर बौद्ध धर्म का प्रभाव

अगर नये चीनी जनराज की सीमा को लें तो सिंकियांग में बौद्ध धर्म ईसा से पहले तीसरी सदी में चीन पहुचा। लेकिन हान वंश (220-25) ईसवी के समय तो जरूर ही चीन में बौद्ध धर्म पहुंच चुका था। इसी वंश के राजा मिंग-ती (58-76 ईसवी) को बौद्ध धर्म का प्रचारक माना जाता है।

अगर तुर्क सम्राट 'तू-बा' (568-809) और उसकी प्रजा पर एक युद्धबदी बौद्ध भिक्षु असर डाल सकता था, तो लाखो की तादाद में जो बौद्ध, शक, हून, युद्धबंदी होकर चीन में जाते थे, उनसे बौद्ध धर्म का परिचय चीनी जनता को नहीं मिला हो, यह नहीं माना जा सकता। मिंग-ती के बौद्ध धर्म को अपनाने का यही मतलब समझना चाहिये कि अब वह चीनी साम्राज्य मे भी मान्यता के योग्य हो चला था। मिंग-ती ने बौद्ध धर्म की किताबों और भिक्षुओं को लाने के लिये अपने दूत बाहर भेजे। उन्हीं के साथ बौद्ध धर्म के ग्रथ लिये 67 ईसवी में कश्यप मातंग और धर्म रतन, दो भारतीय भिक्षु, चीन पहुंचे। भारतीय ग्रंथ का सबसे पुराना अनुवाद कश्यप ही का है जो अब भी मिलता है। मिंग-ती ने सफेद घोड़ों पर चढ़कर राजधानी ली-यांग पहुंचने वाले इन भिक्षुओं का बड़ा स्वागत किया और उनके लिये वहां सफेद घोड़ा विहार (पे-मा-से) बनवाया। कश्यप मध्यावर्त्त के निवासी थे। बौद्ध ग्रंथों में कुरुक्षेत्र से संथाल परगना और हिमालय से विंध्याचल के बीच की भूमि यानी आजकल का उत्तर प्रदेश और बिहार को मध्यावर्त्त कहा जाता है। कश्यप हीनयान साहित्य के पंडित थे। वह दक्षिण भारत में धर्म प्रचार के लिये गए थे। उनके साथी धर्म रतन भी मध्य मंडल के रहने वाले विद्वान थे। अगरचे कश्यप और धर्म रतन ने और भी ग्रंथों का अनुवाद किया था, लेकिन वह अब मिलते नहीं हैं, तो भी उन्होंने अपने पढ़ने-लिखने, बहस और सतसंग के ज़रिये जो काम किया, वह चीन को भारत के नजदीक लाने में बड़ा सहायक हुआ।

साहित्य के क्षेत्र में सबसे ठोस काम कश्यप के 81 साल बाद शुरू हुआ, जबकि पारथियन विद्वान अन-सी काओ (76-149) ईसवी में चीन पहुंचे। उस समय ईरान पर पारथियन वंश का राज था। शक और पारथियन दोनों ही उन्हीं पुराने शकों से संबंध रखते थे जिनसे आगे पूरबी यूरोप की स्लाव जातियां निकलीं। अन या अन-सी चीनी भाषा मे पारथियन को कहते हैं। सी-काओ के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने राज छोड कर भिक्षु व्रत लिया था। कश्यप की तरह मध्य एशिया के रास्ते वह 149 ईसवी में चीन की राजधानी लो यांग में पहुंचे और वहां के सफेद घोड़ा विहार में रहने लगे। अपने बाईस साल के चीन के जीवन में उन्होंने भारती विचार-धारा से चीनी विद्वानों को परिचित कराने के लिये अनथक मेहनत की। अन-सी काओ के सिर पर अगर चीन में बौद्ध धर्म की नींव मज़बूत करने का सेहरा है, तो साथ ही साथ दोनो देशो के कलचरी संबंध को मज़बूत करने का भी सेहरा उन्हीं के सिर बांधना चाहिए। उनके 95 अनुवाद किये ग्रंथों में 55 अब भी मिलते हैं। हान काल में चीन ने सभी क्षेत्रों में बड़ी तरक्क़ी की थी, राजकाजी और कलचरी दोनों तरह से उसी समय चीन का बहुत दूर तक फैलाव हुआ। साहित्य, कला, नई-नई ईजादें सभी तरफ चीन ने उस काल में तरक्क़ी की थी। इसी तरक्क़ी में भारती बौद्ध धर्म ने भी वहां पहुंच कर चीन का हाथ बंटाया था। उस काल के दूसरे अनुवाद करने वाले और प्रचार करने वाले चूं-अन-लो (भारती महा बल) और तुन-को-ओ भारती थे, खांग के और खांग-मुंग-स्यांग ताजिक थे। चीन में उस वक्त भारती विचारधारा और कलचर का इतना स्वागत हुआ कि आगे इस काम में हाथ बंटाने के लिये खोतान, ताजिकिस्तान, भारत और सिंहल से कितने ही विद्वान वहां पहुंचे। चीन में राजकीय सहायता से सबसे आगे कुन-फा-सी की तालीम का बहुत प्रचार था, जिसका आध्यात्मिकता से गहरा ताल्लुक नहीं था। नाओ की तालीम में रहस्यवाद ज़रूर था, पर उसमें दुनिया से अलगाव अधिक था। बौद्ध धर्म की तरफ वहां के सोचने विचारने वालों का ध्यान किस लिये गया, इसके बारे में उस समय के एक चीनी विद्वान की राय थी–

"कुन फासी तालीम हकूमत के ज़्यादा गंभीर सवालों का कोई उत्तर नहीं दे सकती। वह न जीवन-संग्राम में लड़ने के लिये आदमी को शक्ति दे सकती है और न मौत के समय तसल्ली।" चीन की विचारधारा के साथ मिलने और समझौता करने

के लिये हमारे भारती प्रतिनिधि बराबर तैयार रहते थे। ईसा की दूसरी सदी में दक्षिणी चीन में मू-चू एक मशहूर बौद्ध विद्वान थे। उनकी राय थी–"कंग फंग-चे धर्म, राज-धर्म हो सकता है, लेकिन बौद्ध धर्म जनता का धर्म है। बुद्ध की तालीम चीन के पुराने धर्मों के विचारों के विरुद्ध नहीं है। दोनों के विचार एक ही हैं। एक आदमी दोनों का पालन कर सकता है। हमारे यहां के ऊंचे विचारों के साथ-साथ बौद्ध विचारों को मान लिया जाए तो अच्छा है। बुद्धिमान आदमी जहां भी अच्छी चीज़ें पाता है, उनको ग्रहण कर लेता है, वह दूसरों से सीख लेने के लिये तैयार रहता है।"

भारती विद्वानों में धर्मरक्षक का चीन में अहम स्थान हैं। यह महान्न मेधावी विद्वान असल में मध्य एशिया के शक वंशी थे और घूमते फिरते भारत आए। यह 36 भाषाएं जानते थे। भारती कलचर के फैलाने की उनको जबरदस्त लगन थी। 294 ईसवी में यह चीन की राजधानी चांग आन पहुंचे, जहां 29 साल (284-313 ईसवी) रहकर उन्होंने अपना काम किया। हज़ारों चीनी विद्यार्थियों ने उनसे शिक्षा ली, उनसे भी ज़्यादा लोगों ने उनके उपदेशों से फायदा उठाया। उन्होंने 211 भारती ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था जिनमें से 92 अभी तक मिलते हैं। कुमारजीव का नाम चीन के महान अनुवाद करने वाले के रुप में ही नहीं, बल्कि महान साहित्यिक के तौर पर भी लिया जाता है। कुमारजीव 385 ईसवी में चीन पहुंचे और 16 बरस तक रह कर वहां ऊंचे साहित्य के निर्माण में लगे रहे।

मूर्ति कला और चित्र कला

बौद्ध धर्म ने चीनी साहित्य की अनमोल सेवा की। चीनी कला को भी उसकी देन अमर है। उस समय के बने हुए चित्र चीन में बरबाद हो चुके हैं, लेकिन तुन हांग की गुफाओं में जो बौद्ध चित्र मिले हैं, उनसे पता चलता है कि चित्र कला में भी उन्होंने चीन की शान उसी तरह बढ़ाई जैसे मूर्ति-कला में। शैन्सी हियू, शातुंग, होनान, शैन्सी और कान्सी सूबों में उस समय की मूर्ति-कला के सुंदर खंडहर हैं। संसार में शायद ही कोई ऐसा बड़ा म्यूजियम हो, जहां इन सूबों से मिली हुई कोई न कोई मूर्ति न रखी हो। उत्तरी सम्राट 'तो पाचियो' ने और उसके उत्तराधिकारियों ने उस समय की मूर्ति-कला की देख-रेख का इतना अच्छा इंतजाम किया, कि मनुष्य की तोड़-फोड़ के बाद भी उनमें से कितनी ही मूर्तियां बच गईं। 414-520 ईसवी के बीच तूपा सम्राट ने पहले विई राजधानी के पास, फिर आधुनिक था-तुंग (शान्सी) के पास कितने ही विहार पहाड़ों को खोद कर बनवाए। यह वही समय था, जबकि

अजंता के विहार बन रहे थे। इन गुफा-विहारों को सुंदर मूर्तियों से सजाया गया था। तूपा और दूसरे राजवंशों ने कई जगह गुफा-विहार बनवाए, जिनमें शैन्सी में ते युन-शान-चु, लो-चिंग लोयांग के पास लो-मिन और मध्य एशिया में तुन हांग गुफा-विहार खास महत्व रखते हैं। यहां की कला पर गंधार (तक्षशिला-पेशावर) और मथुरा कला का बहुत असर पड़ा है। साहित्य के निर्माण में भारती पंडितों ने चीन जाकर काम किया, उसी तरह भारती कलाकारों ने कला की महान यादगारों को तैयार करने में हाथ बंटाया है।

1913-14 ईसवी में कुछ पश्चिमी खोज करने वालों की टोलियां मध्य एशिया और चीन के कई भागों में गई थीं। उस समय जरमन टोली का नेता लेलाक, ब्रिटिश टोली का स्टाइन, फ्रेंच टोली का वासी था। रुसी एकेडेमी का भी एक दल आया था, फ्रांसीसी दल के काम के लिये इस वंश के इतिहास में लिखा है कि 487 ईसवी में राज कुमार ने "धर्म की गाथाओं के भजनों के लिये राग तैयार करने के वास्ते कितने ही भिक्षुओ को इकट्टा किया।" उन्होंने जो गीत तैयार किये थे, उनसे तीन सदी बाद जापान से आने वाले तीर्थ-यात्रियों पर बहुत असर पड़ा।

ज्योतिष

भारतीय आचार्यों की प्रेरणा और सहायता से चीन में ज्योतिष और गणित में नई तरक्क़ी हुई। 618 ईसवी में एक भारती विद्वान ने पहले थांग सम्राट के लिये एक नया कलेंडर बनाया। उससे एक सदी पीछे भारती पंडित शुभार सिंह और वज्र बौद्धी के शागिर्द चीनी भिक्षु ई-शिंग (683-747 ईसवी) ने हिसाब करके बतलाया कि सूरज के साल में 365 दिन और 244 घड़ी और चंद्र महीने में 29-53 दिन होते हैं। 721 ईसवी में सरकार ने इस सुधरे हुए कलेंडर को मान लिया।

वैद्यक

इलाज की विद्या में बौद्धों का बहुत बड़ा हाथ था। उनके सभी विहारों में एक आम डिस्पेंसरी रहती थी। विहारों से चुनकर नौजवान भिक्षु वैद्यक सीखने के लिये चांग-आन भेजे जाते थे।

छपाई

जनता का प्यारा धर्म होने के कारण सबसे पहले बौद्ध धर्म ने चीन में छापे का इस्तेमाल-किया। बौद्धों के कोई-कोई ग्रंथ पचासों हज़ार की तादाद में दूसरे पाठकों

के लिये लिखे जाते थे। उन्होंने देखा कि जिस तरह उल्टे अक्षरों की मुहर बना कर कागज पर छापा जा सकता है, उसी तरह हम छोटी-मोटी किताबों को भी छाप सकते हैं। नवीं सदी के आखिर तक चुंग-तू इस तरह की छपाई का मरकज बन गया। 929 ईसवी में लू-यांग के राज वंश ने जे-वान पर कब्ज़ा कर लिया और पांच बरस तक राज किया। यहां उनको छापे खाने का पता लगा। 971-83 ईसवी में चीनी बौद्धों ने पांच हज़ार जिल्दों में सारे 'त्रिपिटक' छाप दिये, जिसकी प्रतियां 985 ईसवी में जापान पहुंची।

इस तरह दसवीं सदी के खत्म होते-होते चीन में छापे खाने का भारी प्रचार हो गया था। हां, वह आधुनिक ढंग की छपाई नहीं थी। अलग-अलग बने धातु के अक्षरों को कम्पोज करके छापने का काम यूरोप ने किया। ऐसा न करने का कारण यह भी था कि चीनी लिखावट में उच्चारण का नहीं, अर्थ का इशारा होता है। इस लिये हज़ारों अक्षर होते हैं। अगर हमारी लिखावट की तरह उसमें भी 40-42 अक्षर होते तो शायद चीन ने टाइपों को भी ईजाद कर लिया होता।

बारहवीं सदी के आखिर में भारत में बौद्ध धर्म का सितारा डूबने लगा, इसलिये भारतीय विद्वानों के चीन जाने की संभावना नहीं रह गई थी। चंगेज़ खां, हालांकि बौद्ध नहीं था, लेकिन उसकी हमदर्दी बौद्धों के साथ ज़रूर थी। चंगेज़ ने अपने पोते कुबलई खां की तालीम की ज़िम्मेवारी एक बौद्ध भिक्षु को दी थी।

आगे चलकर कुबलई (1260-94 ईसवी) ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। घुमंतू मंगोलों के कलचरी निर्माण में बौद्ध धर्म ने इतनी मदद की कि पीछे चलकर वह मंगोलों का जातीय धर्म बन गया। तब भारत में बौद्ध धर्म नहीं था, लेकिन मंगोलों में धर्म प्रचार का काम तिब्बती आचार्यों ने किया। मंगोल त्रिपिटक का अधिक भाग तिब्बती त्रिपिटक का अनुवाद है।

बाहर के अधिकतर देशों से भारत का संबंध बौद्ध धर्म के ज़रिये हुआ है। वह संबंध बौद्ध धर्म के प्रभाव के समाप्त होने से जहां कमज़ोर होने लगा, वहां देश की गुलामी ने भी कलचरी मेल को भुलाने में हाथ बंटाया। सदियों बाद भारत इस हालत में है कि वह उस पुराने कलचरी संबंध को फिर से ज़िंदा करे।

भारत और चीन की सांस्कृतिक एकता

चीन के महान देशभक्त एवं सन् 1911 की क्रांति के प्रणेता डा. सन यात सेन के अनुसार–"भारत और चीन इन दोनों प्राचीन राष्ट्रों के लोग प्रारंभ से ही शांतिप्रिय रहे हैं। वे सदा से एक दूसरे के साथ मित्रता का व्यवहार करते आये हैं। कभी भी एक ने दूसरे पर हावी होने की चेष्टा नहीं की। हां, विचारों एवं सिद्धांतों का आदान-प्रदान अवश्य होता रहा है। यथासंभव दोनों राष्ट्रों ने पारस्परिक संस्कृति एवं व्यवसाय का अटूट संबंध स्थापित करने का भगीरथ प्रयत्न किया और वे सफलता के बहुत पास पहुंच चुके हैं।"

चार जनवरी, सन् 43 को पूना स्थित 'भंडारकर रिसर्च इंस्टीटयूट', की रजत जयंती के अवसर पर, अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने कहा था–"मध्य एशिया की मरुभूमि से होकर चीन की दीवार तक व्यापारियों के यात्रा-पथ और भारतीयों की नई आबादी का पता सर आरिल स्टीन ने लगाया है। ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी के लगभग भारत की सीमा पार कर मंगोल देशों में बौद्ध-धर्म ने विस्तार पाया। कनिष्क के शासन काल से लेकर हर्षवर्धन तक (लगभग 600 वर्षों तक) भारत एवं चीन वासियों के बीच सांस्कृतिक एकता की जड़ जमी रही। भारत आये हुए चीनी यात्रियों ने अपनी यात्रा का बहुमूल्य वृत्तांत लिख छोड़ा है और बहुत सी बौद्ध धर्म संबंधी रचनायें–जो मूलतः खो गई हैं–अनुवाद के रूप में आज भी चीनी, जापानी और तिब्बती भाषाओं में सुरक्षित हैं।"[1]

बौद्ध धर्म के ही विस्तार के कारण प्रत्यक्षतः चीन और भारत के बीच सांस्कृतिक एकता का सूत्रपात हुआ। चीन में सुरक्षित ऐतिहासिक आलेखों से प्रमाणित है कि बौद्ध धर्म भारत से चीन में बहुत पहले गया था।[2] जुलाई 42 के 'हिंदुस्तान रिव्यू' में प्रोफेसर तान युन शान लिखते हैं कि "अन्य पुस्तकों से पता चलता है कि 'शीन-राज्य' (ई.पू. 246-227) से पूर्व बौद्ध धर्म चीन पहुंच चुका था।"

प्रो. तान युन शान का कथन है कि चीन की एक प्राचीन पुस्तक में एक स्थान पर कन्फ्यूशियस कहता है–"मैने एक ऐसे साधु पुरुष के विषय में सुन रखा है जो पश्चिम में बिना कानून के शासन करता है। लोगों का उस पर अखंड विश्वास है। उसका स्वरूप इतना विराट है कि उसकी तेजस्विता के सामने कोई पार्थिव व्यक्ति नहीं टिक सकता है।" हम जानते हैं कि चीनी संत कन्फ्यूशियस (ई.पू. 551-478) गौतम बुद्ध (ई.पू. 560-480) का समकालीन था। पुराने जमाने में 'पश्चिम' शव्द का प्रयोग चीनवासी भारत के लिए करते थे और उसे प्रायः 'पाश्चात्य-राज्य' या 'पाश्चात्य-स्वर्ग' के नाम से पुकारा करते थे, जबकि स्वयं चीन देश के लिए 'मध्य-राष्ट्र' या 'स्वर्ण-राष्ट्र' जैसे नाम व्यवहार में आते थे। इस प्रकार बहुत संभव है कि कन्फ्यूशियस का संकेत बुद्ध और उनकी शिक्षा की ओर रहा हो। उसकी पुस्तक 'चिनलु' में लिखा है–"चिन-राज्य के राजा चेंग के शासन काल के चौथे वर्ष में पहले पहल अठारह बौद्ध भिक्षु, शिन-ली-फान के नेतृत्व में पश्चिम प्रान से चीन आये और अपने संग बुद्ध की मूर्तियों के अलावा बौद्ध धर्म के ग्रंथ भी लाये। वे संभवतः ई.पू. 298 में चीन गए थे।"

चीन के अन्यान्य बोद्ध धर्म ग्रंथों में सामान्य उल्लेख पाये गये हैं। इन सबसे हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि चीन में बौद्ध धर्म सन् 67 से बहुत पहले पहुंचा और प्रो. तान-युन-शान के मतानुसार दोनों राष्ट्रों में सांस्कृतिक एकता का सूत्रपात आज से दो हज़ार वर्ष पूर्व ही हो गया था।

इस विचार से अनेकानेक लेखक सहमत हैं कि संभवतः चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी के पूर्व ही हो गया था। प्रो. विनय सरकार ने भी यह प्रमाणित करने की पर्याप्त चेष्टा की है।[3] चाउ काल के प्रथम-सम्राट का समकालीन अशोक था जिसके समय में चीन वासी एक नये धर्म (बौद्ध धर्म) से परिचित भर थे। अशोक जैसे, अंतर्राष्ट्रीय राजा के समय में बौद्ध धर्म की सुगंध चीन भी जा पहुंची, यह बात अनैतिहासिक नहीं जान पड़ती। इसके अलावा पता चला है कि 'हान' वंशीय सम्राट (ई.पू. 140) पश्चिमीय एवं मध्य एशिया का एक महान अन्वेषक था। प्रो. सरकार के मतानुसार..."यदि वास्तव में चीन में भारत से बौद्ध धर्म के प्रचारक नहीं आए थे तो भी इतना मानना ही पड़ेगा कि उस समय भारत और चीन के बीच बड़ी सद्भावना थी और चीनी लोग उस समय बौद्ध धर्म से परिचित थे। यह तो एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी।"

जब चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार हो गया तब चीनी भिक्षु एवं छात्र-गण विशेष अध्ययन के लिए भारत आये और भारत से चीन में बौद्ध धर्म के विस्तृत प्रचार के लिये भिक्षुओं एवं दूतों की टोली गई। इतिहास से पता चलता है कि चीन से फाहियान, हुएनत्सांग, इत्सिंग (675 से 685 तक नालंदा में विद्यार्थी था) जैसे विद्वान यात्री भारत आये आर भारत से कश्यप मातंग, कुमार जीव[3] एवं गुनरत्न जैसे प्रसिद्ध अनुवादक चीन गए। सस्कृत से चीनी भाषा में कश्यप मातंग ने लगभग 98 पुस्तकों और दूसरे ने लगभग 64 पुस्तको का सहजानुवाद किया। फाहियान भारत आया और 15 साल बाद जब वह लोटा तब बुद्ध के रंग से वह पूर्णतः रंग गया था। बोद्ध धर्म के ग्रंथ 'त्रिपिटक' का सर्व प्रथम अनुवाद हुएनत्सांग एवं इत्सिंग ने किया था। अपने साथ हुएनत्सांग 657 पुस्तकों के 520 बंडल चीन ले गया था जिसमे से 75 पुस्तकों का अनुवाद वह कर पाया था। इत्सिंग अपने साथ 400 पुस्तकें ले गया था और कुल 56 पुस्तकों का ही अनुवाद कर पाया था। सभ्यता के इतिहास में ये गौरवपूर्ण कार्य सदा अमर रहेगे।

फु-त्सु-ची नामक पुस्तक के 43वें अध्याय में श्रमण ची-पी-आन ने अनुवादकारिणी समिति के जिन नो मुख्य अंगों पर प्रकाश डाला हे उनका अध्ययन भी आवश्यक है।[4]

'प्रवासी' में प्रकाशित अपने एक लेख 'प्राचीन चीन एवं भारत' में श्री सुजित कुमार मुखोपाध्याय ने जिन प्रसिद्ध अनुवादकों का नामोल्लेख किया है ये हैं :-

अमोध वज्र—उत्तर भारत का ब्राह्मण कुलीन श्रमण, जो सन् 719 ई. में चीन गया और भारत और लंका के शास्त्रों पर लगभग 500 हस्तलिखित पुस्तकें संग्रहीत करता रहा (732-46 ई.)। उसे चीनी सम्राट ने 'प्रज्ञाकोष' की उपाधि दी। 'त्रिपिटक महंत' की भी उपाधि इसे मिली। इसकी लगभग 108 पुस्तकों (अनुवाद सहित) का पता चला है।

आन-शि-काओ—सन् 148 में यह पार्थियन-युवराज राज त्याग कर चीन गया। सूत्रों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इसने लगभग 55 पुस्तकें लिखी हैं।

इत्सिंग—चीनी श्रमण ने 671 ई. में चीन छोड़ा। लगभग तीस देशों का भ्रमण कर 695 ई. में देश लौटा। अपने संग 400 के लगभग पुस्तकें लाया। सन् 713 ईसवी में उसकी मृत्यु हुई। इसने त्रिपिटक का शेष अनुवाद किया। इसकी लगभग 56 अनूदित पुस्तकें उपलब्ध हैं।

उ-लोच्छा-खोतान के भिक्षु ने चु शुत्यान से मिल कर एक सूत्र का अनुवाद किया।

उपशून्य–(538-568 ई.) मध्य भारत में इस राजकुमार की पांच पुस्तकें उपलब्ध हैं जिनमें विमल कीर्ति-निर्देश बहुत प्रसिद्ध है।

कश्यप मातंग–सन् 67 में भिक्षुओं की टोली लेकर चीन गया–बाद्ध धर्म का प्रचार किया, ब्राह्मण कुल में जन्म ले, चीन के 'श्वेत मठ' में ही उसकी मृत्यु हुई।

कुमार जीव-परंपरागत मंत्रियों के कुल का एक भारतीय श्रमण जो सन् 383 में चीन गया और जिसने सन् 412 ई. तक लगभग 98 पुस्तकों का अनुवाद किया। चीन में 3000 से ज्यादा उसके शिष्य थे। संभवतः 415 ई. में वह मरा। उसकी लगभग 50 पुस्तकें उपलब्ध हैं।

गौतम धर्मज्ञान या धर्मप्रज्ञा–बनारस के गौतम प्रज्ञा रुचि का बड़ा लड़का जो 577 ई. में उत्तरीय-चाओ राजकुमार के अधीन एक ज़िला का 'लाट' बनाया गया। अनेक पुस्तकें उसने लिखी है।

गौनम प्रज्ञा रुचि–(538-543 ई.) बनारस का ब्राह्मण, इसकी 13 पुस्तके उपलब्ध हैं।

गौतम संघदेव–काबुल का श्रमण, जो सन् 382 ई. में चीन गया। इसकी चार पुस्तकें उपलब्ध हैं।

गुनभद्र ब्राह्मण कुलीन भारतीय श्रमण जो महायान बौद्ध धर्म से पूर्ण परिचित था, सन् 435 में चीन गया, सन् 443 तक अनुवाद करता रहा, 75 वर्ष की अवस्था में सन् 468 में मरा।

गुनरत्न–भारतीय श्रमण, 64 पुस्तकों का अनुवाद।

चु-शु-ला–चीन में पैदा हुआ, 52 पुस्तकों का अनुवाद किया। एक भी उपलब्ध नहीं है।

दिवाकर–भारतीय श्रमण (676-688 ई.), 19 पुस्तकों का प्रणेता, सभी उपलब्ध हैं।

दानपाल–यह भारतीय श्रमण सन् 980 में चीन गया। चीन सम्राट द्वारा प्रतिष्ठित, 777 पुस्तकों (उपलब्ध) का प्रणेता।

देव–(काश्मीर) का श्रमण, सन् 980 में चीन गया, बीस वर्षों तक अनुवाद कार्य करता रहा, सन् 1000 ई. में मरा। 18 पुस्तकों (उपलब्ध) का प्रणेता था।

धर्मदेव—नालंदा, बिहार का यह श्रमण (973-1001 ई.) जिसे चीन-सम्राट ने 'महाधर्माचार्य' के उपनाम से विभूषित किया। 118 उपलब्ध पुस्तकों का प्रणेता।

धर्मकला—सन् 222 ई. में यह भारतीय भिक्षु चीन गया, सन् 250 में 'प्रति मोक्ष' का अनुवाद किया जिसकी प्रति खो गई है।

धर्मनंदी—सन् 384 ई. में यह श्रमण चीन गया, पांच पुस्तकों का अनुवाद किया जिनमें दो उपलब्ध हैं।

धर्म प्रिय—इस भारतीय श्रमण ने केवल एक ही सूत्र का अनुवाद किया है।

धर्म रक्षा—गोवर्धन या भरत के नाम से भी प्रसिद्ध, विनय में पटु, भारतीय श्रमण, कश्यप-मातंग के बाद चीन गया, मिल-जुल कर पांचेक पुस्तकों का अनुवाद किया।

धर्म—(266-377 ई.) 36 भाषाओं का पंडित, अनेकानेक पुस्तकों का प्रणेता जिनमें 90 उपलब्ध हैं।

धर्म रक्षा (द्वितीय)—सन् 414 ई. में यह भारतीय श्रमण चीन गया। इसकी एक दर्जन के लगभग पुस्तकें उपलब्ध हैं। 49 वर्ष की अवस्था में मिथ्या सदेह पर मार डाला गया।

धर्म रक्षा (तृतीय)—मगध का यह भारतीय श्रमण सन् 1004 ई. में चीन गया और मृत्यु पर्यन्त अनुवाद कार्य करता रहा। सम्राट द्वारा विशेषतः प्रतिष्ठित हुआ, 96 वर्ष की अवस्था में मरा। दर्जनों पुस्तकों का वह प्रणेता था।

धर्म रुचि—भारतीय श्रमण, (501-507 ई.) इसकी दो पुस्तकें उपलब्ध हैं।

धर्म विक्रम या धर्मासुर—चीनी भिक्षु, 15 मित्रों के साथ सन् 420 ई. में भारत आया। इसने सन् 453 ई. में देश लौटने के पूर्व एक पुस्तक का अनुवाद किया।

नरेन्द्र व्यास—भारतीय श्रमण, (557-589 ई.) इसकी 15 पुस्तकें उपलब्ध हैं।

परमार्थ—गुनरत्न एवं कुलनाथ के नाम से भी प्रसिद्ध, उज्जैन का यह श्रमण 548 ई. में चीन गया। इसने 557-569 ई. के अंदर 40 पुस्तकों का अनुवाद किया जिनमें 32 उपलब्ध हैं। 71 वर्ष की आयु में सन् 569 ई. में उसकी मृत्यु हुई। उसके अनुवादों में अश्वघोष की दो पुस्तकें और आचार्य बसुबंधु का जीवन चरित प्रमुख हैं।

प्रभाकर मित्र—(557-589 ई.), केवल तीन पुस्तकें इरा भारतीय श्रमण की उपलब्ध हैं।

प्रमिति—भारतीय श्रमण (705 ई.), इसकी एक पुस्तक उपलब्ध है।

फाहियान—प्रसिद्ध चीनी भिक्षु, सन् 399 ई. में बुद्धभद्र के साथ-साथ उसने अनेकानेक पुस्तकें लिखीं। स्वानुवादित पुस्तकों में केवल चार उपलब्ध हैं। 86 वर्ष की अवस्था में फाहियान की मृत्यु हुई।

बोधी रुचि—उत्तरी भारत का श्रमण जो सन् 508 ई. में चीन गया। अनूदित ग्रंथों में लगभग तीस उपलब्ध हैं।

बोधी रुचि कश्यप—ब्राह्मण कुलीन, दक्षिण भारतीय श्रमण, पूर्व नाम धर्म रुचि था, (684-705 ई.), 53 ग्रंथों का अनुवाद किया जिनमें 41 उपलब्ध हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि वह 156 वर्ष की आयु में मरा।

बुद्ध भद्र—भारतीय श्रमण, चीनी भाषा में 15 पुस्तकों का अनुवाद किया। कुमार जीव से वह परिचित था, 91 साल की उम्र में सन् 429 ई. में मृत्यु को प्राप्त हुआ।

मैत्रेय भद्र- मग ५ का भारतीय श्रमण लिअ-ओ शाखा के राजा का यह गुरु था (907-1125 ई.) 5 उपलब्ध पुस्तकों का प्रणेता।

रत्न मति—भारतीय श्रमण (508 ई.) दो पुस्तकों का प्रणेता।

रत्न-चिंता—एक श्रमण, (693-727 ई.) काश्मीर निवासी, सात पुस्तकों का अनुवादक। सौ वर्ष जिया।

वज्र बोधी—ब्राह्मण.कुलीन दक्षिण भारतीय श्रमण, सन् 719 में चीन गया और वहीं 71 वर्ष की अवस्था तक जीवित रहा। ग्यारह पुस्तकों का प्रणेता।

वाष्प—तिब्बत का श्रमण, कुबलाई खां का सलाहकार, इसने सन् 1269 ई. में मंगोलियन भाषा की रूपरेखा तैयार की।

संघ वर्मन (506-520 ई.) श्याम देशीय श्रमण, 9 ग्रंथों का अनुवादक।

सुभाकर सिंह—भारतीय श्रमण, नालंदा बिहार से सन् 716 में चीन गया, सन् 175 में 99 वर्ष की अवस्था में मरा। 5 पुस्तकों का प्रणेता।

हुई-ची (प्रज्ञा)—भारतीय श्रमण, चीन में पैदा हुआ, पिता ब्राह्मण थे, सन् 692 ई. में एक पुस्तक का अनुवाद किया जो उपलब्ध है।

ज्ञानगुप्त—(561-600 ई.) गांधार का श्रमण, 38 पुस्तकों का प्रणेता, सभी उपलब्ध हैं। 78 वर्ष की अवस्था में मरा।

ज्ञान श्री—सन् 1053 ई. में यह भारतीय श्रमण चीन गया। दो उपलब्ध पुस्तकों का प्रणेता।

इनके अलावा भारत से चीन जाने वाले कुछ लोगों का पता डा. राधाकृष्णन् की पुस्तक 'इंडिया एंड चाइना' से चलता है। प्रमुख लोगों में, संघभूति (381 ई.) गौतम संघदेव (384 ई.), पुष्य मत और उसका शिष्य धर्माशय (397 ई.), बुद्धाशय (चौथी शताब्दी), विमलाक्ष (406 ई.) धर्मक्षेम (414 ई.), बुद्ध जीव (423 ई.), गुण-वर्मन (431 ई.), बोधी धर्म (520 ई.), विमोक्ष सेन (541 ई.) एवं धर्मगुप्त (590 ई.) विशेष उल्लेखनीय हैं।[5]

यह ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त अनुवादक न केवल चीन और भारत के ही श्रमण या गृहस्थ थे अपितु गांधार, खोतान, तिब्बत, सायम एवं सुदूर लंका तक के निवासी थे। बौद्ध-धर्म से संबंध रखने वाले ग्रंथों के अनुवाद के अलावा भारतीय संस्कृति विषयक ग्रंथ भी अनुवादित हुए थे। अनूदित ग्रंथों में दो विशेष महत्व के हैं–(1) स्वर्ण सप्तती शास्त्र और (2) वैशेषिक 'दस पदार्थ' शास्त्र। पहली पुस्तक 'साख्य-करिका' की टीका है और दूसरी कणाद के वैशेषिक दर्शन पर लिखी गई है।[6]

जे.एच. कजिन्स ने एक स्थान पर लिखा है–'अशोक के समय में, चीन और भारत में, पारस्परिक सांस्कृतिक एकता फल फूल रही थी। भारत के पुरोहित एवं कलाकार चीन में आश्रय पाते थे। एक समय राजधानी लो-यांग में तीन सहस्त्र भारतीय योगियों के अलावा दस हजार भारतीय परिवार जीवन यापन करते थे। ये अपने संग अजंता और एलौरा की चित्रकला के आदर्श ले गए थे। इन्होंने ही चीनियों को लिपि-ज्ञान कराया। बौद्ध धर्म के साथ-साथ भारतीय कला एवं विद्या ने चीन पर ई.पू. पहली शताब्दी में ही अपना प्रभाव जमा लिया था।

"चीन में बौद्ध कला से हिंदू कला गले से गले मिली। फलतः भारतीय शैली बदलकर चीनी हो गयी..."।[7]

बौद्ध धर्म के 'सत्य' का स्वागत चीनवासियों ने मुक्त हृदय से किया। चीन की विचारधारा के साथ जब भारत की सांस्कृतिक धारा मिल गई, तब एक नये चीन देश का जन्म हुआ जिसका अस्तित्व आज तक है। चीन पर भारतीय अध्यापकों का कैसा प्रभाव पड़ा है, इसका परिचय, इन शब्दों में मिलता है–"चीन पहले बौद्ध मिशनरियों को नहीं भूल सकता। अनुवाद और प्रचार के अति कठिन कार्य उन्होंने बड़ी सच्चाई, ईमानदारी और सफलता के साथ किये।"[8]

तीसरी शताब्दी के मध्यकाल में (इत्सिंग के अनुसार) चीन से बीसेक सन्यासी भारत आये थे जिनके लिए किसी 'गुप्त सम्राट' ने बोध गया के पास एक 'चीन-संघाराम' बनवा दिया था। इनके अलावा चे-मांग (404-424 ई.), सुंग-युन (530) वांग हुएन शी (634-647 ई.) आदि की भारत-यात्रा भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।[9] साधारणतः चीन में बौद्ध धर्म ग्रंथों को लोग 'त्रिपिटक' के नाम से जानते हैं जिनमें केवल विनय, अभिधम्म और 'सूत्र' ही हैं। 'चीनी त्रिपिटक' से ऐसा भास होता है कि चीनी भाषा में विभिन्न धर्म-ग्रंथ सुरक्षित हैं। जापान से ताई-शाओ नामक चीनी त्रिपिटक का एक नया संस्करण निकला है जिसमें 2184 सूत्र हैं। पहले संस्करण में 2278 सूत्रों का पता चला है, पर खो जाने के कारण अब केवल 2184 सूत्र ही बच रहे हैं। इतिहास साक्षी है कि बौद्ध धर्म के विरुद्ध होने के कारण दो-एक चीनी सम्राटों ने बहु। से मठ जला दिये थे जहां बहुमूल्य पुस्तकें संग्रहीत थीं।

भारत के इन दो स्थानों, (1) चीनी भवन, विश्वभारती, शांतिनिकेतन, (2) मूल गंध कुटी बिहार, सारनाथ, में निम्नांकित चीनी-त्रिपिटकों के संस्करण देखे जा सकते हैं—(क) सुंग शाखा का संस्करण (960-1286 ई.), जिसे ड्रैगन एडीशन भी कहते हैं, (ख) चिंग-शाखा का संस्करण (1644-1911 ई.) और (ग) संघाई संस्करण का एक पूरक सहित। (क) में 1921, (ख) में 1666 और (ग) में 1916 रचनाओं का पता पूरक के साथ चलता है।

एक चीनी बौद्ध विद्वान लु-चेंग के मतानुसार चीनी त्रिपिटक के 16 संस्करण हुए हैं—4 संग शाखा में, 5 युनान-शाखा में, एक मिंग शाखा में, 4 चिंग शाखा में और 2 प्रजातंत्र शाखा में।

भारतीय संस्कृति का प्रभाव चीनवासियों के जीवन के हर अंग पर समान रूप से पड़ा है—यह ध्यान में रखने योग्य है। साहित्य में गद्य एवं पद्य के क्षेत्र में, चिन-राज्य (265-423 ई.) और थांग राज्य (618-907 ई.) ने कमाल कर दिखाया है। आगे चलकर मिंग शासन में (1368-1643 ई.) दार्शनिक रचनाओं का विकास हुआ।

थान-शासन काल में शोन वेन नामक एक बौद्ध भिक्षु ने संस्कृत में वर्णित भारतीय लिपि शास्त्र के आधार पर चीनी लिपि को परिष्कृत कर छोटा रूप (36 वर्णों का) दिया। पर खेद का विषय है कि यह वर्ण माला जन साधारण के बीच पनप न सकी।

ललित कलायें—मूर्तिकला, वास्तुकला आदि पर आज भी चीन के पैगोडा आदि को देखने पर[10] भारतीय प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

भारत के प्राचीन साहित्य की ओर, विशेषतः संस्कृत साहित्य की ओर दृष्टिपात करें तो सहज में ही पता चल जायेगा कि यत्र-तत्र-सर्वत्र चीन विषयक उदाहरण भी भरे पड़े हैं। रामायण और विशेषतः महाभारत में चीनवासियों का उल्लेख है। रामायण का एक उदाहरण लीजिये—

चीनानं परचीनांश्च तुखारान बर्बररानपि।
कांचजनैः कमलैश्चैव कायोनानपि संवृतान्।।[11]

महाभारत में चीनवासियों का वर्णन बहुत बार आया है। उदाहरण के लिए हम आदि पर्व और सभा पर्व के पन्ने पलट सकते हैं। सभा पर्व में एक स्थल पर हम ऐसा वंर्णन पाते है कि अर्जुन की विजयी सेना को रोकने के हेतु भागदत्त ने लड़ाई मोल ली और उस समय उसके साथ अन्य सैनिकों के अलावा चीनी सैनिक भी थे।

स किरानेश्च वृतः प्रग्जेतिपोडभवत्....।

उद्योग पर्व में भी दुर्योधन को भागदत्त द्वारा चीनी सैनिक दिये जाने काँ वर्णन है :

तस्थ चीनैः किरातैश्च कान्चनैरिव संवृतम्।

उद्योग पर्व में ही अन्य स्थल पर चीनी घोड़ों का वर्णन आया है .

वाजिनां च सहस्त्राणि, चीनदेशोभ्यवानि च

पुनः उसी पर्व में——

अर्कजश्च बलीहानां चीनानां धौत मूलकः।

वाण पर्व में;

हार हूणांश्च चीनांश्च तुषारान् सैन्यवां स्तथा।

भीष्म पर्व में :

तथैव रमणाश्चीना स्तंभा च देशमात्रिकाः।

कर्ण पर्व में :

सुमांनंगांश्च वंगांश्च निषादान् पुण्ड्रचीनकान्।

इस प्रकार 'महाभारत' से हमें यह पता चलता है कि भारतीयों की सेना में चीनी सैनिक रहा करते थे और उनसे क्षत्रियों जैसा व्यवहार किया जाता था। वे यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित भी किये जाते थे। परंतु 'मनुसंहिता' का लेखक अचानक उन्हें शूद्रों की श्रेणी में रख देता है।

ललित विस्तर में हम चीनी लघु लेखों का उल्लेख पाते हैं–

ब्राह्मी-खंरोष्टीम् अंगलिपि बंगलिपि, चीन लिपि, हूण लिपि...चतुःपष्टि सिपोनां कतमांत्वं शिक्षयिष्यसि?

कथा सरित् सागर में 'चीनपिष्टप' का वर्णन आया है जिसे भारतीय सोहागिन नारी अपने ललाट पर कुंकुम-बिंदु के रूप में लगाती हैं। हेमचन्द्र के -अभिज्ञान चिंतामाणि' में उसे ही 'सिंदूरतम' कहा गया है :

सिंदूरनागजं नागरश्रंगारभूषणं चीन पिष्टम।

आज भी चीनी सिंदूर भारतीय महिलाओं में बहुत प्रचलित है।

पाली टेक्स्ट सोसायटी से प्रकाशित–'अदुशालिनी' में अट्टकथा या धम्म संगिनी के भाष्य में हम, 'यांसा वासेन दिसा भागा चीन पिट्ठ' आदि का वर्णन पाते हैं। सुत्रनिपात में एक शब्द आया है 'चीनक' जिसका अर्थ टीका में हैं–एक प्रकार का यान। विष्णु पुराण में भी ज्यों का त्यों ऐसा ही प्रयोग हुआ है। अपने 'अभिज्ञान चिंतामाणि' में हेमचन्द्र भी 'चीनक' को यान ही बताता है। हेमाद्रीकृत चतुरंग चिंतामणि में भी वही बात है। शायद शीतकाल में पाई जाने वाली 'मूंगफली' का मूल स्थान चीन ही है। दूसरे शब्दों में 'चिनिया बादाम' हमारे बालकों को बहुत प्रिय है।

राजनिधट में चीन की विभिन्न वस्तुओं का वर्णन आया है–चीना कपूर, चीन कर्कटी, चीनज, चीन बंग आदि।

चीन कपूर का वर्णन भाव प्रकाश में भी आया है। 'सुश्रुत संहिता' में 'चीन पट्ट' का विशेष उल्लेख है। 'दश कुमार चरित' में चीनी वस्त्र का भी वर्णन है–

चीनाम्बरादिना नानाविधेन परिमलद्रव्यनिकरेण मनोभवमर्चयन्ती रेमे।

वृहत्-संहिता में चीन का नाम आया है। 'शक्ति संग्राम तंत्र' में चीन का यों वर्णन आया है :

मानसेशाच्च दक्षिणे मानसेशादक्ष पूर्वे चीनदेशः प्रकीर्तितः।

महाचीनाचर तंत्र उवं चीनाचार प्रयोग विधि नामक दो पुस्तकें तंत्र पर लिखी गई हैं।

कालीदास के अमर नाटक शकुंतला में चीनांशुक का उल्लेख है : चीनांशुकामिव केतोः प्रतिवातं नीयभानस्य।

कुमार संभव में भी

चीनांशुकैः कल्पित केतुभालम्

जैसा वर्णन आया है। मालविकाग्नमित्र में भी 'चीनां शुक' शब्द का उल्लेख है। महाभारत में ऐसा वर्णन है कि चीन देश से 5000 वर्ष पूर्व युधिष्ठिर के राज्य तिलक के समय उपहार स्वरूप रत्नादि बोरों में भरकर आये थे।

चीन और भारत दोनों राष्ट्रों के विद्वान मनीषी एवं साधु पुरुष प्रेम जैसे अमोघ अस्त्र से अतीत काल में सांस्कृतिक एकता क़ायम कर गये।

संदर्भ ग्रंथ

1. ए.बी.ओ.आर.आई. 24: 4-5 अगस्त 1943 में प्रकाशित।
2. हिंदुस्तान रिव्यू, जुलाई 42।
3. देखिए 'चाइनीज़ रिलिजन थ्रू हिंदू आइज़'।
4. देखिये 'प्रवासी' ब.सं. 1350, ज्येष्ठ अक।
5. डा. राधाकृष्णन इंडिया एंड चायना।
6. एस.सी. गुहा—'इंडो-चाइनीज कार्डिएलिटी थ्रू एजेज़' - जे.बी.एच.यू., भाग 89, पृष्ठ 21।
7. जे.एस. कजिन्स—'दी कल्वरल युनिटी आफ एशिया', खंड दो, पृष्ठ-77।
8. रीकेल्ट—'ट्रुथ एंड ट्रेडिशन इन चाइनीज बुद्धिज्म'।
9. राधाकृष्णन्—इंडिया एंड चाइना, पृष्ठ 26-29 तथा पृष्ठ 12-13।
10. एस.सी. गुहा—'इंडो-चाइनीज कार्डिएलिटी थ्रू एजेज़', पृष्ठ 22।
11. रामायण—सं. गैरस्पर गोरेसिओ (पेरिस 1884) 5: 44: 14।

फाहियान की भारत यात्रा

इस तेज रफ्तार के ज़माने में जब हम महान चीनी यात्री फाहियान की यात्रा के वर्क उलटते हैं तो हमें हैरत होती है कि दस हज़ार मील की यात्रा और वह भी पैदल, कैसे पूरी की गई होगी। फाहियान चौथी सदी का एक मशहूर चीनी बौद्ध भिक्षु था। उसकी भा<्र>त यात्रा की वजह चीनी बौद्धों के लिये यहां से बौद्ध धर्म ग्रंथों को ले जाना था। उसकी महान यात्रा ज्ञान की खोज और सत्य की शोध में थी। मध्य चीन मे वह पेदल रवाना हुआ। गोबी के खौफ़नाक रेगिस्तान और हिंदुकुश की बर्फीली पर्वन-श्रेणियों को पार करता हुआ वह पैदल बंगाल की खाड़ी तक आया ओर वहां से जहाज़ द्वारा लका, जावा की यात्रा करते हुये वह वापस चीन पहुंचा। उसकी समुद्र-यात्रा पैदल यात्रा से भी कहीं ज्यादा खतरनाक साबित हुई। फाहियान की इस यात्रा में 15 बरस लगे, जिनमें से 9 बरस चलने में बीते और बाकी पढ़ने में। वह अपनी यात्रा में कम से कम तीस मुल्कों के बीच से होकर गुज़रा। वह अपनी यात्रा की सख्ती और अकेलेपन के बारे में लिखता है– "यात्रा में हमें सिर्फ अपनी ही परछाईं दिखाई देती थी ओर जिसे देखकर हमारा दिल उदासी से भर जाता था।" अपने देश की टीस उसके इन शब्दों से ज़ाहिर होती है–"जब मैने लंका में देखा कि एक व्यापारी रेशमी चीनी पखा भगवान बुद्ध की प्रतिमा पर भेंट चढ़ा रहा है, तो मेरा दिल भर आया और मेरी आंखें आंसुओं से भर गई।"

फाहियान के यात्रा-वर्णन से ऐसा मालूम होता है कि यात्रा के शुरू में उसके साथ कुछ थोड़े से साथी भी थे। कम से कम उनका कारा शहर तक साथ रहा। कारा शहर रुसी तुर्किस्तान के पास कहीं रहा होगा। वहां के बाशिंदे "तबियतों के खूंखार और अजनबियों की तरफ अपने बर्ताव में बेहद कमीने" थे कि फाहियान के तीन साथियों ने वापस चीन लौट जाने का फैसला किया। हुई-चिंग नाम का एक चौथा साथी 'सफेद कोह' की बरफीली चोटियों पर फाहियान की गोद में ही मौत

का शिकार हुआ। वहां इतनी ठंड थी "कि दांत कटकटाते थे और सारा बदन थर-थर कांपता था।" सिर्फ एक साथी फाहियान के साथ भारत पहुंचा, लेकिन यहा आकर जो उसने बौद्ध धर्म की शान देखी और उसकी तुलना में उसे अपने देश में बौद्ध धर्म की हालत इतनी हेय मालूम हुई कि उसने भारत में रहकर ही निर्वाण प्राप्त करने की साधना का फैसला किया। फाहियान के सामने एक महान मिशन था। बड़ी से बड़ी आफतें और बड़े से बड़े आकर्षण उसे अपने मकसद से डिगा न सकते थे। उसे तो वापस चीन पहुंच कर अपने देश में बौद्ध धर्म की बुनियादों को मज़बूत करना था। उसके रास्ते में ज़बरदस्त रुकावटें थीं। यात्रा के शुरू में ही गोबी के हज़ारों मील लंबे चौड़े रेगिस्तान को पार करने का सवाल था। फाहियान लिखता है–"गोबी के रेगिस्तान में न आसमान में परिंदे थे न धरती पर जानवर। गरम-गरम हवा चारों ओर भूत की तरह भनभनाती फिरती थी, जिसके मुक़ाबले का अर्थ था–मौत !"

उत्तर भारत के बरफीले पहाड़, गोबी के रेगिस्तान से कुछ कम खतरनाक न थे, बारहों महीने, सर्दी और गर्मी में जिनकी चोटियां फुटों बरफ से ढकी रहती हैं। फाहियान का ऐसा विश्वास था कि उन चोटियों पर–"खौफनाक जंतु रहते हैं जो जरा सा छेड़ने पर ज़हरीली हवा की फुंकार मारते हैं और जिनके नथनों से बारिश, बर्फ और पत्थर बरसने लगते हैं।" फाहियान लिखता है–"इन जंतुओं से दस हज़ार आदमियों में से कहीं एक बचकर निकल पाता है।" फाहियान बचकर निकल आया, लेकिन वह ऐसा-वैसा यात्री तो नहीं था। उसके दिल में विश्वास की एक ऐसी ज़बर्दस्त आग थी जो पहाड़ों को हिला सकती थी, चाहे पथहीन रेगिस्तान होता–"जहां भूले भटके यात्रियों की सूखी हड्डियां के अलावा कोई रास्ता दिखाने वाला न मिलता ;" चाहे हिंदुकुश पहाड़ की बरफीली चोटियां होतीं "जहां अगला क़दम रखने की जगह न होती और आंखों में अंधेरा छा जाता," और चाहे समुद्र की लहरें होतीं "जो गरजती हुई उठकर एक दूसरे से टकरातीं और फेन छोड़तीं, जिनमें बड़े-बड़े घड़ियाल और समुद्री जीव-जंतु किलोलें करते।" इन सब आफतों में फाहियान के सामने एक ही मकसद होता कि ज्ञान की मशाल और धर्म की सच्ची भावना को उसे अपने देश "बाहरी दुनिया" में यानी चीन ले जाना है। "उसकी आत्मा की भीतरी ज्योति ही उदास घड़ियों में उसे ढाढ़स बंधाती और उसे रास्ता दिखाती थी।"

फाहियान के लिये चीन वास्तव में "बाहरी दुनिया" था। भारत में बौद्ध धर्म का जो गौरव और जो प्रतिभा थी उसकी तुलना में चीन बाहरी दुनिया ही था। अफ़ग़ानिस्तान से लेकर गंगा के दहाने तक, जहां फाहियान दो बरस तक बौद्ध सूत्रों का अध्ययन और बौद्ध मूर्तियों का रेखांकन करना रहा, सारा देश बौद्ध मठों और विहारों के जाल से गुंथा पड़ा था। बौद्ध धर्म के कुछ पुराने केंद्र ज़रूर फीके पड़ गये थे। मिसाल के तौर पर बुद्ध की जन्मभूमि कपिलवस्तु के संबंध में फाहियान लिखता है—"कपिलवस्तु में न राजा रह गया है न जनता। सारी नगरी खंडहर और वीरान हो गई है, महज कुछ पुजारी और क़रीब दस परिवार वहां रहते हैं। रास्ते में शेर और जंगली हाथियों के हमले का खौफ रहता है।" फाहियान लिखता है—"कपिलवस्तु जाने वाले यात्रियों को खतरे से बहुत बचकर जाना चाहिये।" कुशीनगर, जहां भगवान बुद्ध निर्वाण को प्राप्त हुये, इसी तरह वीरान पड़ा था। ऐसा मालूम होता है कि अशोक के बाद सदियों में बौद्ध धर्म धीरे-धीरे अपनी जन्मभूमि छोड़कर उत्तर में केंद्रीभूत हो गया था। अफ़गानिस्तान में उस समय कम से कम तीन हज़ार बौद्ध भिक्षु रहे होंगे। सरहद में बन्नू का ज़िला बौद्ध धर्म का केंद्र था, जहां बौद्ध मठों और विहारों में हज़ारों बौद्ध भिक्षु और सन्यासी रहते थे। यह सब के सब 'हीनयान' के मानने वाले थे। खोतान में 'गोमति' नाम का एक बहुत बड़ा विहार था। पेशावर में सम्राट कनिष्क का एक पगोदा (बुद्ध मंदिर) था जो "चार सौ फुट ऊंचा था जिसमें तरह तरह के बेल बूटे पच्चीकारी और सुनहला काम बना हुआ था।" यह पगोदा यात्रियों के लिए बड़ा दिलकश था। फाहियान के मुताबिक—"दुनिया के सब पगोदाओं में पेशावर का यह पगोदा सब में बड़ा और सबमें आलीशान है।" लेकिन जिस चीज ने फाहियान को सबसे अधिक खींचा वह यह मठ, विहार और मंदिर नहीं थे बल्कि बौद्ध भिक्षुओं का ऊंचे दर्जे का आचार-व्यवहार और बौद्ध धर्म का जनता पर सुंदर प्रभाव था। अगर आचार-व्यवहार से मनुष्य योग्य और उत्तम होता है तो इन चीजों ने जरूर ही पुरातन भारत के भिक्षुओं और सन्यासियों को क़ाबिल और उत्तम बनाया था। फाहियान लिखता है—"गोमति के विहार में भिक्षुओं का आचार-व्यवहार बहुत गंभीर रहता है। वह अपनी पूजा और ध्यान में मग्न रहते हैं। वे निश्चित क्रम के मुताबिक व्यवस्था के साथ बैठते हैं। वे जरा भी शोरगुल नहीं करते। ज्यादातर वक्त मौन रहते हैं। वे अपने भिक्षा-पात्र को नहीं भरते, न परोसने वालों से ज्यादा खाना मांगते हैं। जब किसी चीज की जरूरत होती है तो हाथ के इशारे से मांगते हैं।

"राजाओं का आचार-व्यवहार, उनके तौर-तरीके उस जमाने में उतने ही निर्दोष समझे जाते थे, जितने साधुओं और भिक्षुओं के। फाहियान को यह देखकर बडी ही तसल्ली हुई कि राजा लोग साधुओं और भिक्षुओं की बड़ी इज्जत करते थे। "जब ये लोग बौद्ध भिक्षुओं को कोई चीज भेंट करते हैं, तो अपने मुकुट सर से उतार लेते हैं और जब उन्हें खाना खिलाते हैं तो अपने बाल-बच्चों और खास-खास दरबारियों समेत सामने खड़े रहते हैं। खाना हो चुकने के बाद वे जमीन पर खुद फर्श बिछा कर प्रधान भिक्षु की तरफ मुह करके बैठ जाते हैं। इन लोगों के सामने वे चोकियो या किसी ऊंची चीज पर बैठने का साहस नहीं कर सकते।" बौद्धकाल का यह बयान इसलिये और भी महत्व का है क्योंकि फाहियान गुप्त साम्राज्य के समय भारत आया था। अंग्रेज इतिहासकार बड़े खुश होकर उस काल को–हिंदू प्रतिक्रिया का समय कहते हैं। "कम से कम जहां तक फाहियान के लिखे हुये बयानों का सवंध हे न हमें किसी प्रतिक्रिया की कोई झलक मिलती है और न बौद्ध धर्मावलम्बियों को किसी तरह की नकलीफें दिये जाने का जिक्र मिलता है।" फाहियान यह भी साफ लिखता है कि उन दिनों अयोध्या में और उसके आस-पास हिंदू धर्म के मानने वाले मौजूद थे। एक जगह उसने लिखा है कि–"यहां पर 96 अबौद्ध संप्रदायो के लोग मौजूद हैं जो सबके सब भौतिक संसार (माद्दी दुनिया) को सत्य मानते हैं।" लेकिन एक ऐसे ईश्वर की कल्पना, जो एक खास संप्रदाय के लोगों से बाहर दूसरी संप्रदायों के इप्ट-देवों को ईर्ष्या की दृष्टि से देखता हो, जिसे अंग्रेजी में "ए जेलस गॉड" कहते हैं, इस तरह की कोई कल्पना ही वास्तव में पाश्चात्य कल्पना है। इस तरह की कोई कल्पना या मज़हबी तंगनज़री हमे समुद्रगुप्त और विक्रमादित्य के उन शासन कालों में भी बिल्कुल दिखाई नहीं देती, जिन शासनकालों में हमें उत्तर भारत के अंदर हिंदू कला और हिंदू संस्कृति का आश्चर्यजनक पुनरुद्धार देखने को मिलता है।

इस तरह के धार्मिक साम्राज्य का रहस्य जानने के लिये भी हमें दूर जाने की ज़रूरत नहीं है। फाहियान के अपने बयानों से ही हमें इसका पता चल जाता है। बौद्ध धर्म के अंदर यह चीज़ कुदरती और मौलिक थी। भगवान बुद्ध ने जो सबसे बड़ा काम किया वह यही था कि उन्होंने अपने भीतरी ज्ञान की नई मदिरा को हिंदू धर्म की पुरानी बोतलों में ढाला। लेकिन यह मदिरा इतनी तेज थी, इसका असर इतना जादू भरा था कि उसने अंधविश्वासों और रुढ़ियों के उस सब रहे-सहे

कचरे को जो सदियों के ब्राह्मण प्रभुत्व ने उन बोतलों में जमा कर दिया था बाहर निकाल कर फेंक दिया। दूसरे शब्दों में बुद्ध ने हिंदू धर्म का बहैसियत एक धर्म के विरोध नहीं किया, बल्कि ब्राह्मणों ने जिस धर्म को अपना पेशा बना रखा था उसका विरोध किया। ब्राह्मणों ने भी इसका बदला लिया। धीरे-धीरे उन्होंने बौद्ध धर्म पर वार किया। उसे अपने काबू में किया, उसके अंदर मूर्ति पूजा और उसके साथ चलने वाली भावना को दाखिल कराया, बौद्ध धर्म के शुद्ध प्रारंभिक तेज को रुढ़ियों के बादल से ढक दिया, उसे इतनी चतुराई के साथ तोड़ा और मरोड़ा कि फाहियान के समय का बौद्ध धर्म सनातन हिंदू धर्म के सब बाहरी आडम्बरों से घिरा हुआ दिखाई देता था, यहां तक कि स्वयं बुद्ध भगवान हिंदू देवताओं में से एक दिखाई देने लगते हैं जिन्हें ब्रह्मा ने अपना संदेश देकर दुनिया में भेजा था, बौद्ध धर्म का रूप कहां से कहां पहुंचा। समय ने उससे किस तरह बदला लिया। बुद्ध ने बिल्कुल साफ-साफ शब्दों में–''जादू-टोने, शकुन परीक्षा, फलित ज्योतिष, देवताओं के नाम पर बलि, जंतर-मंतर" जैसी चीजों की जबरदस्त मनाही की थी। लेकिन फाहियान जिस बौद्ध धर्म का हमें हाल सुनाता है उसमें यह सब चमत्कार भरे हुए हैं। स्वयं बुद्ध के पद-चिन्हों की, उनकी खोपडी की, उनके दांतों की, उनके पीकदान की, उनके दंड कमंडल की, सबकी पूजा होती थी। जहां कहीं बुद्ध भगवान ने अपने गीले कपड़े सुखाये या अपने केश मुंडवाये या पैर के नाखून कटवाये वहीं एक स्तूप खड़ा हो गया। चीनी भाषा में तक्षशिला का अर्थ "सिर मुंडवाना" है। तक्षशिला का नाम तक्षशिला इसलिये पड़ा क्योंकि कहा जाता था कि वहां पर बुद्ध ने एक भूखे बाघ को आहार पहुंचाने के लिये अपना शरीर दे दिया था। बुद्ध भगवान अपनी माता को, जो मर चुकी थीं, अपना धर्म समझाने के लिये तीन महीने स्वर्ग में जाकर रहे थे। जब वहां से उतरे तो पहले पहल कपिशा में कदम रखा ; इसलिये वह एक तीर्थ बन गया। अयोध्या के बाहर एक जगह है जहां बुद्ध भगवान ने दतून करके उसे ज़मीन में गाड़ दिया था और वह दतून उसी क्षण एक दस फुट ऊंचा दरख्त बन गई। बनारस में बुद्ध ने जिन लोगों को अपना धर्म समझाया, उसमें से पांच सौ अंधों को उसी समय से दिखाई देना शुरू हो गया। इन चीजों के होते हुये फाहियान की पुस्तक में हिंदू धर्म और बौद्ध धर्म के कोई आपसी झगड़े दिखाई नहीं देते तो क्या आश्चर्य है? क्योंकि उस समय तक बौद्ध धर्म इतना बदल गया था कि वह हिंदू धर्म ही का एक विचित्र और अप्राकृतिक रूप रह गया था।

अंधविश्वासों का जो घना जगल शुरू के बोधिवृक्ष के चारों तरफ उग खड़ा हुआ था, उससे बाहर निकलकर उस स्वतंत्र वायुमंडल में प्रवेश करना, जिसका खाका फाहियान ने खींचा है, बड़ा सुखद मालूम होता है। गुप्त सम्राटों के जमाने में राजनैतिक जीवन की जो सबसे खास चीज मालूम होती है आज़ादी थी। फाहियान का अपना बयान इतना चमकता हुआ है कि उसे उसी के शब्दों में देना ठीक होगा। वह लिखता है—"लोग सुखी और खुशहाल हैं। न किसी की रजिस्ट्री होती है और न राज की तरफ से किसी तरह की रोक-थाम है। सिर्फ जो लोग राजा की जमीन जोतते हैं। वे जो कुछ उस जमीन से मुनाफा कमाते हैं उस पर लगान अदा कर देते हैं। जो जाना चाहते हैं, जा सकते हैं। जो ठहरना चाहें ठहर सकते हैं। राजा की तरफ से किसी को शारीरिक दंड नहीं दिया जाता। मुजरिमों पर उनके जुर्म के अनुसार केवल जुर्माना ले लिया जाता है, यहां तक कि राज के खिलाफ बगावत करने वाले से भी। अगर वह दूसरी बार वही जुर्म करे तब सिर्फ दाहिना हाथ काट लिया जाता है। देश भर में कोई किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता, न कोई शराब पीता है, न कोई प्याज या लहसुन खाता है। लेकिन चांडालों को बस्ती से अलग रखा जाता है। चांडाल एक तरह के पतित लोग होते हैं।" वास्तव में वह एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था थी, जिसमें एक मात्र कलंक की चीज चांडालों का अस्तित्व था। इस शान और करीब-करीब आदर्श शासन की उस फौलादी स्वेच्छा शासन के साथ तुलना से हमें समाजवाद और व्यक्तिवाद का वह भेद जो युगों से चला आ रहा है साफ दिखाई देने लगता है। कौटिल्य एक ऐसे समाज का चित्र हमारे सामने पेश करता है "जनता को पीस देने वाली नौकरशाही के प्राणनाशक फौलादी पंजे के अंदर जिसका दम घुट रहा था।" पांच सदियां गुजर जाने के बाद एक ऐसी शासन पद्धति देखने को मिलती है जहां ज्यादा से ज्यादा राजनैतिक क्षमता और उसके साथ व्यक्ति की स्वतंत्रता में कम से कम हस्तक्षेप दोनों मिले हुये दिखाई देते हैं। क्या वह बौद्ध धर्म जो राजर्षि अशोक ने इतनी दया के साथ दुनिया के सामने रखा इस तब्दीली की वजह नहीं था? अगर था तो यह सोचकर कुछ संतोष होता है कि अगरचे बौद्ध धर्म के धार्मिक पहलू को ब्राह्मणों के कर्मकांड और रुढ़ियों के जंगल ने चारों तरफ से ढक दिया था फिर भी राजनैतिक क्षेत्र में बौद्ध धर्म की जड़ें दूर-दूर तक गहरी पहुंच गई थी।

भारत और जापान : सांस्कृतिक आदान-प्रदान

पिछले अध्यायो में हमने दक्षिण पूर्व एशियाई देशो और चीन मे वोद्ध धर्म के प्रसार की चर्चा की है। ईसा की छठवीं सदी में बौद्ध धर्म ने कोरिया होने हुये जापान मे प्रवेश किया। जापान उस समय इतिहास के एक नाजुक दौर से होकर गुजर रहा था। जापान के दो प्रमुख कबीले - मोगा और मोने घमासान आंतरिक गृह-युद्ध में जीवन-मरण की बाजी लगाये हुये थे। सन् 587 ईसवी में युद्ध की निर्णायक विजय का सेहरा पराक्रमी सोगा जाति के सिर पर बधा। सोगा बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। उनके निकट बौद्ध धर्म शाति का धर्म था ; नैतिक मूल्यों के चरम उत्कर्ष का धर्म था। जापानी जन-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर राजनैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक सब पर बौद्ध धर्म का दूरगामी प्रभाव पड रहा था। जापान में बौद्ध धर्म का प्रसार विद्युत गति से हुआ। प्राचीन रुढिग्रस्त धर्म पर बौद्ध धर्म की विजय पुरातन पर नूतन की विजय थी। पुराने धर्म के विधि-विधान, पूजा-विधि, देवगण सभी को नये धर्म ने आत्मसात् कर लिया। बुद्धिवादी बौद्ध-धर्म जापान की बौद्धिक क्षमता ओर समन्वय शक्ति के लिये एक चुनौती था। जापान ने उसे स्वीकार किया। परिणामस्वरूप न केवल जापान का आध्यात्मिक स्तर ऊचा उठा, वरण जापान की सांस्कृतिक संपदा का बहुविधि विस्तार हुआ।

कोरिया में जब पैकचे शासन था, उस समय कोरिया से बौद्ध धर्म जापान पहुंचा। बौद्ध धर्म के साथ-साथ लेखक, कवि, पत्रकार, चित्रकार, सेतु निर्माण करने वाले भी कोरिया से जापान पहुंचे। यह एक ऐसी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना थी जिसका उल्लेख 'निहान शोकी' में ईसवी 463, 544 एवं 588 में किया गया है। यहीं नहीं, कोरिया से जापान में बौद्ध धर्म के प्रचार और प्रसार के लिये ज्योतिषी, निर्माणकला के विशेषज्ञ, कुशल चित्रकार, वैद्य, सेतु निर्माण करने वाले और बौद्ध भिक्षु धर्म प्रचार के लिये कोरिया से उगते सूरज के देश जापान पहुंचे।

साम्राज्ञी सुइको, जो सन् 593 ईसवी में जापान के सिंहासन पर बैठीं, उन्होंने अपने भतीजे राजकुमार सोतोकु ताइशि को अपना प्रतिशासक (रीजेंट) बनाया। सोतोकु ने बौद्ध धर्म को जापान में दृढ़ और स्थायी बुनियाद पर कायम किया। इतिहास उसे "जापान के अशोक प्रियदर्शी" के नाम से जानता है। राजकुमार सोतोकु ने ही (ईसवी सन् 574-621) में सत्रह धाराओं वाला सबसे पहला संविधान बनाया, 'त्रिरत्न' (बुद्ध, धर्म और संघ) जिसके आधारभूत सिद्धांत थे।

राजकुमार सोतोकु ने ही जापान में बौद्ध मंदिरों के निर्माण का कार्य प्रारंभ किया, जिनकी निर्माण कला सम्पूर्णतः शुद्ध जापानी थी। फिर तो एक के बाद एक अनेकों बौद्ध मंदिर, मठ और बिहार बने जिन्होंने जापान की मंदिर निर्माणकला को चार चांद लगाये। इनमें होर्युजी मंदिर की निर्माण-कला उस काल की सर्वोत्तम मंदिर निर्माण-कला समझी जाती है। सोतोकु ने सोचा कि सूत्रों के अध्ययन और मनन के लिये राजधानी से दूर एकांत निर्जन में बुद्ध मंदिर और मठों का निर्माण होना चाहिये। ऐसा निर्जन एकांत उसे इकारुगा ग्राम के निकट दिखाई दिया। यहां उसने अपना राजभवन, होर्युजी मंदिर, भिक्षु-निवास, स्वर्ण भवन (गोल्डन हाल), 'कोदो' अर्थात् सूत्र प्रेक्षागृह (आडीटोरियम) का निर्माण कार्य प्रारंभ कराया। जो भी उस निर्माण की विशालता और वैभव को देखता मुग्ध हो जाता। काष्ठ के प्रकोष्ठों पर चमकदार सिंदूरी लाल रंग चढ़ा हुआ था। छत की खपरेल (टाइल्स) सूर्य के प्रकाश में चमकती रहती हैं। ओल्ती में लटकती हुई घंटियां वायु के प्रवाह के साथ बज उठती हैं और मुग्धकारी संगीत ध्वनि की लहरें तरंगित हो उठती हैं। आबादी के कोलाहल से दूर संसार त्यागी भिक्षु यहां प्रेक्षा-ध्यान में मग्न हो जाता है। बीच में गगन-चुंबी पगोदा के बीच-बीच में नौ स्वर्णिम परिवेष्टन हैं। चौतरफा फैले ये संपूर्ण निर्माण प्राकृतिक वातावरण की पृष्ठभूमि में भय-मिश्रित आश्चर्य से दर्शक के मन को आयुर्भूत कर लेते हैं। अष्टकोणीय 'युयेडोनो' अथवा 'स्वप्न-भवन' अब भी अपने संपूर्ण ऐश्वर्य के साथ खड़ा हुआ याद दिलाता है कि किसी समय प्रिंस शोतोकु का वहां निवास था। स्वप्न भवन के भीतर शोतोकु की ऊंचाई की अवलोकितेश्वर की एक स्वर्ण आवरण मंडित कांस्य (ब्रास) मूर्ति है जिसके हाथ में 'चिंतामणि' रत्न है जिसकी चमकती हुई प्रकाश-किरणें चारों दिशाओं को आलोकित करती हैं। कलश पर एक कमल पुष्प पर मूर्ति खड़ी हुई है। मूर्ति के सर पर छतरी है। चिंतामणि के रूप में धर्म-किरणें

चारों दिशाओं को आलोकित करती हैं। मूर्ति बोधिसत्व की प्रतीक है जो उनकी मोक्षदायिनी शक्ति को प्रकट करती है।

कोण्डो-स्वर्ण भवन में भित्ति-चित्रों का पेनल चित्रित है जिसके चित्र भारत में इस तरह के पेनल में बने चित्रों से मिलते-जुलते हैं। उन भित्ति चित्रा मे सातवीं शताब्दी के भारत की प्रतिभा झलकती है। ईसवी सन् 643-646, 648-649 और 657-661 में हुएन्त्सांग के निर्देशन में बिहार में बौद्ध बिहारों में ऐसे भित्ति-चित्र अंकित किये गये थे। बाद में उन चित्रों को चालीस जिल्दों में उतारा गया। उन्हीं जिल्दो में से कतिपय कोरियन चित्रकार हान्जित्सु जापान लाया। होर्यु-जि के भित्ति चित्र उन्ही के आधार पर चित्रित किये गये।

बौद्ध धर्म के आगमन के पूर्व जापान में प्रचलित प्राचीन धर्म शिन्तो धर्म था। शिन्तो धर्म का मूल सिद्धांत था–'देवताओं के मार्ग पर चलो।' शिन्तो मूल रूप से चीनी शब्द है। बौद्ध धर्म के आगमन से पूर्व चीनी भाषा जापान में एक शताब्दी पूर्व प्रवेश कर चुकी थी। उससे पूर्व शिन्तो के लिये जापानी में कोई शब्द नहीं था। चीनी भाषा ने जापान के प्राचीन धर्म को शिन्तो धर्म का नाम दिया। शिन्तो धम का बौद्ध धर्म में पूरी तरह आत्मसात हो जाना अवश्यम्भावी था क्योंकि शिन्तो धर्म में इस जीवन के पश्चात् किसी दूसरे जीवन की कल्पना नहीं थी, न ही उसके कोई नैतिक विधि-विधान थे, जबकि बौद्ध धर्म ऊंचे से ऊंचे नैतिक मूल्यों पर विश्वास करता था। इस जीवन के पश्चात् बौद्ध धर्म के पास निर्वाण अथवा मोक्ष का विधान था, इसीलिए शिन्तो धर्म बौद्ध धर्म के समक्ष नहीं ठहर सका। उसका बौद्ध धर्म में समावेश हो गया लेकिन उसका अस्तित्व नहीं मिटा। उसके जीवन सिद्धात, उसके तीज-त्यौहार बच गए, उसके पूजा स्थान बच गए और उसकी रुढियां बच गईं। वास्तव में शिन्तो धर्म जापान के राष्ट्रीय जीवन की बुनियाद है। शिन्तो धर्म के सिद्धांत के अनुसार सृष्टि के सृजन के बाद पहले धरती पर देवताओं का निवास था। धीरे-धीरे देवताओं की संतान सारी पृथ्वी पर छा गई। मानव की वहा कोई गुंजाइश नहीं थी। सृजन-कर्ता पुरुष देवता 'इजानगी' था और स्त्री देवी 'इजानामी' थी। पुरुष देवता की बाईं आंख से चन्द्र देवता का जन्म हुआ। सूर्य देवी का पौत्र जापान का पहला सम्राट बना, तबसे निरंतर उसी की संतानें जापान पर शासन कर रही हैं। इस समय सूर्य वंश का 123वां उत्तराधिकारी जापान का वह सम्राट था जो

सन् 1928 में जापान की गद्दी पर बैठा। इस तरह हम देखते हैं कि सूर्यदेवता 'आमातिरासू' ही शिन्तो धर्म के अनुसार जापान के प्रमुख देवता हैं और जापान के 'इसे' नगर में उनके मंदिर में जापानी तीर्थ यात्रियों का तांता लगा रहता है।

सर चार्ल्स इलियट के अनुसार शिन्तो धर्म न बुद्धिवादी है न भावनावादी। इसका कोई नैतिक विधान नहीं है। उसकी प्रार्थनाएं और बलिदान बुनियादी लाभ के लिये किये जाते हैं। उसके निकट जापान देवताओं का देश है। देवताओं में जो सबसे बड़ा देवता है, जापान के सम्राट के रूप में वह जापान पर शासन करता है। सन् 1927 में शिन्तो धर्मावलम्बियों की संख्या 1,60,38,437 थी। दूसरे महायुद्ध में जब जापान जीवन-मरण संग्राम में उलझा हुआ था सम्राट के निजी धर्म के रूप में शिन्तो धर्म की महत्ता बढ़ गई।

बौद्ध धर्म के बारह संप्रदाय

जापान में इस समय बौद्ध धर्म के बारह विविध संप्रदाय हैं। वे हैं ; होस्सो, केगान, तेनदाई, शिगौन, मुजुनेम्बुत्सु, जोदो, रिमजाई, साडो, उवाकु, शिन, निचरिन और जी। इनमें से पहले आठ संप्रदाय चीन से आये। अंतिम चार बारहवीं शताब्दी के अंत में अस्तित्व में आए।

बौद्ध धर्म के प्रारंभिक वर्षों में उसकी जड़ों को मजबूत करने में प्रिंस रीजेंट सोतोकू ताइशी (572-631 ई.) का बहुत बड़ा हाथ था। सोतोकू बड़े ऊंचे दर्जे के राजनीतिज्ञ, प्रचंड योद्धा और महान विद्वान और अत्यंत प्रभावशाली शासक थे। उनके प्रभाव से जापान में बौद्ध धर्म की जड़ें गहराई के साथ जम गई। सोतोकु के प्रभाव से शिन्तो धर्म के साथ एक समझौता हो गया, जिसके अनुसारा शिन्तो देवी-देवताओं को बोधिसत्वों का दर्जा दे दिया गया। उनके मंदिर और पूजा घर बौद्धों के संरक्षण में कर दिये गए। इस तरह बौद्ध धर्म जापान का एकमात्र महत्वपूर्ण धर्म बन कर स्थापित हो गया। धीरे-धीरे बौद्ध धर्म 'बुद्ध, धर्म और संघ' की परिधि से बाहर निकल कर जब राजनीति में दखल देने लगा तब कहीं-कहीं टकराव की सूरत भी पैदा हुई। जापान धीरे-धीरे धर्म और शासन के द्वंद में इतना फंस गया कि बौद्ध संघ बड़े प्रतापी बन गए। हेजान बौद्ध विहार के भिक्षु इतने शक्तिशाली हो गए कि सम्राट शिसकावा ने एक बार कहा था—"तीन बातों पर मेरा काबू नहीं है—कामो

नदी की बाढ़ के ऊपर, चौसर में पासा फेंकने पर, और हेजान के बौद्ध भिक्षुओं पर।"

जापानी बौद्ध धर्म को महायान की संज्ञा दी जाती है, किंतु मग चार्ल्स इलियट के अनुसार—"यह सही है कि जापानी बौद्ध धर्म महायान के सिद्धातों का पालन करता है, विगत हज़ार वर्षों से पालन करता आया है, किंतु उस पर जापान की माटी की अमिट छाप है। जापानी बौद्ध धर्म की जिस शाखा की विगत आठ सौ वर्षों से प्रतिष्ठा बढ़ी है, वह बौद्ध धर्म की 'निचिरेन' शाखा है। इसके प्रचारक सस्थापक निचिरेन के नाभ से ही संप्रदाय का नाम पड़ा। निचिरेन ने बौद्ध धर्म को जापान के राष्ट्रीय धर्म की संज्ञा दी। निचिरेन ने बुद्ध की पूजा पर ही बल दिया और अमिताभ की पूजा का खंडन किया। उसने लोटस (पद्म) सूत्र के अनुसार बौद्ध धर्म के सिद्धांतो का पालन करना उचित बताया। लोटस सूत्र को ही उसने शाक्य मुनि की शिक्षा का सार-तत्व कहा। इसी निचिरेन बौद्ध संप्रदाय के विशेष निखरे हुए रूप का सोका गाकाई के संस्थापक मकी-गुचि-सुने-सबुरो ने पालन करने का उपदेश दिया। मकी गुचि ने युद्ध का विरोध किया और फिर से एक बार लोगों को अहिंसा की महत्ता समझाई। मकिगुचि को युद्ध के विरुद्ध प्रचार करने के कारण बंदी बनाकर जेलखाने में डाल दिया गया। उनके उत्तराधिकारी 'टोडाजोसेई' को दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान गिरफ्तार कर लिया गया। अनेक वर्षों तक उन्हें जेल में यातनाएं सहनी पड़ीं। जेल से छूटने पर टोडा ने जापान में शांति और समृद्धि वापस लाने के लिए अहिंसा का प्रचार किया। टोडा के प्रमुख शिष्य 'दाइसाकु इकेदा' ने इस समय निचिरेन बौद्ध संप्रदाय की कमान सम्हाल ली है। जापान में उनके लगभग डेढ़ करोड़ अनुयायी है और जापान से बाहर लगभग पचास लाख अनुयायी हैं। सोकागकाई इंटरनेशनल की बुनियाद सन् 1975 ईसवी में डाली गई। दाइसाकु इकेदा सारे विश्व में घूम-घूम कर अहिंसा, प्रेम और मानव एकता का संदेश करोड़-हा-करोड़ लोगों तक पहुंचा रहे हैं। सोकागकाई मूर्ति पूजा के पक्षपाती नहीं हैं। इसीलिए वे रुढ़िवादी जापानी मदिरों मे नहीं जाते।

सन् 708 ई. मे जापान में उत्खनन द्वारा प्राप्त तांबे के सिक्के बनाने के लिए एक टकसाल खोली गई, लेकिन उसका काम इसलिए रोक देना पड़ा क्योंकि सारा का सारा तांबा बौद्ध मंदिरों के लिए घंटे और बौद्ध मूर्तियां बनाने में खर्च हो जाता

था। इनमें सबसे विशाल बुद्ध भगवान की तांबे की मूर्ति नारा के तोडाई मंदिर में दाइबुत्सु की है। इसका वजन 550 टन है। सन् 749 ई. में सम्राट सोमू ने अपने समस्त दरबारियों के साथ तोडाई मंदिर के सामने इकट्ठा होकर यह एलान किया कि "मैं तीनों का दास हूं ; एक भगवान बुद्ध का, दूसरा बुद्ध धर्म का, तीसरा बौद्ध संघ का।"

सम्राट सोमू की कन्या 'ओकेन' भी बड़ी कट्टर बौद्ध थी। वह सन् 752 ई. में बौद्ध भिक्षुणी बनी।

होर्युजी के बौद्ध मंदिर और बिहार में प्रस्थापित बुद्ध और बोधिसत्वों की कांस्य मूर्तियों पर अनेकों शताब्दियों ने जंग का गहरा रंग चढ़ा दिया है। उन मूर्तियों की आंखों में एक ललक है जो मानवता को हाड़-मांस में देखना चाहती है। होर्युजी मठ में गुप्तकाल की लिखावट में उस्नीशविजयधारिणी से संबंधित संस्कृत के अनेक ग्रंथ मिले हैं। मठ का संपूर्ण वातावरण एशिया की ऐतिहासिक एकता को प्रकट करता है।

आज भी योकुशिजी में 'हानजान' के रूप में महाश्रीदेवी लक्ष्मी की पूजा की जाती है। लक्ष्मी की यहां अत्यंत सुंदर पेंटिंग हैं और यह सन् 727 ईसवी में चित्रित की गई थीं।

याकुशिजी मठ से थोड़ी दूर पर तोशोदाइ-जी मठ है। यहां चीनी बौद्ध भिक्षु गनजिन को निमंत्रित किया गया था कि वे नारा के मठों में जो अनुशासन हीनता आ गई है उसे सुधारने में सहायता दें। गनजिन की जो मूर्ति नारा के मठ में है उससे उसकी स्वाभाविक गंभीरता, प्रशांत मुद्रा और चारित्रिक पवित्रता प्रकट होती है। मठ में अनेकों मूर्तियां हैं जिनमें से प्रमुख गर्भ-गृह में स्थापित विरुशन अर्थात् वैरोचन की मूर्ति है। यहां काष्ठ में निर्मित ब्रह्मा, इन्द्र, चारों लोकपालों की मूर्तियां भी प्रतिष्ठित हैं।

दाइबुत्सु-डेन मठ में विराट रूप वैरोचन बुद्ध की विशाल प्रतिमा प्रतिष्ठित है। सम्राट 'शोयी' ने प्रतिज्ञा की थी कि वह 48 फुट ऊंची प्रतिमा की स्थापना करेगा। भगवान बुद्ध की उस भव्य प्रतिमा के ढालने में बारह वर्ष का समय लगा। 9 अप्रैल सन् 752 ईसवी को इस विशाल प्रतिमा की प्राण-प्रतिष्ठा की गई। प्राण-प्रतिष्ठा के

लिये भारत से प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान बोधिसेन जापान गये। बोधिसेन भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। बोधिसेन पहले ऐतिहासिक भारतीय थे जो जापान के सम्राट के निमंत्रण पर चीन से जापान गये। बोधिसेन सन् 736 ईसवी में जापान आये। चौबीस वर्ष तक जापान में बौद्ध धर्म का प्रचार करते हुए 25 फरवरी 760 ई. में बोधिसेन ने निर्वाण प्राप्त किया। उनके निधन पर उनके पटु शिष्य ताइशो शिन्शु दाइजोक्यो (आयु 51 वर्ष) ने लिखा—"उनकी मृत्यु पर हमने अनुभव किया कि जैसे भवन का आधार टूट गया। अब हम उनके भव्य उपदेश उनकी अपनी वाणी में न सुन सकेंगे। अगाध सागर की तरह उनके गहन ज्ञान की वर्षा हमारे ऊपर अनायास ही होती थी। उनके आध्यात्मिक ज्ञान की धारा कभी सूखी नहीं। उस महान बौद्ध दार्शनिक द्वारा तोदाइजी के बौद्ध विहार की प्राण-प्रतिष्ठा हुई। हम नारा के इस मठ में ऊकेरे ब्रह्मा, इन्द्र, चारों लोकपालों, सूर्य, चन्द्र, सरस्वती और श्रीलक्ष्मी की भाव मुद्राएं देख सकते हैं। विराट अग्निकांड में भी ये काष्ठ-मूर्तियां सुरक्षित बच गई। संसार की सबसे विराट मूर्ति संसार के सबसे विशाल काष्ठ भवन में प्रतिष्ठित अपनी भव्यता और सुकुमारता में अद्वितीय सदियों से जन-जन हिताय, जन-जन सुखाय का संदेश दे रही है। धर्म के लोकार्पण का यह एक महत्वपूर्ण क़दम था। नारा का कौकुजी मठ, सदियों तक मूर्तिकला के विद्यार्थियों का शिक्षागृह रहा है। उसके उत्तरी सर्कूलर हाल में दो प्रमुख भारतीय दार्शनिकों की मूर्तियां हैं जो देखने में सजीव लगती हैं। उनमें से एक वसुबंधु की मूर्ति है जिनका जापानी नाम 'सेशिन' है और दूसरी मूर्ति आसंग की है जिन्हें जापानी 'मुचकु' नाम से जानते हैं। ये दोनों मूर्तियां महान मूर्तिकार 'उनकेइ' द्वारा गढ़ी गई हैं।

सन् 805 ईसवी में एक सुंदर, विद्वान युवा जापानी श्रमण चीन पहुंचा। उस युवा श्रमण का नाम 'कुकाइ' था जो बाद में कोबो दाइशी के नाम से विख्यात हुआ। यह वह समय था जब बौद्ध धर्म की तांत्रिक शाखा चीन पहुंची थी। मंत्रों के मनन और ध्यान के द्वारा बुद्ध की उपासना का यह महायान और हीनयान से भिन्न वज्रायनी रूप था।

सन् 720 ईसवी में कांची का प्रसिद्ध ब्राह्मण दार्शनिक विद्वान, जो बौद्ध दर्शन में पारंगत था, जापान में लोयांग पहुंचा। उसने वज्रधातु केकला और दार्शनिक ग्रंथों का जापानी भाषा में अनुवाद किया। उन्हीं ग्रंथों ने जापान में कला की उन्नति में

सहायता दी। अमोध वज्र (सन् 705-774 ईसवी) का एक अत्यंत मेधावी चीनी शिष्य था। उसका नाम था - हुइ-कुओ (746-805 ईसवी)। इसी से कोबो दाइशी ने मंत्रयान की शिक्षा ली और मंत्रों के प्रयोग में शीघ्र ही पारंगत हो गया। सन् 805 ईसवी में कोबो दाइशी जापान लौटा। साथ में वह सूत्र और उनके चित्रांकन 'महाकरुण गर्भमंडल' और 'वज्रधातु मंडल' लेकर लौटा। कोबो दाइशी के लिये उसके चीनी गुरु हुरकुओ ने प्रसिद्ध चित्रकार 'लि-चेन' एवं अन्य दस सहायक चित्रकारों की सहायता से उन मंडलों का चित्राकन कराया। कोबो दाइशी द्वारा लाये हुए इन चित्रों ने जापान में बौद्ध धर्म की मंत्रयान चित्रांकन सरणि की दागबेल डाली।

उन दोनों मंडलों मे हमें तर्क और ज्ञान, करुणा और शक्ति दोनों का समन्वय मिलता है। यहां साधक उन शक्तियों के साथ तल्लीन हो जाता है जो विश्व का संचालन करती हैं। साधक उससे अन्तःशक्ति प्राप्त करता है। उसका हृदय अंतः ज्योति से प्रकाशित होता है। उस ज्योति का प्रकाश बाहर फैलता है और उचित मार्गदर्शन देता है। माया का आवरण हटता है और अभ्यंतर और बाह्य वातावरण प्रकाशित हो उठता है।

इन दोनों मंडलों में बुद्ध और बोधिसत्व हैं, देव और धर्मराज हैं, ग्रह और नक्षत्र हैं, ऋषि और राषि हैं। इन्हीं मंडलों में गणपति (गणेश), शिव, विष्णु, ब्रह्मा की आकृतियां हैं। शिव और पार्वती जापान में उमा-हि (उमादेवी) और दाइ-जीजाइ-त्तेन (महेश्वर) के रूप में जाने जाते हैं। पार्वती की कल्पना एक जापानी कन्या के रूप में की गई है। उनका जूड़ा भी जापानी कन्या की तरह बंधा हुआ है। उमा और महेश्वर की आकृतियों में जापानी माटी की सोंधी गंध आती प्रतीत होती है। विष्णु का चित्रण इस तरह किया गया है मानो अनंत विश्व को वह अपने मे समेटे हुए हैं।

जापान के देवगणों में गजपति या विनायक का भी स्थान है। गणपति या विनायक का जापानी नाम 'शोदेव' अथवा 'कांगोतेन' है। कांगोतेन को रिद्धि-सिद्धिदाता, सुख और संपत्तिदाता समझा जाता है। गणेश का सबसे प्राचीन चित्र सन् 821 ईसवी का चित्रित है और क्योटो नगर के 'दाइगोजी' मठ में मौजूद है।

कोबोदाइशी अपने चीनी प्रवास में महान काशमीरी बौद्ध दार्शनिक 'प्रज्ञातारा' के संपर्क में आया और उनके दार्शनिक विचारों से बेहद प्रभावित हुआ। इस सपंर्क

ने जापान के सांस्कृतिक उद्‍भव में अभूतपूर्व मार्गदर्शन किया। कोबोदाइशी ने सामान्य जापानी जनता में शिक्षा का प्रचार प्रसार आरंभ किया ताकि शिक्षा बहुजन हिताय—बहुजन सुखाय का साधन बन सके। इससे पूर्व अकादमी और विश्वविद्यालय की शिक्षा केवल धनी और प्रतिष्ठित वर्ग के लिये सीमित थी। कोबोदाइशी ने शिक्षा को सर्व साधारण के लिये सुलभ कर दिया। उसने संस्कृत वर्णमाला के आधार पर पचास अक्षरों की जापानी वर्णमाला तैयार की और इन पचास अक्षरों में एक ऐसी कविता की रचना की जिसमें कोई अक्षर दोबारा प्रयुक्त नहीं हुआ। उस अद्‍भुत कविता को 'इरोह' कहते हैं। यह कविता जापानी भाषा की सर्वोत्कृष्ट कविता समझी जाती है। इस कविता की रचना में 'महापरिनिर्वाण सूत्र' से प्रेरणा मिली। प्रत्येक जापानी बालक-बालिका को यह कविता मुखाग्र कराई जाती है।

कोबोदाइशी को सन् 816 ईस्वी में शाही फरमान मिला कि वह कोयासान की सुरम्य और रमणीक घाटी में अध्यात्म की प्रमुख पीठ की स्थापना करे। इस तरह घने वन से अच्छादित, राजधानी से दूर, दुर्गम पर्वतों के बीच में अध्यात्म पीठ की स्थापना हुई। तब से अब तक 'ओकिनो-इन' धर्मप्राण तीर्थयात्रियों के लिये आकर्षण का केंद्र बना हुआ है। उस सुरम्य स्थल में घनी हरीतिमा के बीच मठ के प्रागंण में कोबोदाइशी अनंत निद्रा में समाधिस्थ पड़े हुये हैं।

इस महान तीर्थ और उसकी पवित्रता के महत्व को समझकर हज़ारों लोगों ने यहां अपनी स्मृति-रक्षार्थ यादगार पत्थर लगा रखे हैं। उनमें सम्राटों, दरबारियों, संतों, दार्शनिकों, सामान्य जनों - सबके यादगार पत्थर शामिल हैं। इन यादगारों को 'गोरिण्टो' अथवा 'स्तूप' कहा जाता है। ये स्तूप पंच तत्वों के प्रतीक हैं—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश—इन्हीं पांचों तत्वों से जीव और जगत का निर्माण होता है। कोबोदाइशी ने इस मंत्रयान मठ का निर्माण सन् 823 ईस्वी में पूरा किया।

कोयासान मठ के निर्माण के बाद कोबोदाइशी को क्यो-ओ-गोकुकु-जी के बौद्ध मंदिर और उसकी भूमि एवं संपत्ति की सुरक्षा का भार भी सौंपा गया। इसे 'तोजी' अथवा पूर्वीय मंदिर भी कहा जाता है। इस मंदिर के सभा-मंडप में मंडल आकार में प्रतिष्ठित इक्कीस मूर्तियां हैं। इन्हें उस दिन की स्मृति में प्रतिष्ठित किया गया है जब नवीं शताब्दी में जापानी जन-जीवन के कल्याण के लिये उस मंदिर और उन मूर्तियों की प्राण-प्रतिष्ठा की गई थी। इन मूर्तियों में इन्द्र, ब्रह्मा, स्कन्द, कार्तिकेय,

सरस्वती आदि देवी-देवताओं की मूर्तियां शामिल हैं। इस मठ में प्राचीन मुखौटों को भी सुरक्षित रखा गया है। इनमें ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य, कुबेर, अग्नि, वशिष्ठ ऋषि और ईश्वर के मुखौटे शामिल हैं।

काश्मीर, कांची और नालंदा से बौद्ध धर्म, दर्शन और अध्यात्म के रूप में जो कुछ जापान पहुंचा, वह नाम, रूप और भावना में जापानी रंग में रंग गया। यहां तक कि वाकदेवी सरस्वती के चित्रण में जो रेखाएं अंकित की गई हैं वे भी जापानी फूलों और विलो काष्ठ का आभास देती हैं। यह सरस्वती का कायिक रूप है। जहां तक उनके 'वाक' रूप का संबंध है, उसका चित्रण सिद्धम-नागरी वर्णमाला में अत्यंत सिद्धहस्त भिक्षु द्वारा किया गया है। इस तरह नाम रूप से रहित सरस्वती की कल्पना की गई है—रूप एवं शून्यता, शून्यता एवं रूप !

जापानी जीवन में कल्पना जगत का वास्तविक जगत के साथ तालमेल बैठाया गया है। 'जैन' बौद्ध धर्म के प्रणेता आचार्य बोधिधर्म को कल्पना और व्यवहार का समन्वयात्मक प्रतीक माना जाता है। बोधिधर्म ने आठ वर्ष तक एक आसन और एक मुद्रा में बैठकर ध्यान योग किया, जब उसने खड़ा होना चाहा तो उसे महसूस हुआ कि उसके पैर जकड़ गए हैं। अब उन पैरों पर खड़ा नहीं हुआ जा सकता। इस तरह कल्पना जगत में मानव का चिंतन जड़ प्रकृति के बंधन के बावजूद जीवित और जाग्रत रूप में चलता रहता है।

बौद्ध धर्म के जिस ग्रंथ का चीन और जापान में सबसे अधिक पठन-पाठन, मनन और पारायण किया जाता है, वह है—लोटस (पद्म) सूत्र। वास्तव में यह मूल संस्कृत के 'सद्धर्म-पुण्डरीक-सूत्र' का चीनी अनुवाद है। संस्कृत से इस सूत्र का चीनी अनुवाद प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान और दार्शनिक कुमारजीव ने किया है। कुमारजीव को जापानी 'कुमाराजू' कहते हैं। कुमारजीव चीनी भाषा का प्रकाण्ड पंडित समझा जाता है। चीनी साहित्य में उसकी लेखन शैली अनुपम समझी जाती है। चीनी साहित्यकार आज भी कुमारजीव की शैली का अनुसरण करते हैं।

कुमारजीव ने चीनी सम्राट याओहित्संग के संरक्षण में चाडंग-आन में पद्म सूत्र (लोटस सूत्र) के अनुवाद का काम शुरू किया। कुमारजीव ने अपनी जीवनचर्या को वातावरण के अनुकूल ढाल लिया। सम्राट याओ कुमार जीव की कठोर परिश्रमशीलता,

मानवीय गुणों, ईमानदारी, वफादारी, साधन-सम्पन्नता, आत्म-त्याग-वृत्ति और प्रतिभा से बेहद प्रभावित हुआ। सम्राट के मन में यह भाव आया कि कुमारजीव की विद्वत्ता उसकी संतानों के माध्यम से चीनी जनमानस को उत्तराधिकार में मिलनी चाहिये। इस विचार से उसने दस सुंदर युवा कन्याएं कुमार जीव के साथ रहने को भेज दीं। कुमार जीव ने सम्राट की मर्जी के मुताबिक नई जीवनसरणि में अपने को ढाला। अपने प्रचार में वह लोगों को ज़ोर देकर कहता था कि—कीचड़ से कमल पैदा होता है, आप लोग कमल को ले लें और कीचड़ को छोड़ दें। किंतु दस कन्याओं से उत्पन्न कुमारजीव के बेटों और पौत्रों ने सम्राट और कुमार जीव की अभिलाषा को पूरा नहीं किया।

कुमारजीव का जन्म कुचा में हुआ था। उसके पिता ब्रह्मण थे और माता 'जीवी' नामक एक कुचियन राजकुमारी थी। कुचा की जनभाषा तोखारी थी। वह ब्राह्मी लिपि में लिखी जाती थी। तोखारी हिंद यूरोपीय समूह की भाषा है। इस तरह कुमारजीव संस्कृत, तोखारी और चीनी भाषाओं का एक समान विद्वान था। लोटस सूत्र ने चीन और जापान के जन-मानस को बेहद प्रभावित किया है। उसमें प्रतिपादित विचारों और मान्यताओं ने तेरहवीं शताब्दी से आधुनिक काल तक जापानी जीवन का मार्गदर्शन किया है। लोगों का विश्वास है कि लोटस सूत्र में प्रतिपादित मान्यताओं के पालन से वे सब पारलौकिक सुख प्राप्त होंगे जिनका उसमें आश्वासन दिया गया है।

जापानी चित्रलिपि कांजी में लिखा हुआ लोटस सूत्र जापान और भारत को गहरे धरातल में जाकर एक सूत्र में बांधता है। भारत और जापान की भावात्मक एकता उतनी ही पुरातन है जितनी कांजी चित्रलिपि।

सन् 799 ईसवी में समुद्री दुर्घटना में ग्रस्त होकर एक भारतीय, जापान में मिकावा के समुद्र तट पर बहता-बहता किनारे लगा। उसकी आयु लगभग बीस वर्ष थी। उसके शरीर पर कोई वस्त्र नहीं थे सिवाय मूंज का कोट और जांघिया। वह एक ऐसे देश में किनारे आकर लगा जहां कोई उसकी भाषा नहीं समझता था। कुछ वर्षों के बाद जब उसने जापानी भाषा सीख ली तो उसने बताया कि वह एक भारतीय है और भारत से आया है। उसने नारा के 'कावाडेरा' बौद्ध मठ में शरण ली थी। जापानी लेखक—'निहान-कोको' और 'रुइजू कोकुशी' लिखते हैं कि यह भारतीय युवक अपने साथ कपास के बीज लाया था। जापान में कपास का उत्पादन उसी भारतीय

के लाये कपास के बिनौलों से प्रारंभ हुआ। कालांतर में कपास जापान के सूती वस्त्र उद्योग का प्रमुख आधार बन गई। सूती वस्त्र के लिये जापानी शब्द है—'हट'। यह मूल संस्कृत 'पट' का ही अपभ्रंश है।

जापान दुनिया में बीसवीं सदी का अजूबा है और जापान का अजूबा 'होकेक्यु' अर्थात् पदम् (लोटस) सूत्र है। लोटस सूत्र के अनुसार जब सामाजिक, राजनैतिक और नैतिक पतन समाज को ग्रस लेंगे तब बुद्ध मैत्रेय के रूप में अवतरित होंगे और संसार में नये कल्याण-युग का प्रारंभ होगा। लोटस सूत्र में 69, 380 चीनी चित्राक्षर हैं। हर अक्षर की एक मूर्नि के रूप में न केवल कल्पना की गई है वरन् उसकी मूर्ति भी गढ़ी गई है।

जापान में प्रचलित महायान दर्शन के अनुसार ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां 'कामी' अर्थात् ईश्वर का निवास न हो। तुलसीदास के अनुसार—जित 'देखूं तित तोय', कांकर, पाथर, ठीकरी सबमें देखूं तोय'। इसीलिये जापानी मानस सदा उल्लास से भरा रहता है। दुनिया अच्छी है, मनुष्य ईश्वर-रूप है, जीवन जीने के लिये है। लोग फलें-फूलें जीविका उत्तम है, संपदा उत्तम है। यौन-संभोग आनंददायक है। वृक्षों के फल स्वादिष्ट हैं। जल और थल के जो सर्वोत्तम फल हैं उन्हीं को ईश्वरार्पण करना चाहिये—उत्तम मछली जो अभी अभी जल से निकली है, ताजे फल, साका मद्य, हिम की तरह धवल चावल। जापानियों के निकट भोजन प्रकृति के साथ एक तादाम्य है।

ईसा की पहली सदी में शाही प्रतिनिधि मंडल उत्तमोत्तम फलों की तलाश में विदेश भेजे गये। सन् 61 ईसवी में सम्राट सुइनिन ने ताजी मामोरि को एक सुदूर देश में संतरा लाने को भेजा। संतरा को तब- तोकि-जिकु नो - कागु-नो-को नोमि-कहते थे जिसका भावार्थ है—मौसम बहार का फल। ताजी मामोरि जब सन् 71 ईस्वी में लौटा तो सम्राट एक वर्ष पूर्व मर चुके थे। ताजी मामोरि ने सम्राट की समाधि पर जाकर फल अर्पित किये और वहीं आत्महत्या कर ली ताकि सम्राट को उस दुनिया में जाकर पूरी रिपोर्ट दे सके। खट्टे-मीठे रसवाला फल संतरा, नारंगी, मौसम्बी, मीठे खट्टे नींबू दुनिया को भारत की देन हैं।

भारत में अन्न की देवी अन्नपूर्णा है जो देश को धन-धान्य से पूर्ण रखती है ; उसी तरह जापान में भी अन्न की देवी हैं जिन्हें 'उके-मोचि-नो-कामी' कहते

हैं। बसंत के प्रथम दिवस के अवसर पर जापानी 'ओनि' अर्थात् दलिद्दर को भगाने के लिये सेत्सु-वन भोज का आयोजन करते हैं। कुटुम्ब के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आयु से एक अधिक ग्रास खाना होता है। आज के दिन भुने हुए मटर घर के भीतर-बाहर छिड़के जाते हैं। भारत में हर शुभ अवसर पर, विशेष कर शादी-ब्याह के मौके पर, चावल छिड़के जाते हैं और अक्षत का तिलक लगाया जाता है।

जापानी दैनिक भोजन में चावल का अनिवार्य स्थान है। जापान मे चावल को 'उरुचि' कहते हैं जो चावल के लिये भारतीय शब्द 'वृहि' का अपभ्रंश है। विद्वानों के अनुसार जापान में चावल भारत से गया। जापान में परोसे हुए भोजन में चाहे जो पदार्थ छोड़ा जा सकता है लेकिन चावल का एक-एक दाना खाना पड़ता है। चावल कठिन परिश्रम से पैदा होता है, इसलिए झूठा चावल छोड़ना नैतिक अपराध माना जाता है। भारत में भी जूठन छोड़ना निषिद्ध है। जापान में भिक्षु को 'श्रमिक भिक्षु' या श्रमण 'भिक्षु' कहा जाता है। 'श्रम' से ही 'श्रमण' शब्द बना है।

जापान में बौद्ध धर्म की प्रारंभिक सदियों मे बौद्ध भिक्षु निरामिष भोजन करते थे। उनके भोजन में चावल, मटर फलिया और सब्जियां प्रमुख होती थीं। सर्वसाधारण जनता भी मांस के बजाय सब्जिया ज्यादा पसंद करती थी, यद्यपि मछली वे चाव से खाते थे। जापान में अमरीका के सबसे पहले राजप्रतिनिधि टाउनसैण्ड हैरिस थे। वे जापान के इजु प्रायद्वीप शिमोदा में रहते थे। वह गो-मांस खाना चाहते थे। उस समय तक जापानी गोमांस नहीं खाते थे। एक दयालु जापानी किसान ने उन्हें एक गाय प्रदान की। उसे नींबू (साइट्रस) के पेड़ से बांध कर जिबह किया गया। इस तरह अमरीकी राजनयिक की गोमांस की क्षुधा तृप्त हुई। बाद में उस नींबू के पेड़ के पास एक यादगार का निर्माण किया गया, उस गाय की स्मृति में जिसने अमरीकी राजनयिक की गोमांस की क्षुधा तृप्त करने के लिये अपने प्राण अर्पित किये। हैरिस को एक लंबे अरसे तक एक मंदिर में शरण लेनी पड़ी। उसे भय था कि कोई जापानी गो-भक्त उसके प्राण हर सकता है और परिणाम स्वरूप वह कारण बन सकता है जापान और अमरीका की शत्रुता का। इस तरह गोमांस-भक्षण का रिवाज जापान में अमरीका द्वारा प्रारंभ किया गया।

सम्राट जिम्मु के शासन काल में पहली बार 'अमे' अर्थात् मिठाई बनाई गई। यह मिठाई बाजरे से बनाई गई। चीनी (शुगर) चीन में पहली बार सातवीं सदी में

भारत से आई। सन् 753 ईस्वी में तांग राजकुल के समय चीनी भिक्षु कानशिन द्वारा चीन से जापान में लाई गई। कोबो दाइशी सन् 804 ईस्वी में चीन से लौटते हुए कुछ मीठे पदार्थ लाया था। बुद्ध की पूजा में जिन पदार्थों का भोग लगाया जाता है उनमें मीठी चीज प्रमुख होती है। जाब्ते से जापान में पहली बार सार्वजनिक रूप से मिठाई बनाने का रिवाज पंद्रहवीं सदी के मध्य में प्रारंभ हुआ। इस तरह भारत और जापान के सांस्कृतिक संबंधों को जोड़ने में उरुचि (चावल) और मिष्ठान्न ने प्रमुख रोल अदा किया। शमन (श्रमण) स्वीट्स (मिठाइयां) और सूत्र तीनों का जापान के इतिहास में एक महत्व है।

जापान में मंत्रयान बौद्ध धर्म के आगमन के साथ-साथ हिंदू देवी-देवताओं, त्रिदेव एवं पंचदेव, ऋषि और मुनि एवं गण देवता गणेश की मूर्तियों की पूजा-अर्चना, ध्यान एवं साधना से वातावरण भर गया। ऋषियों में वशिष्ठ जापान में 'बसुसेन' बन गए। अंगिरा और अत्रि ऋषि अपनी अर्धांगनियों के साथ मंत्रयान के रहस्यमय वातावरण में पूजा-अर्चना के आधार बन गये। रहस्यमय मंत्रों के साथ-साथ उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति विविध मुद्राओं और संगीत में होने लगी।

शिव और पार्वती अथवा उमा और महेश्वर जापान में 'उमाहि' और दाइजिचाह-तेन हो गए। दोनों की चित्र एवं मूर्ति के रूप में जो कलात्मक अभिव्यक्ति हुई वह शुद्ध जापानी है। पार्वती के सिर का जूड़ा जापानी कन्या के जूड़े के समान बनाया गया है। उनकी देह से लगता है जापानी माटी की सोंधी सुगंध उठ रही है। शिव और पार्वती दोनों का वाहन नंदी है।

इसी तरह विष्णु 'जापान में नाराएन-देव' (संस्कृत-नारायण) हो गये हैं। उनका वाहन गरुड़ है। ग्यारहवीं शताब्दी की मूर्ति के अनुसार विष्णु का चेहरा-मोहरा बिल्कुल जापानी है।

जापान में सूर्य आदित्य 'नित्तेलन' बन गए हैं। आदित्य के रथ में सात घोड़े जुते हैं जिसमें पांच घोड़े दिखाई देते हैं। यह चित्र भी ग्यारहवीं शताब्दी का है। सूर्य की मुखमुद्रा बिल्कुल जापानी है।

सरस्वती (जापानी=बेनजाइतेन) निवा तारवाला बाजा के साथ चित्रित की गई हैं। जापानी सूत्र के अनुसार सरस्वती चर और अचर प्राणियों की करुणामयी मां



जापान से प्राप्त उमा और महेश्वर। सन् 806 में आचार्य कोवो दाइशि चीन से गर्भधातु-मंडल के प्रभापट लाए जिनमें ये देवता चित्रित हैं।



मैक्सिको की महिला भारतीय महिला की भांति आटा गूंदकर हाथ से हथपई रोटी सेंकने के लिए तवा गरम कर रही है।

हैं। जापानी कथा के अनुसार अखिल ब्रह्मांड में तीन हजार देवियां हैं। उन सभी में सरस्वती की सदाचारिता से भरी गुणवत्ता प्रख्यात है। सरस्वती ही लोगों को धन-दौलत देती हैं। सरस्वती विद्या का आगार हैं। सरस्वती ही दीर्घायु और आनंद देने वाली हैं। सरस्वती संगीत और वाग्मिता की स्वामिनी हैं। वह मनोरम स्वरों की देवी हैं। सरस्वती लाभ, गुण और ज्ञान की देवी हैं। जापान में सरस्वती को 'गुण-देवी' भी कहा जाता है। धन-लाभ, वाग्मिता, संगीत में दक्षता और ज्ञान की चाहना करने वालों को देवी सरस्वती इन सब गुणों का वरदान देती हैं।

अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के प्राच्य संस्कृति विशारद स्व. डा. रघुवीर के अनुसार जापान में गणेश की पूजा का प्रारंभ सन् 806 ईसवी माना जाता है जिस वर्ष कोबोदाइशी अपने स्वदेश जापान लौटकर आते हैं।

जापान में गणेश के नामों में विनायक, 'शोदेन' और 'कांगीतेन' प्रमुख है। विनायक नाम सर्व साधारण में प्रचलित हैं। कांगीतेन के रूप में गणेश रिद्धि-सिद्धि दाता हैं। जापान के वज्रधातु मंडल में गणेश के पांच गुणात्मक रूपों की चर्चा आती है, वे हैं —

विनायक् को विनायक-त्तेन या कांगी-त्तेन कहा जाता है, जो सौभाग्य देने वाले हैं। उनके एक हाथ में मूली है और दूसरे हाथ में लड्डू है। कोबोदाइशी जो मंत्रयान संहिता चीन से जापान लाए, उसमें विनायक की छवि 'छत्र-विनायक' के रूप में की गई। दक्षिण जापान में एक दूसरी छवि प्राप्त हुई है जिसमें विनायक के एक हाथ में माला है। उसमें विनायक को माल्य-विनायक कहा गया है। पश्चिमी जापान में वज्रवासिन अथवा कांगो-एतेन में विनायक की एक छवि प्राप्त हुई है जिसमें विनायक के हाथ में धनुष है। इसे 'धनुर्विनायक' कहा जाता है। उत्तरी जापान अथवा जया या जोबोकुतेन में प्राप्त तस्वीर में विनायक के हाथ में खड़ग है, उन्हें 'खडग विनायक' कहा गया है। कोबोदाइशी चीन से जो मंत्रयान का वज्रधातु मंडल लाए हैं उसमें गणेश के एक हाथ में मूली है और दूसरे हाथ में कुल्हाड़ी अथवा फरसा है। यह बारहवीं शताब्दी की छवि है।

जापान में गणेश की कई तरह की छवि अथवा मूर्तियां हैं। तोजी मठ में एक छवि में 'युग्म गणेश' चित्रित किए गए हैं। एक दूसरी छवि में 'षटभुज गणेश' अंकित

हैं। उनके इन हाथों में गदा, खडग, कटोरा, चक्र, गजदंत और फंदा है। एक अन्य छवि चतुर्भुज गणेश की है। चारों हाथों में लड्डू, फरसा, गदा और गजदंत हैं। एक छवि त्रिमुख और चतुर्भुज गणेश की है। उसमें दो हाथ जुड़े हुए हैं और अन्य दो हाथों में, एक में लड्डू और दूसरे में मूली है। युग्म-गणेश की एक छवि में एक गणेश का मुंह गज का है तो दूसरे गणेश का वाराह का।

इस तरह बुद्ध और बोधिसत्व, वैरोचन और महाकाल के साथ-मंत्रयान के परिवेश में भारत के प्रमुख देवी-देवता जापानी वेशभूषा और साज-सज्जा में जापान के देवमंडल के अंग बन गए हैं।

मेरा परिचय—मैं श्यामवर्ण अफरीका !

(वाल्टर ई. हाकिन्स की रचना, अनु.: बी.एन.पाडे)

मैं शस्य श्यामला भूमि असीम पुरातन,
मुझमें सचित मणि, मुक्ता, हीरा, पारा,
मेरे निःश्वास जला देते हे धरनी,
मेरे क्रोधानल से है बना "सहाग"[1]।
था मेरा उस दिन जन्म हुआ जगती मे,
जिस दिन धरती ने अपना रूप संवारा !
यह इतिहासों से भी है बात पुरानी,
जब गहन वनों से जगत ढका था सारा ;
गहरी नदिया, दुर्गम पहाड़, वन-प्रांतर,
संस्कृति को देते थे जीवन-रस-धारा ;
मैंने टिम्बकटू[2] कारनाक[3] बनवाये,
मैम्फिस[4] को जग ने अचरज भरे निहारा !
आइसिस,[5] ओसीरिस[6] थीं मेरी गृह-देवी,
जल-थल भजनों से गूंज रहा था सारा।
मेरा परिचय—मैं श्यामवर्ण अफरीका !
उस युग में चहुंदिश था मेरा जयकारा !

मैं ही स्फिंकस[7], पिरेमिड[8] भी मैं ही हूं,
मैं हूं जग की अब तक अनबूझ पहेली ;
अपने पिरेमि[9] के भव्य शिखर पर चढ़कर,
मैंने बिखराई अपनी हंसी नवेली !
सीजर[10] सेनाएं आईं मुझे हराने,

पाया केवल उपहास, पराजय झेली !
यह काल-चक्र मुझको न बांध पाया है,
बेबस, बेकस हो फिरती मृत्यु अकेली ;
कारवां न जाने कितने आते जाते,
करती है उनसे नियति सदा अठखेली !
जो मेरे बल की परिधि नापना चाहें,
मरुथल में बनती उनकी कब्र रूपहली ![11]
मेरा परिचय—मैं श्यामवर्ण अफरीका !
मैंने असीम से सीमित संस्कृति ले ली !

मेरी रजनी के अर्धप्रहर से प्रेरित
होकर जूलू[12] ने पर्णकुटी बनवाई ;
मेरी संतानों के जीवन में सहसा
स्वर्णिम-विहान की पुण्य प्रभा इठलाई ;
मेरे सम्राट रमेसों[13] फिरआने[14] ने
सारे जग में अपनी प्रभुता फैलाई ;
मेरे पूजा मंदिर औ प्रासादों में
टालेमी[15] की थी कीर्ति-ध्वजा लहराई ;
मेरी दुहिताएं शेबा[16] की रानी थीं
हंसता बसंत मुसकाती नव-ऋतु आई ;
प्राचीन मिस्र के सिंहासन के स्वामी
मेरे पुत्रों की विजय - कौमुदी छाई ;
इन नील दुकूलों में उनका पोषण कर
विज्ञान-कला से उनकी ममी[17] बनाई ;
मेरा परिचय—मैं श्यामवर्ण अफरीका !
मेरी महिमा की गाथा जग ने गाई !

मेरी अगाध खानों के द्रव्यों से ही
आधुनिक जगत की सत्ताशाही चलती ;

मेरे कच्चे मालों के बल पर
साम्राज्यवाद की ऐंठन आज मचलती ;
मेरी कपास से ही पुतलीघर चलते
मेरे दानों पर गोरी दुनिया पलती ;
कोयला जला करता मेरा महलों में
साम्राज्ञी मेरा हीरक-हार पहनती ;
ब्रूसेल, पैरिस, बर्लिन के सैलोनों में
मेरी ही माया थिरक-थिरक कर छलती !
    मेरा परिचय—मैं श्यामवर्ण अफरीका !
    मेरा आत्मा दुनिया में पल-पल जलती !

अपने कांगों के उपजाऊ कूलों में
मेरा दुख बनकर गान मचल पड़ता है ;
मेरे टैक्सा के उपजाऊ खेतों में
मेरा दुख बन अभिमान मचल पड़ता है ;
मैं तारों की छाहों में बन में सोता
मेरी साथिन वन-पशुओं की जड़ता है ;
मैं जीवन-दाता सूरज का पूजक हूं
मेरा मन शशि को देख उमड़ पड़ता है ;
भुज-दंडों में मेरे सिंहों का बल है ;
मेरी हड्डी में लोहे सी दृढ़ता है ;
हैं देव बने मेरे लकड़ी, कांसे के
इनसे बलशाली देव कौन गढ़ता है?
मेरे श्रम से पूजा-मंदिर बनते हैं
मुझको प्रवेश-अधिकार नहीं मिलता है ;
मैं फसलें बोता उपजाऊ खेतों में
पर खाने को भर-पेट नहीं मिलता है ;
करता अमरिका मेरे श्रम से मौजें
पर मेरा जीवन-भार नहीं टलता है !

मेरा परिचय—मैं श्यामवर्ण अफरीका !
है "श्वेत-कुष्ट"[18] मेरा यौवन गलता है !

मेरी नदियां कल-कल निनाद से रोतीं
मेरा कोंगो निशि-दिन निश्वासें भरता !
है तरल-रक्त मेरी ही संतानों का
अब तक अमेरिका के कण-कण से झरता !
मे मरा वेगनर[19] मे झंडे के नीचे
फ्लांडर[20] मेरी हड्डी से जाता भरता !
जार्जिया[21] प्रांत में मेरा ही अपना सुत
था चिता-अग्नि में जीवित जलकर मरता !
टैक्मा[22] में गोरी जनता के हाथों से
था जीवित-जागृत ईंधन बनकर जलता !
लेकिन फिनिक्स[23] की तरह चिता-ढेरी से
म लेकर चिर अमरत्व विकल्प निकलता !
मै प्रखर दोपहरी में सूरज के नीचे
अपने कष्टों के ऊपर जीभर हंसता !
मैं ही स्फिंक्स, पिरेमिड भी मैं ही हूं
मैं वस्तु-काल का प्रत्यावर्तन करता !
में हूं अब तक जग की अनबूझ पहेली
मेरे इंगित पर नियति-कोष है भरता !
मेरा परिचय—मैं श्यामवर्ण अफरीका !
में ही भविष्य का नवल, विधायक कर्ता !

संदर्भ ग्रंथ

1 सहारा का मरुस्थल, 2. अफरीका का अति प्राचीन नगर, 3. चार हजार वर्ष पूर्व मिश्र का मदिरो का नगर, 4. मिस्र की 5 हजार वर्ष पूर्व प्राचीन राजधानी, 5. प्राचीन मिस्र की मत्रम पूजनीय देवी, 6. मिस्र के द्वितीय राजकुल की गृह-देवी, 7. नील नदी के किनारे बनी

हुई प्राचीन भीमकाय मूर्ति, 8. सूर्य को अर्पित मिस्र के प्राचीन गगनचुबी नोकीले चबूतरे, 9. पिरेमिड का मिस्री नाम, 10. रोम के सम्राट, 11. सहारा, नूबिया और लीबिया के मरूस्थल मे रेत के तूफानो मे फसकर अनेको कारवा जिदा दर गोर हो जाते है, 12 अफरीका का एक कबीला, 13. प्राचीन मिस्र के सम्राट जिन्होने मध्यपूर्व पर शासन किया था, 14. मिस्री सम्राटों का खिताब, 15. मिस्र के रोमी सम्राट जो अपने विज्ञान और कला के लिये प्रसिद्ध थे, 16. मिस्री सम्राट की विजयिनी बेटी जो शेबा की सम्राज्ञी थी, 17. मिस्री अपने मुर्दों को ऐसे मसाले में रखते थे जिससे अब तक लाश नष्ट नहीं हो पाई, 18 गोरो द्वारा शोषण, 19. अमरीका के स्वाधीनता युद्ध का मोरचा, 20. अमरीका का एक शहर जहा निग्रो पर बेहद अत्याचार किये गये, 21. अमरीका की एक रियासत जहां निग्रो को जिदा जलाकर मार डाला जाता है, 22. अमरीका की एक रियासत जहां निग्रो पर बहुत अत्याचार होते है, 23. ऐसा पक्षी जिसके जल मरने के बाद उसकी राख की ढेरी से उस जैसा दूसरा फिनिक्स पक्षी निकलता है।

अश्वेत अफरीका की सांस्कृतिक भूमिका

आमतौर पर दुनिया के शिक्षित स्त्री-पुरुषों का यह विश्वास है कि अफ्रीका में वहां के रहने वाले विविध क़बीलों का अपना कोई इतिहास नहीं है। वे सदा से निरे जंगली रहे हैं और भयंकर नर-हत्या उनकी विशेषता रही है। किंतु यह विश्वास सर्वथा भ्रामक है। ईसा की पहली शताब्दी में ही अश्वेत अफ्रीका के अपने साम्राज्य थे। उसकी उन्नत संस्कृति थी। उसकी अपनी सभ्यता थी। उसे मूर्ति-कला, निर्माण-कला, और चित्र-कला का ज्ञान था। उसके अपने नियम-विधान थे और उसकी अपनी आर्थिक योजना थी और इस योजना में एक संतुलन था और इसने जीवन में ऐसी सादगी पैदा की थी जिसकी आज कल के लोग कल्पना तक नहीं कर सकते।

घना साम्राज्य

ईसवी सदी के प्रारंभ में सहारा का मरूस्थल दक्षिण में इतनी दूर तक फैला न था जितना आज फैला हुआ है। इसका कारण यह था कि सहारा से लगे हुये साहिल के भू-भाग में वहां के रहवासी अपने प्रयत्नों द्वारा मरूस्थल के प्रवाह को रोक रहे थे। साहिल की राजधानी घना, ईसा की तीसरी शताब्दी में बसाई गई। अरब इतिहासकार लिखते हैं कि आठवीं शताब्दी में घना के ऊपर सोनिन की फुला नामक जाति का राजा शासन कर रहा था और घना की सीमाएं उस समय अटलांटिक तक फैली हुई थीं। नवीं शताब्दी में घना की सत्ता अपने चरम उत्कर्ष पर थी। पूर्व में वह टिम्बकटू तक, दक्षिण में बमाको तक और पश्चिमोत्तर में ऊकार और बधाना तक फैलीं हुई थी। नवीं शताब्दी के प्रारंभ में घना के शासकों ने जेन्नी नामक विख्यात नगर की बुनियाद डाली।

प्रसिद्ध अरब इतिहास लेखक अल बुखारी लिखता है कि दसवीं शताब्दी में घना के निग्रो सम्राट के पास दो लाख सैनिक थे जिसमें लगभग 40 हजार

धनुषधारी सेना थी। घना का नगर काफी संपन्न था और अधिकांश मकान पत्थरों के बने हुये थे। नीतिज्ञों और विद्वानों का राज्य की ओर से काफी आदर किया जाता था। घना के निवासी सूती, ऊनी, रेशमी और मखमली धोतियां पहनते थे। सोने और चांदी के अस्त्र-शस्त्र बनाते थे और आभूषण व्यवहार में लाये जाते थे। तांबा, कौड़ी, सूती कपड़े, खजूर और सोने के व्यापार में काफी आयात-निर्यात होता था। सूडान का अधिकांश सोना घना के खजाने में ही आता था। अल बुखारी के अनुसार घना और कैस के तमाम नगर व्यापार के केंद्र थे।

पूरे 800 वर्षो तक सोनिन का राजकुल घना के ऊपर शासन करता रहा। अंत में 1203 ई. में अरबों के लगातार हमलों से सोनिन के राजकुल की सत्ता समाप्त हो गई।

गाओ का सोंघाई साम्राज्य
(7 से 16वीं सदी तक)

गाओ का साम्राज्य घना से पूर्व की ओर 150 कि.मी. नीचे स्थित था। लगभग 690 ई. में अश्वेत कबीले के दिया राजकुल का शासन यहां प्रारंभ हुआ और उसने काफी उन्नति की। 11वीं और 12वीं शताब्दी में दिया का दरबार समस्त अफ्रीका में विख्यात था। गाओ नमक के व्यापार का बहुत बड़ा केंद्र था। यहां चावल, बाजरा, मछली और सोने का भी बहुत बड़े परिमाण में आयात-निर्यात होता था। गाओ के प्रख्यात शहरों में तिरासा और मदासा थे। 1474 में सोननी नामक राजा गाओ के सिंहासन पर बैठा। वह एक मशहूर विजेता और राजनीतिज्ञ था। विद्वानों का उसके दरबार में बड़ा आदर होता था। उसने अपने राज्य को विविध प्रांतों में बांट दिया था और प्रत्येक प्रात में एक गवर्नर राजकाज संभालता था। हर प्रांत के जिलों में और शहरों में अलग-अलग हाकिम और टैक्स कलक्टर होते थे जिन्हें सम्राट मुकर्रर करता था। उसने नये-नये कुएं खुदवाये और नहरें बनवाई। 15वीं सदी के प्रारंभ में घना का राज्य भी गाओ के साम्राज्य में शामिल कर लिया गया। 16वीं शताब्दी के प्रारंभ में मोरक्को के सुलतान और गाओ के सम्राट में युद्ध हुआ जिसमें मोरक्को की सेनाओं को बुरी तरह पराजित होना पड़ा। अंत में सन् 1591 में लगभग तीन शताब्दियों की अपूर्व समृद्धि के बाद गाओ साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

मोसी साम्राज्य
(11 से 20वीं शताब्दी)

गाओ के साम्राज्य के नीचे दक्षिण के धने वनों तक एक दिलचस्प अफ्रीकी साम्राज्य स्थित था। इस साम्राज्य के ऊपर अरब विजेताओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इस साम्राज्य का संगठन अत्यंत सुदृढ़ था और वह हर तरह अपनी ही शक्ति पर निर्भर करता था। 11वीं शताब्दी में इसकी स्थापना हुई थी और इस बीसवीं शताब्दी में भी इसके अवशेष क़ायम हैं। इसके स्थायित्व का मुख्य कारण इसकी अपनी सामाजिक प्रणाली है। इसकी समस्त आबादी एक ही नस्ल और कबीले की है और इनका एक ही धर्म है यानी पुरखों की पूजा करना। 17वीं शताब्दी के बाद फ्रांसीसियो ने लाखों मोसियों को सागौन के कारखानों और आइवरी कोस्ट की तलहटियों में और अपनी फौजों में फुसला कर भर्ती कर लिया।

11वीं और 12वीं शताब्दी में मोसी साम्राज्य तीन राज्यों में बंटा हुआ था। इनमें बागदुग राज्य पांच प्रांतों में बंटा हुआ था। यहां के राजा को 'मोरहोनब्वो' कहा जाता था। सोलह मंत्रियों की मदद से वह अपने राज्य का शासन करता था। सुबह यहां का राजा अपने मंत्रिमंडल के साथ बैठता था और शाम को दरबार लगाकर न्याय करता था। प्रांतों के गवर्नर व्यक्तिगत रूप से उसके मातहत थे। यहां के राजा पैतृक नहीं होते थे। बल्कि उनका चुनाव होता था। समस्त योद्धा पहले प्रमुख परिवारों से शासक वर्ग चुनते थे और इसी शासक वर्ग में से राजा का चुनाव होता था। यह राजा होग्रोन (प्रधान पुरोहित) की मदद और नब्बास (प्रमुख शासक) की सहायता से और योद्धाओं की कौंसिल की सलाह से राज्य का कारबार करता था। इन लोगों में कोई जाति-पांति नहीं होती थी और इसीलिए किसी तरह की छोटाई-बड़ाई भी नहीं थी।

दूसरा राज्य यतेंगा राज्य कहलाता था और इसका संगठन भी बागदुग की ही तरह था। तीसरा राज्य गुरूमांचे का राज्य कहलाता था और यह 18 प्रांतों में बंटा हुआ था। इसका शासन प्रबंध भी पहले राज्य के अनुसार ही होता था।

समस्त देश गल्ले की खेती और पशु-पालन के कारण समृद्ध था। मोसी के व्यापारी और मोसी की बनी चीजें समस्त सूडान में प्रसिद्ध थीं। ग्रामीण क्षेत्रों में बड़ी

बड़ी खेतियां थी और शहरों में ईंटों और पत्थर के मकान दिखाई देते थे और इन सबसे इन अश्वेत राज्यों की समृद्धि का अंदाजा लगता था।

माली साम्राज्य

(11-17वीं शताब्दी तक)

माली साम्राज्य भी उतना ही शक्तिशाली और महान था जितना गाओ, कदाचित उससे अधिक महान था। वह समकालीन यूरोपियन साम्राज्यों की तुलना में रखा जा सकता था। अरब इतिहास लेखक इब्न खातून लिखता है कि सन् 1050 में माली राज्य के पहले शासक ने इसलाम-धर्म स्वीकार किया। किंतु नब्बे फीसदी जनता अपने प्राचीन धर्म का ही पालन करती रही। सन् 1230-1255 में माली साम्राज्य का पहला महान सम्राट "सुन दिधाता तीता" गद्दी पर बैठा। उसने एक बहुत बड़ी सेना इकट्ठी की और शीघ्र ही घना, दियारा और सोसो के प्रांतों पर क़ब्जा कर लिया। उसने अपने राज्य की नई राजधानी माली क़ायम की। उसने बंजर ज़मीनों को सुधारा और मक्का, बाजरे, कपास और मूंगफली की खेती को प्रोत्साहन दिया। उसका साम्राज्य अत्यंत समृद्धिशाली था। उसके सेनापतियों ने बम्बूक की सोने की खान पर क़ब्जा कर लिया और माली की सीमाओं को बोलोफ तक पहुंचा दिया। सन् 1307 में कंकन मूसा नामक दूसरा प्रसिद्ध सम्राट यहां का शासक हुआ। सन् 1324 में उसने मक्का की यात्रा की। इस यात्रा में उसके साथ बारह हज़ार यात्री, रेशम और कीमखाब के कपड़े पहन कर गये थे। सन् 1352 में प्रसिद्ध इतिहास लेखक इब्न बतूता माली आया था। उसने अपने इतिहास में लिखा है कि पूरे साम्राज्य में अश्वेत आबादी थी। साम्राज्य भर में लोग बेखौफ जहां चाहे आ-जा सकते थे। सड़कें बहुत पुख्ता बनी हुई थीं। हर कस्बे में दूध, चावल, आटा, सब्जी मिल सकती थी। वे पानी में आटा मिलाकर उसे पकाकर शहद के साथ पीते थे। यही उनका पेय पदार्थ था। दरबार आम की इमारतें सोने और चांदी की पत्तियों से जड़ी हुई थीं। इब्न बतूता लिखता है कि अश्वेत शासक अत्यंत ईमानदार और न्यायप्रिय थे। वलाता के गवर्नर ने किसी व्यापारी को लूट लिया था। सम्राट ने गवर्नर को बुलाकर बड़ी सख्त सजा दी। माली साम्राज्य के अंदर व्यापार और वाणिज्य तथा उद्योग-धंधे अपनी चरम सीमा को पहुंचे हुये थे। कम से कम दो शताब्दी तक माली की यह समृद्धि क़ायम रही। सन् 1670 ईस्वी में गाओ राजाओं के हमले से इस समृद्धिशाली अश्वेत साम्राज्य का खात्मा हो गया।

फुला-साम्राज्य
(17 से 19वीं शताब्दी तक)

यह साम्राज्य मसीना प्रात मे फैला हुआ था। 1591 ईस्वी में जब मराकशियों ने टिम्बकटू और गाओ पर क़ब्जा कर लिया तो समूचे मसीना पर फ़ौजों द्वारा काफी अत्याचार होते रहे। कितु हयाद् दूसरे ने सन् 1627 ईस्वी में मराकशियों को निकाल कर बाहर कर दिया। उसके राजघराने ने लगभग दो सौ बरसो तक मसीना पर राज्य किया। सन् 1810 में सेकू मसीना के तख्त पर बैठा। सेकू ने अपने राजकाल में मसीना की काफी उन्नति की। उसने पूरे राज्य को बीस ज़िलों में बांट दिया और न्याय विभाग का अच्छा संगठन किया। उसके राज्य में मसीना की काफी तरक्की हुई। 19वीं शताब्दी मे अरब सेनाओं ने अपने हमलों द्वारा मसीना के साम्राज्य को तहस नहस कर दिया।

टिम्बकटू और मध्य निगर
(16 से 18वी शताब्दी तक)

टिम्बकटू दुर्भाग्य से ऐसी जगह बसा हुआ था जहां निरंतर उसे अरबों और बर्बरों के आक्रमण का शिकार होना पड़ा। माली सम्राटों के समय में टिम्बकटू काफी समृद्ध हो गया था। सन् 1433 में तौरेबो ने उस पर हमला किया और तीस वर्ष तक उस पर क़ाबिज रहा। गाओ मम्राटों ने उसका उद्धार किया। किंतु सन् 1591 में कोरक्को की सेना ने उस पर फिर से कब्जा कर लिया। 16वीं शताब्दी के प्रारंभ में टिम्बकटू हर तरह की अराजकता का शिकार हो गया। आये दिन अकाल और महामारी वहां रहने लगी। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में लगातार टिम्बकटू पर आक्रमणकारियों के हमले होते रहे और एक ज़माने में जिस शहर की आबादी दो लाख थी उसकी आबादी केवल बीस-पच्चीस हज़ार रह गई। सारा शहर वीरान और खंडहर हो गया।

समुद्री किनारे के राज

सूडान से लगे हुये समुद्री किनारे पर अनेक छोटे छोटे राज्य कायम हुये। इनमें बोलोफ, टेक्रूर, फूता, अबरान, अशान्ती, यू, दहोमे, योरूबा, हांसा, बूसा, नूफी, बेनेन आदि मुख्य थे किंतु लगातार अरबों के हमलों के कारण ये राज्य कभी पनप नहीं

पाये। 18वीं और 19वीं सदी के मध्य तक पुर्तगालियों ने यहा से काफी लोगों को दास बनाकर और उन्हें जहाजों में भरकर यूरोप के देशों में जाकर बेचा। सन् 1852 में एक पुर्तगाली दास-विक्रेता 1200 दासों को एक जहाज में भर कर ले गया था। धीरे-धीरे इस समुद्री किनारे को लोग "दासों का किनारा" के नाम से पुकारने लगे।

आंकड़ा लगाने वालों का अंदाज़ा है कि सूडान के किनारे फैले हुये इस लंबे-चौडे भू-प्रदेश से लगभग साढ़े तीन करोड़ से लेकर सात करोड़ अश्वेत या तो दास बनाकर दुनिया के विविध देशों में लाये गये अथवा अपनी दासता के प्रतिकार करने पर क़त्ल कर दिये गये। दुनिया का कौन सा देश इतने बड़े नर-संहार के होते हुये पनप सकता था?

उत्तर-पूर्वी अफरीका के अश्वेत साम्राज्य का विस्तृत वर्णन प्रसिद्ध अरबी पुस्तकों तारीखे बुखारी, तारीखे सूडान, तारीखे अल फतह और बीसियों अरब यात्रियों के यात्रा वृतांतों से मिलता है किंतु शेष समस्त अफ्रीका के निग्रो साम्राज्यों का वर्णन हमे किसी पुस्तक में दर्ज नहीं मिलता। मध्य अफ्रीका का घना जंगल किसी भी प्रकार के साम्राज्य क़ायम करने में बहुत बड़ी बाधा थे। किंतु फिर भी ये अलंध्य और घने जंगल छोटे ही सही किंतु उन्नत और सभ्य राज्य क़ायम करने में बाधा न बन सके।

इनमें सबसे प्रमुख राज्य लाओगों का था। दूसरा प्रमुख राज्य कोंगो का था। ये दोनों साम्राज्य 14वीं शताब्दी में काफी उन्नत अवस्था में थे। कोंगो के सम्राट "मणि-कोंगो कहलाते थे। इनके साम्राज्य का विस्तार लगभग 500 मील तक फैला हुआ था। घने वन के होते हुये भी यह साम्राज्य मध्य में कसाई और जम्बेसी नदियों तक फैला हुआ था। इस साम्राज्य की राजधानी सान-सैल्वाडोर थी जिसकी पुर्तगालियों ने काफी प्रशंसा की है। 17वीं शताब्दी में पुर्तगालियों ने इस साम्राज्य को तहस-नहस करके वीरान कर दिया।

मध्य अफरीका के राज्यों में अनसिका और वाकुबा मुख्य थे। अनसिका में बतेके और वाचक जातियां हुकूमत करती थीं और अपनी कला के लिये प्रसिद्ध थीं। वाकुवा राज्य के रहवासी आज तक अपनी कला, विशेषकर किमखाब और मखमल के लिये काफी प्रसिद्ध हैं।

कोंगो की उपत्यका के दक्षिण में अनेक अश्वेत जातियां एक ही राज्य के अंतर्गत

सबद्ध थी। इनमें "बसूतो", "जुलू", "हातेनतात" और "बुशमैन" प्रमुख हैं। इस एक साम्राज्य के अंतर्गत अश्वेत अफरीका की अधिकांश जातियों का समावेश था। अब इनमें बंटवारा हुआ तो बसू, तोलैंड, और स्वाजीलैंड नामक तीन विशिष्ट राज्य क़ायम हो गये। इनमें जुलू और ख्वाजी अत्यंत समृद्ध थे। ये मूंगों के काम के कारण काफी दौलतमंद हो गये थे। इन राज्यों की अपनी बड़ी-बड़ी सेनाएं थीं। और इनके "सेतेवायो", "काफिर" और "जुलू" शासक काफी योग्य और प्रसिद्ध थे। उत्तर पश्चिम में "हाते नतात" और "हेरेरो" नामक अश्वेत राज्य भी काफी प्रसिद्ध थे, किंतु अठारहवीं शताब्दी में जर्मनों ने हमला करके इनके लगभग तीस हज़ार योद्धाओं का छल से वध कर दिया। सच तो यह है यूरोप निवासियों ने अपने छल, कपट और धोखे से अफरीका निवासी अश्वेत जाति की समस्त समृद्धि का खात्मा कर दिया।

दक्षिण-पूर्व अफ्रीका के राज्यों में जंजीबार किलोआ, सोफाला, लुंडा, कसाई-जुम्ब्रेसी, बरोत्से, कटंगा, बलुआ, मनथेमा, अजेन्दे आदि मुख्य थे। किंतु इन राज्यों को अरबों के अत्याचार कई शताब्दियों तक सहने पड़े। ये राज्य अपने हाथी दांत के काम के लिये चारों ओर प्रसिद्ध थे। यहां की "मोमवत्तृ" की कला यूरोप में बड़े आदर के साथ देखी जाती थी।

उनियम वेजी का निग्रो राज्य टंगानायका के दक्षिण में था। उगांडा भी किसी समय इसी गाज्य क्रे अंतर्गत था। केनिया के निकट "किकुयु" और "मसाई" कबीले राज्य करते थे। इनकी सभ्यता शिकारियों और खेतिहर सभ्यता का सम्मिश्रण थी। ये जातियां अश्वेतों की सबसे सुंदर जातियां थीं।

इस किनारे के अन्य राज्यों में बान्रून्दी, बागारूआंदा, बंसा और बंगाला प्रमुख थे। यहां तांबे का काम बहुत सुंदर होता था और आज तक उसकी प्रशंसा की जाती है। इनमें से अनेक राज्य बाजाप्ता राज्य नहीं थे। अनेक कबीले साथ-साथ रहते थे किंतु उनका कोई एक राजा न होता था। जब उन पर संकट आता था तब एक राजा वे चुन लेते थे। किंतु फिर भी इनमें अपनी राष्ट्रीय विशेषताएं थीं और वे सच्चे अर्थों में राष्ट्र कहला सकते थे।

किंतु धीरे-धीरे ये समस्त हुकूमतें यूरोपियन साम्राज्यवाद द्वारा नष्ट कर दी गई और केनिया और उगांडा को तो विशुद्ध गोरे उपनिवेश बना लिया गया।

सूडान की तरह समस्त अफ्रीका में अश्वेतों को दासता के लिये पकड़ कर

ले जाने की एक ही कहानी दोहराई गई है। सबसे पहले दासों का व्यापार अरबों ने शुरू किया और उनके बाद यूरोपनिवासियों ने उन्हें उत्तर और दक्षिण अमेरिका में ले जाकर बेचा। इस तरह जो निग्रो जहाजों में ठूंस-ठूंस कर ले जाये जाते थे उन्हें रास्ते में भयानक कष्ट दिये जाते थे। परिणाम यह होता था कि हर 900 निग्रो में 800 रास्ते में ही भयंकर यंत्रणा पाकर मर जाते थे। अनेक यूरोपियन इतिहास लेखकों के अनुसार ऐसे समस्त निग्रो की सख्या, जो गुलाम बनाये गये या मौत के घाट उतार दिये गये, तीन करोड़ से ऊपर पहुंचती है। ईसाई पादरियों ने भी निग्रो नर-संहार में काफी भाग लिया। जो क़बीले ईसाई धर्म स्वीकार कर लेते थे उन्हें ये पादरी उकसा कर दूसरे कबीलों से गृह-युद्ध करवा कर भयंकर परिस्थिति उत्पन्न कर देते थे। इससे भी अफरीका निवासी निग्रो की धन-जन से भयंकर हानि सहनी पड़ी।

प्रसिद्ध फ्रांसीसी इतिहास लेखक रेमां मिशेल लिखता है—"सूडान, मध्य अफरीका और दक्षिण अफरीका पर यूरोपीय जातियो के विनाशकारी आक्रमण के पूर्व अफरीका की समृद्धि, वहा की सुसम्पन्नता और जीवन का स्तर अत्यंत ऊंचा था। अरब यात्रियों, इतिहासज्ञों और खोजियों, सबने एक स्वर से इस ऊपर की सच्चाई को स्वीकार किया है। यह सच है कि शहरों में यदा-कदा पत्थर के मकान मिलते थे किंतु उनकी आवश्यकता न थी। आमतौर पर इमारतें गारा और लकड़ी की बनाई जाती थीं और उनकी दीवारों पर बहुत सुंदर काम होता था। पहनने के सूती, मखमली और ऊनी वस्त्र उम्दा और बहुतायत से मिलते थे। अनेक शहर ऐसे थे जिनकी जनसंख्या 40 हजार से लेकर एक लाख तक थी किंतु आज उनमें से एक का भी पता नहीं है। प्रत्येक शहर एक योजना के अनुसार बनाया जाता था। सड़कें काफी चौड़ी होती थीं और उनके दोनों ओर सायेदार पेड़ होते थे। खेती की पैदावार काफी होती थी और जन सामान्य अपने ही बने हुये सुंदर मखमली और रेशमी वस्त्र पहनते थे। शासन का संगठन भी अत्यंत उन्नत था। राजा शक्तिशाली होते थे, व्यापार-वाणिज्य ख़ूब उन्नत होता था। उनकी अपनी प्रगतिशील संस्कृति थी। जो समृद्धि पश्चिम में कोंगो में थी वही पूर्व में मोजम्बीक में थी।"

एक दूसरा इतिहास लेखक फ्रोवेनियस लिखता है—"15वीं से 18वीं सदी तक के समुद्री यात्रियों के बयानों से पता चलता है कि उस समय का अश्वेत अफरीका

सहारा के मरूस्थल से लेकर ठेठ दक्षिण तक समस्त प्रकार की कला और कौशल में यूरोप से किसी भी तरह पीछे नहीं था। हां, वहशी गोरे नर-पिशाचों ने काले हब्शियों की इस अत्यंत उन्नत सभ्यता को सफलता-पूर्वक मटियामेट कर दिया।"

यूरोप के अनेक अजायबघरों में अफरीका के बने हुये सुंदर नमूने संग्रहीत हैं। नरम और मुलायम मखमल केले के छिलकों के रेशे से बनाया जाता था। चमकदार रेशम ताड़ के रेशे से बनाया जाता था। पूजा के खड्ग और बरछियों की धारें सुंदर तांबे की धातु से बनाई जानी थीं। ड्रसडेन के अजायबघर में नकाशी का काम किया हुआ एक इतना सुंदर धनुष है और उसमें कला की इतनी सुंदर डिजाइनें हैं कि देखकर बरबस मुंह से प्रशंसा के शब्द निकल पड़ते हैं। लकड़ी और हाथी दांत के काम के भी अत्यंत सुंदर नमूने मिलते हैं जो यह प्रकट करते हैं कि निग्रो-कला संसार की किसी भी कला से अपने स्तर और ऐश्वर्य में किसी तरह पीछे नहीं है।

अफरीका की निग्रो सभ्यता के संबंध में प्रसिद्ध फ्रांसीसी पुरातत्ववेत्ता एम. डेलाफ़ोज लिखता है :

"निग्रो के अंदर व्यक्तिवाद की भावना नहीं है। समाज, धर्म, जायदाद; आर्थिक प्रश्न और राजनीति सबमें उनके यहां समष्टिवाद का सिद्धांत चलता है।

"आज भी निग्रो का पारिवारिक ढांचा केवल पति-पत्नी और बच्चों का नहीं होता उसमें पुरखे की सब औलादें शामिल होती हैं और सब सम्मिलित परिवार के अंदर रहते हैं। जहां पुरखा पुरुष होता है वहां पुरुष उत्तराधिकारियों द्वारा स्थापित होता है और जहां पुरखा स्त्री होती है वहां संबंध लड़कियों द्वारा क़ायम होता है।

"पत्नी क्रिसी भी सूरत में अपने पति के परिवार की नहीं बनती। यदि तलाक हो जाता है तो वह अपने कबीले में लौट आती है। यदि पति मर जाता है तो पति का छोटा या बड़ा भाई उसका पति बनता है या फिर पत्नी अपने कबीले में लौट आती है। बच्चे आमतौर पर अपने पिता की संपत्ति के उत्तराधिकारी होते हैं। परिवार विवाह पर नहीं बल्कि उत्तराधिकार पर कायम होते हैं। परिणाम यह होता है कि परिवार बढ़ता जाता है। उसे सीमित करने के लिये यह नियम बनाया गया है कि खेती का विस्तार जितना बोझ बर्दाश्त कर सके, उतने व्यक्ति उस परिवार में रहेंगे। बाकी दूसरी जगह जायेंगे। ये दोनों परिवार और इनसे बढ़ने वाले और दूसरे परिवार

एक कबीले का रूप धारण कर लेते हैं। इनका एक ही सरनाम होता है और यह एक ही पुरखे की औलाद कहलाते हैं। इस तरह एक-एक क़बीला अपने जन-बल से काफी शक्तिशाली बनता है। उसके सदस्य एक दूसरे के साथ गहरे बंधनों से बंधे रहते हैं। यूरोपीय परिवारों की तरह उनकी व्यक्तिगत इकाई नहीं होती बल्कि सम्मिलित इकाई होती है। जो कुलपति होता है वह परिवार की समस्त संपत्ति की देखरेख करता है। वह कुल का मैनेजर और पुरोहित होता है। संपत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार नहीं होता। नाव या भट्ठी किसी व्यक्तिगत माझी या लोहार की संपत्ति नहीं होती बल्कि पूरे माझियों या लुहारों की सम्मिलित संपत्ति होती है।

"विविध क़बीलों के कुलपति मिलकर राजा का चुनाव करते थे। राजा को सलाह देने के लिए विविध कुलपतियों का एक सलाहकार बोर्ड होता था। राजा विविध कुलपतियों में से अपना मंत्रि-मंडल चुनता था। इस तरह अश्वेत का पूरा सामाजिक और राजनैतिक ढांचा समष्टि की सुरक्षा और कल्याण के आधार पर निर्धारित किया जाता था।"

जहां तक शिक्षा का संबंध है, अश्वेत जातियों की अपनी, कम से कम दो, मौलिक वर्णमालाए थीं। उसी ने उनकी ईजाद की थी। इस संबंध में ब्लेज सेण्ड्रार अपनी पुस्तक "निग्रो एंथ्यालाजी" में लिखता है—

"निग्रो की अपनी मौलिक वर्णमालाएं हैं। कम से कम दो से तो मैं परिचित हूं। और भी हो सकती हैं। 18वीं सदी के "फुम्बान" के नरेश "जोय" और "महास" के नूबियाई निग्रो के लिखे हुये आलेख मिले हैं जिसमें सर्वथा मौलिक वर्णमालाएं पाई गई हैं। इन वर्णमालाओं पर रोमन, अरबी या नागरी किसी का प्रभाव नहीं दिखाई देता।"

निग्रो के चरित्र के संबंध में डब्लू. सोब्रुक लिखता है—

"निग्रो के ऊपर अपने भयंकर अत्याचारों को जायज़ करार देने के लिये यूरोप निवासियों ने उन्हें अपने वर्णनों में क्रूर कहकर उल्लेख किया है। सच तो यह है कि निग्रो में स्वभाव से ही दया होती है। उनके संबंध में जो चोरी का इल्ज़ाम लगाया जाता है वह भी अनुचित है। गोरे-लोगों में जितने चोर होते हैं निग्रो में उसके दशांश भी नहीं होते। निग्रो आदतन एक ईमानदार व्यक्ति होता है। उसके बीच व्यभिचार

के किस्से भी बहुत यदा-कदा होते हैं। पूरे कुल के सम्मान को प्रत्येक निग्रो अपना सम्मान समझता है।"

सन् 1906 में कांगो की अपनी यात्रा का वर्णन करते हुये फ्रोबेनियस लिखता है–

"मैंने निग्रो आदिवासियों के अंदर एक समृद्धिशाली सभ्यता देखी, जिसके अंदर गंभीरता और विस्तार दोनों था। उनका रहन-सहन आचार-विचार सब ऊंचे दर्जे का था। राजमहल से लेकर गरीब किसान के झोंपड़े तक में मुझे एक समान उन्नत सभ्यता के दर्शन हुये। प्रत्येक घर में मुझे यथेष्ट संख्या में शिक्षित निग्रो स्त्री-पुरुषों के दर्शन हुये।"

फ्रोबेनियस आगे चलकर लिखता है–

"अमरीका को दासों की आवश्यकता थी। यूरोप के गोरे सौदागरों ने देखा कि अफरीका से लाखों गुलामों को जहाज में भर कर अमरीका ले जाकर बेचा जा सकता है। किंतु दासों की खरीद-फरोख्त तो कानूनन जायज नहीं समझी जा सकती। इसी के बाद निग्रो को बजाय मानव के, संपत्ति की संज्ञा दी जाने लगी। यूरोप वालों ने दुनिया को यह बताना प्रारंभ किया कि निग्रो तो नरभक्षी राक्षस हैं। वे मानव जाति के लिये काल रूप हैं। निग्रो के धर्म को राक्षसों का धर्म कहकर पुकारा जाने लगा। सच तो यह है कि ये सब दास-व्यापार चलाने के बहाने थे। मैं स्वयं अफ्रीका के कोने कोने में गया किंतु कहीं मैंने अमानुषिक और भयंकर बातें निग्रो के अंदर नहीं देखीं। यूरोप वालों ने जानबूझ कर निग्रो को बदनाम करने के लिये उसे बर्बर कहना शुरू किया। सच तो यह है सभ्यता और संस्कृति में निग्रो उसी तरह ऊंचे थे जितना ऊंचा होने का दावा कोई भी यूरोप निवासी कर सकता था।"

अकेले अमरीका के बाजारों में लगभग 5-6 करोड़ निग्रो ले जाकर बेचे गये या कत्ल कर दिये गये। डाक्टर दुबाय का अनुमान है कि दासों के व्यापार में अफरीका के लगभग दस करोड़ निग्रो काम आये।

लोग प्रश्न कर सकते हैं कि इस भयंकर नर-हत्या के बाद भी निग्रो जाति कैसे जीवित रह गई? इसका एक ही उत्तर हो सकता है और वह यह है कि जीवन शक्ति जितनी निग्रो के अंदर है उतनी शायद दुनियां की किसी जाति में नहीं।

निग्रो सभ्यता के विनाश के संबध में डेलाफोस लिखता है–

"बीसवीं सदी के प्रारंभ में जब मैं अफ्रीका के प्रांत कसाई-सकुरू में गया तो मैने देखा बड़े-बड़े शहर आबाद हैं। जहां-तहां ऊंची-ऊंची पक्की हवेलियां हैं और सड़कों पर दोनों ओर ताड़ के दरखतों की कतारें हैं। जो झोपड़िया हैं उनकी दीवारों पर भी बड़ी सुंदर चित्रकारी बनी हुई है। कोई आदमी खाली हाथ नहीं चलता। सब के हाथों में लोहे और तांबे के शानदार हथियार होते हैं जिनकी मूठों पर साप का चमड़ा और सोने-चांदी की पत्तरें जड़ी होनी हैं। स्त्री-पुरुष सब मखमल और रेशम की पोशाक पहनते हैं। हर कप, पाइप और चम्मच उत्कृष्ट कला का एक नमूना होते हैं और इन वस्तुओं का रोम और यूरोप की कला से मुकाबला किया जा सकता है। अफरीकी कला की इन कृतियों में एक इतनी नफ़ासत होती है कि दिल तारीफ़ किए बगैर नही मानता। अफसोस ! कला और संस्कृति के इस खज़ाने को यूरोपीय सभ्यता के लुटेरे ठेकेदारों ने सौ बरस की कोशिशों से नेस्तनाबूद कर दिया। स्पीक, ग्रांट, लिविंग्सटोन, स्टेनली, कैमरान, जिन्होने अफरीका का कोना-कोना छान मारा, सांस्कृतिक विनाश की एक ही कहानी सुनाते हैं। यूरोपियन सभ्यता ने सत्यम्, शिवम्, सुंदरम के इस देश को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।"

आज अफरीकी जातियां फिर से अपने खोये हुये उस अतीत वैभव को प्राप्त करने की प्राणपण से चेष्टा कर रही है जिसके प्रतीक नेल्सन मंडेला हैं।

अफरीकी संस्कृति और संगीत

"संगीत क्या है" अथवा "संगीत कैसा होना चाहिये" इस संबंध में दुनिया भर में एक आम धारणा है। जो धारणा संगीत के संबंध में है, वही धारणा दुनिया के विविध हिस्सों मे प्रचलित अन्य कलाओं के संबंध में भी है। यदि यह बात न होती तो एप्टस्टीन की आधुनिक मूर्तिकला की लोग इतनी बेरहमी के साथ आलोचना न करते जितनी उसे न समझने के कारण कर रहे हैं। कला के संबंध में लोगों ने अपनी-अपनी पुख्ता धारणाएं बना ली हैं कि कला की कोई अभिव्यक्ति उनकी धारणाओं के अनुरूप न होने के कारण उनकी आलोचना और निंदा की पात्र हो जाती है। श्यामल अफरीका के संगीत के संबंध में भी उन्हीं देशों में यह प्रश्न उठाया जाता है कि "सगीत क्या होना चाहिये।" जो अफरीका देश के संगीत से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, वे हैरत के साथ पूछते हैं कि क्या अफरीका में भी संगीत जैसी कोई कला है।

यदि किसी देश की बर्बर रूढ़ियां और कर्मकांड, विश्वास और पूजा-विधि यदि उस देश की ऐतिहासिक परंपरा और विचारधारा से पृथक करके साधारण यूरोपीय संस्कृति के दूसरे बर्बर दृष्टिकोण से देखी जाय तो वह अनैतिक न सही, अवैज्ञानिक ज़रूर दिखाई देगी। यूरोपीय स्टैण्डर्ड से अफरीकी स्टैंडर्ड भिन्न है। भौगोलिक वातावरण और ऐतिहासिक परिस्थितियां विविध देशों के स्टैडर्ड को बनाती हैं। और यदि किसी देश की संस्कृति को उसकी समग्रता में न जांच कर एक दूसरे ही सांचे में उसे परखा जायेगा तो वह निश्चय ही असभ्य और जंगली उतरेगी। और यदि सहानुभूति के साथ उसकी वैज्ञानिक प्रगति की ध्यान में रखते हुए उसे देखा-परखा जायेगा तो निश्चय ही उस संस्कृति के गंभीर रहस्य नये प्रकाश में खुलते और स्पष्ट होते नज़र आयेंगे।

अफरीकी संस्कृति के संबंध में भी बड़ी ग़लतफहमी उन यूरोपीय खोजियों, नाविकों, व्यापारियों और मिशनरियों की ग़लतबयानियों के कारण पैदा हुई है जिनमें

से अधिकांश बेपढ़े, बेगुने, गप्पी और बिल्कुल बाज़ारी किस्म के लोग थे। हम इस पर जितना ज़ोर दें उतना थोड़ा है कि अफरीकन जिंदगी के संबंध में इन लोगों के बयान और खासकर हाल के बयान बेहद दूषित पक्षपात से भरे हुये हैं। हमें इस बात का दुख नहीं है कि यूरोपीय शोषक अफरीकी संस्कृति के संबंध में भ्रामक बातों का प्रचार करते हैं बल्कि हमें यह देखकर दुख होता है कि भारतवासी भी अफरीका के संबंध में यूरोपीय साम्राज्यवादियों द्वारा फैलाये हुये झूठे और कलुषित प्रचार को सहज भाव से स्वीकार कर लेते हैं।

अफरीका के सांस्कृतिक जीवन की जिन बहुत बातों के संबंध में लोगों मे अज्ञान छाया हुआ है उनमें से एक संगीत भी है। लोग प्रश्न पूछते हैं कि क्या अफरीका में भी संगीत कही जाने वाली जैसी चीज है? यदि है तो क्या अफरीका के लोग संगीत प्रेमी हैं? और तब हमें यह बताया जाता है कि निग्रो लोग संगीत-प्रेमी नहीं हैं और यदि संगीत नाम की कोई चीज वहां है, तो वह भी अभी असभ्यता और बर्बरता के युग को पार नहीं कर पाई है। किंतु यह धारणा तो इसी बात की परिचायक है कि सभ्यता का दावा करने वाली क़ौमों के ज्ञान का स्तर अभी तक ऊंचा नहीं उठा है और उन्हें ऐसी बातों के संबंध में राय ज़ाहिर नहीं करनी चाहिये जिनसे वे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। अफरीका में न केवल संगीत है बल्कि आज पश्चिमी दुनिया को अपने जिस आधुनिक संगीत पर गर्व है वह संगीत अफरीका के गर्भ से ही उत्पन्न होकर अफरीका की वाणी से ही मुखरित हुआ है।

सबसे पहले प्रश्न यह उठता है कि संगीत से हमारा तात्पर्य क्या है? संगीत स-र ग-म का ऐसा क्रमबद्ध विस्तार है जो सुनने में सुहावना लगता है। यह वैज्ञानिक रीत से तालैक्य और स्वर माधुर्य का समन्वय करके गति और लय को समेट कर एक समा बांध देता हैं। यह एक गौण प्रश्न है कि किसके कानों को यह समा सुहावना लगता है और किसको नहीं। यदि अफ्रीकन अश्वेतों के कानों को कोई संगीत, मधुर लगता है तो वही एक मात्र फैसला करनेवाला है कि उसका संगीत किस तरह का हो। अफरीकी पैदायशी संगीतज्ञ है। बचपन से वह अपने राष्ट्रीय गीतों से परिचित हो जाता है और जब वह बड़ा होता है तो अफरीकन गीतों का एक खजाना उसके पास इकट्ठा हो जाता है।

अफरीकन बच्चे में संगीतज्ञ बनने की दैवी शक्ति मौजूद है। इन बच्चों में,

जो जरा समझदार होते हैं वे स्वयं अपने कोरस गीतों की रचना कर लेते हैं। रोने में भी अप्रकाश्य रूप में संगीत का पद विन्यास होता है। अफरीकन भाषा की ओर यदि ध्यान दें तो हमें एक भी संयुक्ताक्षर न मिलेगा और संयुक्त शब्दों के उच्चारण में जो एक ध्वनि और लय पैदा होती है उससे वे चकरा जाते हैं।

अफरीका की किसी रस्म या विधि विधान को बगैर संगीत के पूरा नहीं समझा जाता। अफ्रीकन चाहे जिस पेशे में लगे हों वे तभी अपने काम को बढ़िया कर सकते हैं यदि उन्हें गुनगुनाने और गाने की स्वाधीनता हो चाहे ब्याह-शादी हो या धार्मिक उत्सव, चाहे नृत्य-समारोह हो या मृतक का जुलूस—हर अवसर के लिये अफरीकियों में अलग-अलग तरह के संगीत का आयोजन है।

पश्चिमी अफरीका निग्रो अध्यात्मवादियों का घर है। वहां किसी के प्रिय से प्रिय व्यक्ति के मातम को देखकर यही बोध होता है कि गतात्मा स्वर्ग को प्रस्थान कर रही है। किंतु बूढ़ों और जवानों के मातम में अंदर होता है। जवानों के मातम में शोक छाया रहता है और बूढ़ों के मातम में नाच गाना होता है। यूरोपीय विदेशियों को देखने में यह बात बहुत अखरती है। ईसाई मिशनरी इस प्रथा को बर्बर और जंगली कहते हैं। वे यह समझ ही नहीं पाते कि किसी मानव की मृत्यु पर नृत्य-गान क्यों? इस समारोह के पीछे एक जीवन फिलासफी है। अपने आत्मीयों की मृत्यु से किसी को खुशी नहीं होती। तब एक वृद्ध आत्मीय की मृत्यु पर इतनी खुशी का प्रदर्शन क्यों? यह इसीलिये कि अपने इतने बड़े जीवन में उसने अपने चरित्र की चादर पर धब्बा नहीं लगने दिया और अब निष्कलंक वह अपने निर्माता के रूबरू जा रहा है।

बावजूद ईसाई धर्म प्रचार के अफरीका का अपना एक अलग धर्म है। उसके अपने अलग धार्मिक विश्वास हैं। परमपिता सर्वशक्तिमान एकेश्वर परमात्मा को वह अपनी भाषा में "यौरूबा" कहता है जिसका शब्दिक अर्थ है—"धरती और स्वर्ग का एक मात्र अधीश्वर।" यूरोपीय ईसाई मिशनरी को धार्मिक विश्वासों और परमपिता परमात्मा पर अफरीकियों के अखंड विश्वास के कारण अपने ईसाई धर्म-प्रचार में शुरू में जरा भी सफलता नहीं मिली और अब निग्रो ईसाई पादरियों ने अपना प्रचार शुरू किया तब जाकर ईसाई धर्म वालों की तादाद बढ़ी। इसके लिये उन्होंने यह किया कि कुछ प्राचीन अफरीकन गीतों को अपनी धार्मिक प्रार्थना में शामिल कर

लिया। और इन गीतों के आधार पर नृत्य समारोह का आयोजन किया। सच तो यह है कि अफरीकी—"नाचते-नाचते ईसाई धर्म में चला गया।" इन नृत्य गीतों में से एक कड़ी यह है—

ज्वो ज्वो वा नी मा फी, याम फीन बाबा।

अर्थात्—हम सब अपने सर्व शक्तिमान परमपिता का यश गायेगे।

अफरीकी पूर्ण रूप से संगीतमय है। यदि वह गाता रहे तो उसके काम की गति दुगुनी हो जाती है। यदि डांड़ चलाते हुये उसे गाने की सुविधा मिले नो नाव हवा से बातें करने लगेगी। यदि साथ-साथ गाते भी रहें तो क्षण भर मे वे जगल के जंगल साफ कर देंगे। संगीत उनके श्रम की गति में पंख लगा देता हे। अफरीका सदा से सामूहिक संगीत का घर रहा है। यूरोप में इस सामूहिक संगीत का तो अभी हाल में प्रचलन हुआ है और बहुत खास मौकों के लिये सीमित हे। फिर उसमे जो लोग हिस्सा लेते हैं वे इसलिये नहीं कि उन्हें दिली ख्वाहिश होती है बल्कि इसलिये कि दूसरे लोग उसमें शरीक हुये हैं। मिस्री के साथ बात बिल्कुल जुदा है। सगीत मे उसकी आत्मा को अभिव्यक्ति मिलती है। भीड़ इकट्ठा होती है और अपनी भावना को संगीत में प्रकट कर देती है। अफरीकन आशु कवि होते हैं। वे हाथ के हाथ छंद बनाकर अपनी भावनाओं को व्यक्त कर देते हैं। अफरीकियों का विश्वास है कि मानव स्वर में वादन यंत्रों की अपेक्षा संगीत के राग पैदा करने की कहीं अधिक शक्ति है। इसीलिये वे लोग यंत्रों पर बहुत कम जोर देते हैं। ड्रम या नगाड़ा केवल ताल देने के काम आता है। अफरीका में नगाड़ों की इतनी किस्में हैं कि जितनी दुनिया में कहीं नहीं मिलेंगी। अफरीकन ट्यूनों के लिये अब भी एक खास पियानो ईजाद करने की जरूरत है। ट्यूनों की पेचीदगियों के कारण मौजूदा पियानो बिल्कुल नाकाफी साबित होते हैं। स्वर सप्तक से अफरीकी का काम नहीं चल पाता। ड्रम या नगाड़ा उनके खास वाद्य हैं। अफरीकियों ने इसे अधिक से अधिक उपयोगी बनाया है। नृत्य के नगाड़े छोटे-बड़े हर साइज और प्रकार के होते हैं। वे नगाड़ों के स्वरो से बातचीत का काम लेते हैं, उनसे दूर-दूर टेलीग्राफिक खबरें भेजते हैं। नगाड़ों पर इस तरह चोट करके उनसे ऐसे स्वर पैदा करते हैं कि आप पहचान नहीं सकते कि नगाड़े की आवाज है या आदमी की। यह बात देखकर यूरोपीय संगीतज्ञ हैरान और परेशान हो जाते हैं। अफरीकन अपने नगाड़े का माहिर है। वह उससे चाहे

जो काम ले सकता है। नगाड़ा नृत्य संगीत पर बड़ी सुंदरता के साथ ताल का काम देता है। अफरीकी नृत्यों के ताल-क्रम पर ही अनेक यूरोपीय बालरूम डांसों की ईजाद हुई। खास तौर पर "फाक्सट्राट", "रंबा", "वाल्ज" आदि प्रसिद्ध यूरोपीय बालरूम नृत्य अफरीकी ताल-क्रम पर आधारित किए गए हैं। यूरोप का "चार्ल्सटन" भी अफ्रीकन युद्ध-नृत्य की यादगार है। यूरोपीय "बैल्क बाटम" नृत्य भी अफ्रीका से ही निकला है।

समुद्र पार अमरीका के निग्रो भाइयों ने अमरीकन और यूरोपीय संगीत और नृत्य को इतना समृद्ध बनाया है कि जिसकी सभी लोग मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं। यह शायद सभी जानते हैं कि दुनिया के सबमें अच्छे 10 बैंड-दल अश्वेत बैंड दल ही हैं। अमरीकन और यूरोपीय बाल-नृत्य बिल्कुल फीके पड़ जायें यदि उनके साथ अश्वेत आर्केस्ट्रा बजाने वाले न हों।

जबकि यूरोपीय संगीत लकीर का फकीर है और सख्त शिकंजों में फंसा हुआ मालूम होता है, अफरीकन संगीत मुक्त, लचीला और प्रगतिशील है। उसके अंदर आत्मा बोलती हुई मालूम होती है। यह सही है कि उसका संगीत यंत्रों पर कम आधारित है किंतु इसकी यही वजह मालूम होती है कि आत्मा के भीतर से फूटने वाला संगीत बाहरी यंत्रों पर निर्भर नहीं करता जबकि यूरोपीय संगीत में आत्म प्रकाश की कमी को अधिकाधिक यंत्रों से पूरा किया जाता है।

पीड़ित अफरीकियों की सर्द आहें !

पहली जनवरी सन् 1833 को राष्ट्रपति लिंकन ने समस्त अमरीका से गुलामी की प्रथा के अंत की घोषणा की थी और 1 अप्रैल सन् 1865 को गुलामी के समर्थक जनरल ली ने जनरल ग्रांट के सामने आत्म समर्पण किया था। समझा जाता था कि उस दिन से अमरीका से निग्रो जाति की आपदाओं का अंत हो गया, पर उनकी यह आशा क्षणभंगुर निकली। आज़ाद होकर एक असहाय और दयनीय परिस्थिति में अश्वेतों ने अपने को पाया और उनकी सामाजिक स्थिति ने उन्हें अमरीका की गोरी जाति का शिकार बनने के लिए मजबूर किया। तब से अश्वेतों का जिस तरह क्रूर शोषण किया गया उसकी कुछ झलक हमें उनके इन प्रचलित विरोध गीतों में मिलती है।

जब निग्रो दासता से मुक्त हुआ तब पहले पहल तो उसे असीम आनंद हुआ, पर उसकी यह खुशी चार दिन में ही मुरझा गई। उसे आज़ादी थी कि वह अपने मालिकों के खेतों और कारखानों को छोड़कर जा सकता था, किंतु वह जाता तो कहां जाता? और कैसे जाता? दुनियावी पूंजी के नाम पर न उसके पास रुपया पैसा था न कपड़ा लत्ता। हज़ारों की तादाद में आज़ाद निग्रो भूखे प्यासे सड़कों पर डोलते फिरते थे। एक बूढ़े निग्रो ने अपनी इस दयनीय अवस्था, अपने दुख, निराशा और उदासी को नीचे लिखे गीत में व्यक्त किया है–

अब मुझे आज़ादी मिली–
स्वामी से, खेत से, कारखाने से, गुलामी से
आज़ादी मिली, स्वर्णिम आज़ादी मिली,
सुंदर आज़ादी मिली !
किंतु थी समस्या प्रबल–
जाऊं तो जाऊं कहां?

पैसा एक पास न था !
प्रभु, कैसे स्वतंत्र बनूं?
निग्रो को बैठने को ठौर न था,
पैरों में जूते न थे,
खाने को कौर न था !
ओरे हत भागे !
क्या दासता ही धर्म तेरा?
चालीस वर्ष जिसने
जी तोड़कर परिश्रम् किया !
कितनी असहायता
और कितनी निराशा है?
अपनी कह सके–
एक कौड़ी न पास उसके !

उसके बाद निग्रो की कहानी दर-दर भटकने की कहानी है और इस कहानी को वह नीचे लिखी पंक्तियों में व्यक्त करता है–

भूखा, प्यासा, भटकता अटलांटा गया,
इसके पूर्व मैंने अटलांटा न देखा था ;
गोरे वहां लाल-लाल पके सेब खाते हैं
निग्रो को केवल छिलका ही मिलता है !

चार्ल्सटन भी देखा पर वह भी था नया शहर
गोरे वहां सोते हैं फैदर के गद्दों पर !
निग्रो की क़िस्मत में नंगी जमीन लिखी !

रैले भी देखा पर वह भी था नया शहर
गोरी जाति सुंदर आवरणों से शोभित थी
निग्रो बस पहने था चंद फटे चीथड़े !

हैवेन भी देखा पर वह भी था नया शहर
गोरी जाति शानदार महलों में रहती थी
निग्रो फुटपाथ से खदेड़ दिये जाते थे !

जार्जिया और दूसरी रियासतों की तरह अदालतें निग्रो के लिये भी खोल दी गईं। किंतु यदि निग्रो मुक़दमा हारता था और भारी मुआवजा न दे पाना था तो उसकी किस्मत में चेन-गैंग की मजदूरी लिखी होती थी। निग्रो को मज़दूरी न देना, ज्यादा काम कराने के लिये घड़ी पीछे कर देना यह एक आम बात थी। एक निग्रो नाई स्थानीय बैंक में अपने 50 डालर जमा कराने गया, किंतु कैशियर ने 50 डालर के बजाय उसके 50 सैंट जमा किये। जब उसने विरोध किया तो उसे लात मारकर बाहर निकाल दिया गया। ये सारे जुल्म नीचे लिखे गीत में व्यक्त किये गए हैं—

निग्रो गोरे से जाकर काम मांगता है
गोरा कहता है, "निगर—
नज़र से दूर हटो।"

निग्रो सुबह से शाम तक चुनता कपास है
मांगता मजूदरी जब? देता है गोरा उसको छदाम नहीं !

छोटी मक्खियां रस जमा करती हैं
किंतु बड़ी मक्खियां खाती हैं मधुर मधु !
निग्रो कपास चुनता है, अनाज साफ करता है
पर गोरा ही पाता है खेती की आमदनी !

दासता औ" स्वतंत्रता—दोनों का अर्थ एक !
नाम हैं भिन्न किंतु अतर है नेक नहीं !

उस समय हज़ारों निग्रो ऐसे थे जिनका न घर था, न कोई ठिकाना। खानाबदोश इधर उधर घूमते थे। कुछ अपने बीवी बच्चों को साथ लेकर फिरते थे—काम ढूंढ़ते हुए—एक दिन यहां तो एक दिन वहां ; किंतु काम उन्हें मिले कहां? नीचे लिखे गीत में उनकी मानसिक अवस्था को व्यक्त किया गया है—

गांव में काम मिल जाता है कभी उसे ;

कभी काम करता है शहर में, नगर में ;
और जब काम नहीं होता है उसके पास?
नदी में डूबकर काम खत्म करता है !

अधिकांश निग्रो ईसाई हैं किंतु ईसाई धर्म को जिस भावना के साथ वह व्यक्त करते हैं उसका दिग्दर्शन हमें नीचे के गीत में मिलता है—

गोरे चलाते हैं हंटर
चलाना जानते हैं बंदूक ;
धरती बनी है सिर्फ गोरों के वास्ते
निग्रो अभागे की जगह है बादलों में !

निग्रो धर्म-जीवी है
पढ़ता है बाइबिल, करता है प्रार्थना ;
गोरा व्यस्त रहता है—
दुनिया की दौलत चुराने में, लूटने में !
गोरे चलाते हैं हंटर
चलाते हैं बंदूक ;
तुम्हींने—"ओ बाइबिल ! ओ" ईसा !
गुलाम किया निग्रों को !

पिछले युद्ध के एक निग्रो सिपाही ने नीचे लिखी पंक्तियों में अपनी विरोध-भावना को व्यक्त किया है :

निग्रो तुम भी वीर हो !
बहता है धमनियों में तुम्हारे भी गरम लहू !
देखो आता वह गोरा है—
हाथ में उसके पिस्तौल है, छुरा है !
देखो ! भय न करो।
निग्रो के साथ निग्रो को खड़ा होना है।
कंधे से कंधा मिलाकर—
भागो मत निग्रो तुम
होते हैं प्रोत्साहित इससे ही ज़ालिम ये !

क्षोभ और आशा से भरा हुआ एक दूसरा निग्रो गीत है—

निग्रो काले कूड़े का पुलंदा मात्र !
गोरों की दुनिया का भार उठाये हुए !
प्रभु ! क्या सुन पाते नहीं उसकी कराह करुण?
गोरा कुचलता है निग्रो की आत्मा को !!!
निगर स्वतंत्र होगा,
निगर स्वतंत्र होगा,
निगर स्वतंत्र होगा—
जब प्रभु की कृपा होगी !

एक निग्रो बालक अपनी और गोरे बालक की तुलना करते हुये हसरत के साथ कहता है—

कालिज बने हैं ये गोरे बालकों के लिये,
निग्रो के ललाट मे खेत पर काम लिखा !
गोरे के लिये हैं—ये पुस्तकें, पढ़ेगा वह
लिखना भी सीखेगा।
निग्रो की किस्मत में फावड़ा कुदाल लिखे !
कैसे ही व्यतीत करो अपना समय—अर्थहीन,
दुनिया की दौड़ में गोरा बढ़ जावेगा।

जब जब चुनाव होते है विविध रियासतें अपने यहां की सड़कें पक्की सुथरी कर लेती हैं। इन सड़कों को बनाने वाले निग्रो चेन गैंग के क़ैदी होते हैं। इन गैंगो की तादाद बढ़ाने के लिये ज़रा-ज़रा सी बात पर निग्रो पकड़ लिये जाते हैं और उन्हें कम से कम तीन महीने की चेन गैंग की सज़ा मिल जाती है। गोरे पुलिस वाले इसलिये बिला वजह निग्रो को चपत मार देते हैं कि यदि वह विरोध करे तो उसे अमन में खलल डालने के जुर्म में अच्छी खासी सज़ा देकर चेन गैंग में काम करने के लिये भेज दिया जाय। इसको लेकर एक निग्रो गीत की पंक्तियां हैं—

सड़क के मोड़ पर खड़ा हुआ
करता प्रतीक्षा था, बस की, घर जाने को ;

आया एक पुलिस मैन, कंधा दबोच लिया,
सीटी बजाने लगा, आई एक पुलिस वान ;
कर लिया गिरिफ्तार—जुर्म? कल बतायेंगे
कोर्ट में जज ने इशारा किया आंखों से,
गोरे पुलिस मैन ने इशारों से जवाब दिया ;
कोई बयान नहीं, कोई सुबूत नहीं ;
सजा—छः महीने कीं चेन गैंग—मिली मुझे !

जकड़े हुये पैर जंजीरों से सड़क पर—
इसी तरह मास छः बिताने पड़ेंगे मुझे !
प्राणाधिके ! प्रेयसी ! तुम्हारी याद आती सदा
हाय ! क्यों निग्रो की पत्नी बनी थीं तुम?
हाय ! क्यों काली बहूटी बन जन्म लिया?

सरकारी रिकार्ड जितना बताते हैं उससे कहीं ज़्यादा मिसालें निग्रो को लिंच करने की मिलती हैं। स्थानीय अधिकारी निग्रो की इस तरह की हत्याओं को प्रकाश में नहीं आने देते। यदि सरकारी कागज़ों में कोई रिपोर्ट दर्ज भी करनी पड़े तो लिख दिया जाता है—"स्वाभाविक कारणों से मृत्यु हुई !" क़ानूनी मसौदों में पैसा खर्च होता है और गरीब निग्रो के पास इर्तना पैसा नहीं। बहुधा इस तरह बग़ैर सरकारी ज्ञान या अनुमति के निग्रो पैदा होता है, शादी करता है और मर जाता है। इन्हीं सब बातों को व्यक्त करते हुये एक निग्रो गीत की पंक्तियां हैं—

भाई और बहिनों, तुम निग्रो हो भूलो नहीं—
दुआ मांगते हो, उस जगत्पति ईश्वर से?
तथ्यहीन, सारहीन, मूल्यहीन !
इसमें धरा है क्या?
काला मुख देखकर, नफरत से, घृणा से
मुंह फेर लेता है—वह जो परमेश्वर है !
हृदय जब बोझिल हो दारुण उदासी से,
चिंता से जीर्ण, थका मस्तक हमारा हो ;
दुख में, पराभव में बोलो कहां निग्रो जाये?

दफन कर रहे हैं हम ऐसे एक भाई को
मारा जिसे गोरों ने विनोद ही विनोद में !
ठहरो ज़रा, बारी तुम्हारी भी आयेगी !
किंतु बंधु निग्रो, सेब नहीं है तुम्हारा सिर
तोड़ लिया जिसको किसी पेड़ से विनोद में !
देह में प्राण हैं, धमनियों में रक्त है–
लाठी पकड़कर ज़रा सीधे हो तने रहो !
रक्त का बदला हां रक्त से लेना सीखो ;
गोरे तब समझेंगे–हां, तुम भी एक मानव हो !

अफ्रीकी कवि ज़ोरा नील के अनुसार –

चेन-गैंग के क़ैदियों को किसी तरह का कोई मुआविज़ा नहीं मिलता। एक दिन मैंने देखा एक भूखा फटे हाल निग्रो सड़क पर लड़खड़ाता चला आ रहा है। वह उसी दिन चेन-गैंग जेल से छूटा था। 18 महीने उसने सज़ा काटी थी और छूटने के बाद उसे खाने के लिये या रेल के टिकट के नाम पर एक धेला भी नहीं दिया गया था। नीचे के गीत में चेन-गैग के ऐसे क़ैदी की मानसिक स्थिति को व्यक्त किया गया है–

रात को देर से सोने को मिलता था,
उषा से पहले उठ जाने का नियम था ;
क़ैदियों की दुनिया में 12 बजे दोपहर न होता था !
दिन रात आहिनी जंज़ीरों से पैर बंधे रहते थे !

सड़कों को कूटने में सुबह से शाम तक–
बिना आराम किये, बिना विश्राम लिये ;
देह चूर होती थी, हाथ थक जाते थे,
बैठ यदि जाता था–
मार अलग पड़ती थी, सज़ा बढ़ जाती थी !

न्यायाधीश ! कैसे हो न्यायाधीश?
गोरों और कालों का न्याय जुदा करते हो?

प्रभु के समक्ष क्या उत्तर न देना होगा?
प्रभु है अत्यंत निकट, न्याय अत्यंत दूर
दुनिया की धुंध में देख नहीं पाता है,
पैरों में पड़ी हुई आहिनी जंजीरों की
उठती हुई नित प्रति की करुण-ध्वनि, सुनता नहीं !

ईसाई पादरी निग्रो ईसाइयों को बराबर उपदेश देते रहते हैं कि "प्रभु कष्ट में ही परीक्षा लेता है", "स्वर्ग का राज्य तुम्हारे लिये है", "रोज़े महशर के दिन तुम्हारे साथ न्याय होगा" आदि। किंतु निग्रो के सब्र की इंतहा हो चुकी है। वह अब इसी दुनिया में न्याय पाने के लिये व्यग्र है। पादरी के लिये अब उसके दिल में कोई इज़्ज़त बाकी नहीं रही। नीचे की पंक्तियों में इसी भावना की प्रतिध्वनि है—

धर्म भूषण है आत्मा का, बाइबिल में लिखा है ;
पादरी के उदर में उसकी गुंजाइश नहीं !
"प्रभु पर विश्वास करो, बाइबिल की राह चलो"
"न्याय के दिन" सब चुकता हो जायेगा !

पादरी को प्रभु बहुत मोटा बनाता है
मोटा औ' चमकदार बीवर के टोप जैसा !

खाता है तुम्हारा डिनर, लेता है तुम्हारी भेड़ !
"स्वर्ग के राज्य में जो कुछ तुम्हारा है"—
कहता है—मिलेगा तुम्हें !

ईसा के भक्त,
दो निग्रो चेन-गैंग क़ैदी ;
90 बरस की सज़ा, करते हैं प्रतीक्षा—
"ईसा छुड़ाएंगे ज़मानत पर उनको !"
ये है सत्य घटना एक !

ईश्वर बनाता तुम्हें कृशकाय, निरापन्न
जिससे प्रदर्शन हो त्यागवृती भक्तों का !

अमरीका में एक आम कहावत है "निग्रो को गोली पहले मारो तनख्वाह बाद में दो।" अब हालत यह हो गई है कि जो काम पहले केवल निग्रो से ही कराया जाता था उसके लिये भी अब गोरे होड़ लगाते हैं। दक्षिण कारोलिना में युद्ध के जमाने में भी 25 फीसदी निग्रो मजदूर बेकार थे। निग्रो में क़बीले की आदतें हैं। इतिहास की हर सताई हुई क़ौम की तरह वह रक्षा के लिए आपस में ही एक दूसरे का सहारा लेते हैं। ज़रूरत पड़े तो आखिरी पैसे को भी वे पांच हिस्सों में बांटेंगे। एक क़ानून के मुताबिक़ पेशगी लेना जुर्म है। गोरे मालिक निग्रो को पेशगी लेने का प्रलोभन देते रहते हैं। यदि निग्रो नौकरी छोड़कर जाना चाहे तो एकाध डालर पेशगी की जगह उसके बकाया 25-30 डालर काट लिये जाते हैं। जब वह विरोध करता है तो पेशगी लेने के जुर्म में उस पर मुकदमा चल जाता है और जुर्माना कर दिया जाता है। गोरा मालिक जमानत ले लेता है और तब तक उसे काम करने के लिये मजबूर करता है जब तक उससे जुर्माने की रकम अदा न हो जाय। कुछ रियासतों में एक "वैगरैन्सी क़ानून" है। इसके मुताबिक़ कोई निग्रो यदि बेकार मिले तो वह गिरफ्तार कर लिया जाता है और कोई गोरा मालिक उसे मनचाही रोज़ी पर अपने यहां काम पर रख सकता है। इस तरह पचासों तरीकों से निग्रो की दासता जारी है। इस संबंध में कुछ पंक्तियां हैं–

मां बिदा हुई इस दुनिया से !
पापा भी स्वर्ग सिधार गये !
मैं हूं अनाथ इस दुनिया में–
क़िस्मत में लिखी दासता है !!

गोरे मालिक या कामदार हमेशा इस बात का ध्यान रखते हैं कि नौकरी छोड़ते समय निग्रो के पास एक छदाम न हो ताकि वह बराबर काम करने के लिये विवश रहे। इसी तरह के एक निराश्रित, भूखे, छदामहीन, नौकरी छोड़े हुऐ निग्रो का यह पथ-गीत है–

इकतालिस दिन बीते
जब बिस्तर पर सोया था। जन्म से अब तक-
लगातार तीन दिन पेट भर खाया नहीं !
डालर की नज़रों में कब का मैं मर चुका !

चेन-गैंग टोली करती प्रतीक्षा मेरी
यद्यपि अपराध नहीं मैंने किया है कोई !
चाहता हूं मात्र सोने का ठौर एक,
रूखा-सूखा खाने को, पीने को पानी ज़रा !

वस्त्र तार-तार हुऐ, जूते में तला नहीं ;
दुनिया में शरण मिले ऐसी कोई जगह नहीं !
दरबदर फिरता हूं ठोकरें खाता हुआ !

कोई नहीं ऐसा, मुझको जो प्यार करे,
निग्रो का जीवन दुख-दर्द का पर्यायवाची !
जीवन जो दिया है प्रभु सहन नहीं होता है
ले लो ये देन अपनी,
चाहना न इसकी मुझे ;
मृत्यु में ही शायद परित्राण मिले मुझको !

ज़ोरा नील अपने संस्मरणों में लिखती हैं :—

दक्षिण कारोलिना में जेल के एक मेहरबान वार्डन ने मुझे जेल देखने की इजाज़त देते हुये कहा—"जब तक सह सको ठहर सकती हो !" इतना गंदा जेल था वह कि सांस नहीं ली जाती थी। हफ्तों से गलियारे की सफाई नहीं हुई थी। पेशाब, पसीने, कचरे और गरमी की भभक से एक ऐसी तेज बू उठ रही थी कि मालूम होता था कि चिड़ियाघर में कोई शेर बंद है। 6X6 फुट के सेल में 5-5 कैदी बंद थे। वे सबके सब बिल्कुल नंग धड़ंग थे। जल्दी फट न जाय इसलिये केवल दिन में ही उन्हें कपड़ा पहनने की इजाज़त थी। वे नीचे ज़मीन पर लेटे हुये थे, वहां गर्द की इंचों मोटी तह जमी हुई थी। उनकी जबानें मुंह से बाहर निकली पड़ती थी मानों कुत्ते हांफ रहे हों ! जब तक मुमकिन हुआ मैं वहां खड़ी रही। नीचे लिखे गीत की पंक्तियां वहीं मेरे कानों में पड़ीं—

सारे ग्रीष्म बाहर रह धूप में परिश्रम किया
सुबह से शाम तक, बीस-बीस घंटे तक !
अथक परिश्रम किया !

ईश ! इस क्रिसमस में होगे क्या सदय ज़रा?
सर्दी और गर्मी की चिंता नहीं,
कैसी ही गरम हवा बहती हो बहने दो,
पैरों में पड़ी हुई झनझन जंजीरों की,
चिंता नहीं है मुझे !

कभी कभी लगता है ध्वसकारी ज्वाल प्रबल
लपटें जिसकी विशाल अबर तक छायें उठ ;
हे प्रभु वह प्रलय-दिवस बोलो कब आयेगा?
नरक से बदतर जब दुनिया ढह जाये यह !

मैक्सिको की प्राचीन मय (माया) संस्कृति

सन् 1502 ईस्वी में प्रसिद्ध खोजी कोलम्बस मध्य अमरीका की रियासत हांडूरास के समुद्री तट पर उतरा। उसे यह देखकर हैरानी हुई कि उस सम्पूर्ण क्षेत्र में प्राचीन माया सभ्यता के शानदार नगरों के अवशेष घने बनों के बीच हांडूरास और गुआटेमाला की रियासतों में बिखरे पड़े हैं। आज जहां मैक्सिको, गुआटेमाला, साल्वेडोर, हांडूरास, निकारागुआ, कास्टारिका और पनामा की जनतांत्रिक रियासतें हैं वहां ईसवी सन् की प्रारंभिक सदियों में "मय" (माया) सभ्यता का वैभव फैला हुआ था। इन रियासतों के भौगोलिक विस्तार में जितने आग उगलने वाले पर्वत-शिखर हैं उतने दुनिया के अन्य किसी भू-भाग में नहीं हैं। वनों में रंग-बिरंगे तरह-तरह के पक्षी, झीलों में छोटे-बड़े घड़ियाल, पगडंडियों में रेंगते हुए सांपों का समूह—वर्ष के अधिकांश भाग में यही स्थिति रहती है। यहां की भूमि इतनी उपजाऊ है कि यहां हज़ारों टन मीठा मोटा गन्ना और केले होते हैं। मक्का यहां का विशेष खाद्य पदार्थ है और यहां अच्छे किस्म का मक्का बहुतायत से होता है। ऊंची पहाड़ी जगहों में बहुत अच्छी क़िस्म की काफी होती है। माया संस्कृति द्वारा निर्मित प्राचीन कलाकृतियों के अवशेष यहां चारों ओर बिखरे पड़े हैं। यहां के निवासियों में अफ्रीकी निग्रो, स्पेनी और "इंडियन" जातियां घुलमिल कर एक हो गई हैं। यहां कलाकृतियों के बिखरे अवशेष इतने सुन्दर हैं कि उनकी जितनी प्रशंसा की जाये थोड़ी है। पुरातत्ववेत्ता उन्हें कम से कम सन् 615 ईसा पूर्व से पहले का मानते हैं, जबसे माया लोगों ने अपना कलैण्डर रखना शुरू किया। अभी भी सैकड़ों पुरातात्विक स्थान ऐसे हैं जो पुरातत्ववेत्ताओं के फावड़े की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

इस समस्त भू-भाग की धरती इतनी उपजाऊ और इतनी वैभव-सम्पन्न है कि यहां सैंकड़ों तरह के फूल अनेक रंगों में खिलते हैं। यहां के फल भी अत्यंत स्वादिष्ट होते हैं। संसार में जितनी चांदी होती है उसका 40 प्रतिशत यहां की खानों से निकाली

जाती है। यहां के नगर के एक प्रमुख निवासी ने अपने निवास से चर्च तक, जहां उसकी बेटी की शादी होने वाली थी, पूरी लम्बी सड़क चांदी की बनवा दी थी। यहां का गन्ना अपने मिठास के लिए प्रसिद्ध है। यहां के चावल में एक लुभावनी सुगंध रहती है। यहां का तम्बाकू भी प्रसिद्ध है। स्पेन निवासियों के आने से सदियों पूर्व "अजतैक्स" और "माया" जाति के लोग यहां निवास करते थे। उनकी अपनी भाषा किसी-न-किसी रूप में आज भी जीवित है और करोड़ों आदमियों द्वारा बोली जाती है। उक्समल, चिचैन, इत्जा, पैलेनक्यू के वनों में आज भी मंदिरों और महलों के खंडहर उस पुरानी सभ्यता के वैभव का प्रदर्शन करते हैं। अनेक नगरों के खंडहर आज भी पुरानी माया सभ्यता की महत्ता का संदेश देते हैं। मय बड़े नगरों के और भवनों के निर्माण में अत्यंत दक्ष थे। महाभारत के लेखों के अनुसार पांडवों की जादूनगरी इन्द्रप्रस्थ को मय इजानियर ने ही बनाया था जिसे देखने की उत्कंठा दुर्योधन न रोक सका था। जहां पानी नहीं था, वहां उसने पानी समझा। जहां पानी था वहा सूखी जमीन समझ कर कपड़ों समेत धंस गया। यह देखकर द्रोपदी को हंसी आई थी। वही हंसी कालांतर में महाभारत के युद्ध का कारण बनी। अब भी ऐसे पुरातात्विक टीले हैं, जहां मैक्सिको की पुरानी सभ्यता दबी पड़ी है। लोगों को विश्वास है कि जब उनका उत्खनन किया जायेगा वहां से सोने, चांदी तथा हीरे, मोती के अद्भुत खजाने निकलेंगे। पत्थरों पर पच्चीकारी के नमूने जगह-जगह बिखरे नजर आते हैं। सन् 1519 ई. में जब प्रसिद्ध खोजी हरनादो कार्टिस राजधानी में आया तो उस समय उजतैक लोगों की यह राजधानी प्रस्तर भवनों से भरी पड़ी थी, जहां मंदिरों और महलो की भरमार थी। इस नगर की आबादी उस समय 2 लाख थी। यहां चौड़ी-चौड़ी सड़कें नगर के मध्य से चारों ओर जाती थीं। सड़कों के किनारे नहरें थीं। सड़कों पर गाड़ियां चलतीं थीं और नहरों पर नौकाएं। स्पेन के हमलावरों ने नगर को धूल में मिला दिया और नहरों को खंडहरों के पत्थरों से पाट दिया।

अमरीका के साथ युद्ध में मैक्सिको ने अपनी आधी भूमि खो दी अन्यथा अठारहवीं शताब्दी तक मैक्सिको अमरीका महाद्वीप का सबसे बड़ा स्वाधीन राष्ट्र था।

मैक्सिको और भारत की सभ्यता में अद्भुत साम्य दिखाई देता है। उनका रोटी बनाने का ढंग भारतीय जैसा है। आटा पीसकर और गूंदकर हाथ से ही वे हथपई रोटी बनाते हैं। बजाए घोड़ों के बैलों को हलों में जोतते हैं। जिस तरह

मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र में छकड़ा बैलगाड़ियों का प्रयोग होता है उसी तरह मैक्सिको में भी उसी तरह की छकड़ा बैलगाड़ी काम में लाई जाती हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार मेजर बामनदास बसु के अनुसार माया संस्कृति का केन्द्र गुआटेमाला वास्तव में "गौतमालय" का अपभ्रंश है। अब यह निश्चित होता जाता है कि प्रशांत महासागर से होते हुए भारतीय नाविक अवश्य मैक्सिको आते-जाते रहे हैं। साधारण जन-जीवन में भारत और मैक्सिको में जो अद्भुत साम्य दिखाई देता है, वह निश्चित करता है कि इतिहास के किसी न किसी काल में दोनों के बीच किसी न किसी रूप में आदान-प्रदान रहा होगा। किंतु पूरी तरह से यह मत तभी निश्चित हो सकता है जब मैक्सिको की दबी हुई सभ्यता पुरातत्ववेत्ता खोद कर निकाल लें।

माया सभ्यता के निर्माण में सबसे पहले जिस कबीले ने विशेष योगदान दिया, वह "टालटैक" था। दूसरी बड़ी जाति, जो माया सभ्यता का प्रमुख अंग बनी, वह "अजतैक" थी। अजतैक कबीले ने माया सभ्यता के अंतर्गत स्थानीय कृषि और हस्तशिल्प के देवताओं को तो स्वीकार कर लिया किंतु अपने कबीले के देवताओं की पूजा को भी वे नहीं भूले। मिसाल के तौर पर उइतजीलोपोक्तली, जो पहले युद्ध और आखेट का देवता था, उसकी पूजा सूर्य के रूप में की जाने लगी। धीरे-धीरे वह अजतैक साम्राज्य के अंतर्गत सबसे प्रधान देवता बन गया। मैक्सिको में सूर्य पूजा के उद्भव की कहानी भी दिलचस्प है। यह सही है कि प्रारंभ में माया सभ्यता के अंतर्गत सूर्य देवता की पूजा होती थी और इसके भी लक्षण मिलते हैं कि सूर्य युद्ध का देवता समझा जाता है। किंतु बाद में अजतैक काल में युद्ध और सूर्य देवता का घनिष्ठ संबंध हो गया। युद्ध एक धार्मिक कर्तव्य बन गया। लोगों में यह विश्वास घर कर गया कि सूर्य को अपनी शक्ति बनाए रखने के लिए उसे मानव के कलेजे के रक्त की आवश्यकता है और इसके लिए युद्ध आवश्यक है जिसमें युद्ध के बंदियों को पकड़कर सूर्य पूजा में उनका बलिदान किया जा सके। युद्ध का उद्देश्य साम्राज्य विस्तार नहीं था, उसका उद्देश्य केवल युद्ध के कैदी प्राप्त करना था। योद्धाओं का महत्व इस बात पर निर्भर करता था कि वे कितने युद्ध-बंदी पकड़ कर लाते हैं। अजतैक शासकों का उद्देश्य अधीन कबीलों में शांति की स्थापना नहीं था, न वे दबंग शासक थे, इसलिए बगावत होती रहती थी और शासक यह चाहते भी थे कि बगावत होती रहे ताकि लोगों को पकड़ कर ले आएं और सूर्य देवता की वेदी

में नर-मेध के रूप में उनकी बलि चढ़ाई जा सके। मैक्सिको की माया सभ्यता के अंतर्गत इस नर-मेध का उद्देश्य सूर्य देवता को उनका कलेजा (हृदय) भेंट में चढ़ाना था। "इनसाईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका" के विद्वान लेखकों के अनुसार माया सभ्यता के प्रारंभिक काल में नर-मेध का विधान नहीं था किंतु अजतैक कबीले के शासन-काल में वह इतना बढ़ा कि तैनोचिकलान के विशाल पिरामिड के उद्घाटन के अवसर पर बीस हजार मनुष्यों को नरमेध के रूप में बलि चढ़ा दिया गया। बधिक कलेजा निकालने मे इतने दक्ष थे कि एक घटे में पचासों कलेजे निकाल लेते थे। जब इन कलेजों को सूर्य की वेदी में अग्नि के सुपुर्द किया जाता था तो सूर्य देवता के हजारो उपासक उल्लास के साथ नाचने लगते थे।

प्राचीन मैक्सिको का सामाजिक जीवन

प्राचीन मैक्सिको में दास-प्रथा थी किंतु दासों के विभिन्न भेद थे। जो व्यक्ति युद्ध में बंदी होते और जिन्हें एक नियत समय तक बलिदान के लिए जीवित रखा जाता था, वे दास कहलाते थे। किसी अपराधी को उसके अपराध-निर्णय तक दास समझा जाता था। ऋणी मनुष्य अथवा ऐसे बच्चे जिन्हें उनके माता-पिता या अभिभावकों ने आर्थिक कष्ट के कारण बेच डाला हो, दास होते थे। ऐसे व्यक्तियों के साथ इतनी सहानुभूति अवश्य रखी जाती थी कि यदि किसी मनुष्य ने अपने एक पुत्र को आर्थिक कष्ट के कारण बेच डाला हो और वह अपने स्वामी की कुछ समय तक सेवा कर चुका हो तो ऐसे बालक के माता पिता को अधिकार था कि वे अपने इस पुत्र के बदले दूसरे पुत्र को दास बनाकर पहले को स्वतंत्र करा लें। दूसरे पुत्र को भी इसी प्रकार तीसरे से बदला जा सकता था। एक व्यक्ति के जीवन पर्यंत दास बने रहने की अपेक्षा यह दास-वृत्ति, थोड़े समय तक, परिवार के अन्य व्यक्ति बंटा सकते थे। दासों के साथ व्यवहार कठोर न था। दासत्व-काल में वे निजी सम्पत्ति रख सकते थे और बहुधा इन दासों के भी दास होते थे। इसके अतिरिक्त दासो की संतान दास नहीं कहलाती थी। मैक्सिको में प्रत्येक व्यक्ति जन्म से स्वतंत्र माना जाता था।

डाक प्रबंध

मैक्सिकनों का दूसरा प्रशंसनीय कार्य उनका डाक प्रबंध था। इस देश में घोड़े नहीं थे और रेल अथवा तार का तो नाम ही नहीं था। इस पर भी ये लोग अपने पत्र और कभी-कभी भारी-भारी पार्सलें एक ही दिन में चार-चार सौ मील के अंतर पर पहुंचा दिया करते थे। इनका दिन भी हमारे दिन के बराबर था। डाक की चौकियां, मैक्सिको में छः छः मील की दूरी पर बनी हुई थीं। हमारी भाषा की भांति मैक्सिकन भाषा में शब्द न थे। ये लोग संकेतों अथवा भिन्न-भिन्न रंगीन चित्रों द्वारा पत्र लिखा

करते थे। इन्हीं संकेतों को लिए हुए डाकिया एक चौकी से दूसरी चौकी तक, अपनी संपूर्ण शक्ति लगाकर दौड़ता चला जाता था। वहां दूसरा डाकिया पहले से तैयार रहता और इस आगंतुक से डाक लेकर आगे की चौकी की ओर दौड़ जाता था। इस प्रकार सारे देश में यथा समय डाक पहुंच जाया करती थी। (मैक्सिकनों को बचपन ही से दौड़ने का अभ्यास कराया जाता था।) सारांश यह कि आज जो मछली चार सौ मील दूर समुद्र में तैर रही हो वह कल बादशाह के भोजन में दिखाई दे सकती थी।

युद्ध और योद्धा

मैक्सिकनों का सर्वोत्तम मनोरंजन युद्ध था। शासक, जैसा ऊपर वर्णन हो चुका है, एक अत्यंत अनुभवशील साहसी योद्धा होता था और सबसे बड़ा देवता भी युद्ध का देवता ही समझा जाता था। युद्ध की निपुणता अधिकाधिक जीवित बंदियों की संख्या के अनुसार समझी जाती थी। इन्हें युद्ध देव के मंदिर में बलिदान किया जाता था, इसलिए ऐसी ऐसी युक्तियां सोची जाती थीं जिनसे युद्ध में उन्नति हो और योद्धाओं का सम्मान बढ़े। धर्म-शास्त्र के अनुसार युद्ध-क्षेत्र में शहीद मैक्सिकन सीधा सूर्य लोक में पहुंच कर स्वर्गीय ऐश्वर्य प्राप्त करने का अधिकारी होता था।

योद्धाओं की वर्दी अत्यंत सुंदर और बहुमूल्य होती थी। प्रत्येक सिपाही वर्दी के नीचे डोरे की बुनी हुई एक चुस्त बंडी पहनता था जिससे शत्रु के तीरों का उसके शरीर पर प्रभाव न पड़ सके। ये बनियान इतने पक्के, हल्के, कोमल और टिकाऊ होते थे कि स्वयं स्पेन वालों ने इनकी बड़ी प्रशंसा की थी और अपनी सेना के लिये भी इसी प्रकार की बनियानें बनवाई थीं।

यहां के राजा और सरदार कभी इन बनियानों के स्थान पर सोने-चांदी की चादर की बनी हुई जाकेट पहनकर उस पर परों के सुंदर वस्त्र बनाने की कला में अत्यंत निपुण थे। पशु-पक्षियों के सिरों की आकृति की लकड़ी से बनी हुई टोपियां पहनने का भी लोगों में रिवाज था जिनमें भांति-भांति के रत्न जड़े रहते थे और ऊपर की ओर मनोहर रंगों के कोमल कोमल पंख। सैनिक गले में सोने के कंठे, बाजू में बाजूबंद और कानों में बड़े-बड़े बाले पहनते थे। सेना की प्रत्येक ब्रिगेड में 8000 सैनिक होते थे। कप्तान के अधीन एक अलग ब्रिगेड होती थी जिसके अधिकार

में 3000 से 4000 तक सैनिक रहते थे। प्रत्येक विभाग का चिन्ह विभिन्न रंगों के सुंदर-सुंदर परों से बनाया जाता था जिस पर उस विभाग का नाम तथा नंबर मैक्सिकन भाषा में लिखा होता था। जब सेना किसी शत्रु पर धावा करने को तैयार होती तो चांदी, सोने और परों के मुकुट, सैनिकों के गहनों और चमकते हुए हथियारों से एक विचित्र दृश्य दिखाई देने लगता था।

इनका सैन्य संचालन भी बड़े अच्छे ढंग से होता था। प्रत्येक टुकड़ी उत्साहपूर्वक, सुव्यवस्थित रूप से युद्ध के लिये प्रस्थान करतीं और फौजी बाजे के साथ-साथ सारे योद्धा प्रसन्न मुख, जोशीले राग गाते हुए आगे बढ़ते थे। शत्रुओं को युद्ध में मारने की अपेक्षा मैक्सिकन शत्रु को जीवित पकड़ने का अधिक प्रयत्न करते थे। युद्ध-भूमि में पीठ दिखाना इन लोगों ने सीखा ही न था। प्रत्येक सैनिक की वीरता और साहस का अनुमान उसके द्वारा पकड़े गये जीवित बंदियों से लगाया जाता था। इसीलिये एक बार पकड़े हुए बंदी को धन के बदले छोड़ देने का इनके यहां नियम न था। राज-व्यवस्था की भाँति सैनिक-व्यवस्था और उसके नियम भी अत्यंत कठोर थे। तनिक आज्ञोल्लंघन पर मृत्यु-दंड दे दिया जाता था। अपनी पलटन को छोड़ना, बिना सावधान किये शत्रु पर वार करना, दूसरे सिपाही के पकड़े हुए बंदी को अपना बता देना प्राण-दंड के अपराध थे। एक राजा ने तो अपने पुत्रों को इसी अंतिम अपराध पर (उसके घाव भरं जाने के पश्चात) अपने ही हाथ से मार डाला था। सेना में डाक्टरों और कम्पाउंडरों का भी अच्छा प्रबंध था।

राजप्रासाद, नगर तथा पालतू पशु-पक्षी

मैक्सिकनों के देवता, मंदिर और उनकी पूजा के साधनों को लिखने से पहले थोड़ा सा विवरण इनके नगर, जन-संख्या, जीविकोपार्जन के साधन आदि के विषय में जान लेना ठीक होगा।

मैक्सिको नगर एक बड़ी झील के टापू पर बसा हुआ था। शहर से झील के किनारे तक पहुंचने के लिये एक बड़ा ही सुदृढ़ पुल बना हुआ था जिसमें तीन स्थानों पर नाव निकलने के लिये मार्ग रखा गया था। नगर की गलियां सीधी और चौड़ी थीं जिनके दोनों ओर पत्थर के सुंदर-सुंदर मकान बने हुए थे। मकान अधिकतर एक ही मंजिल के बने थे पर कहीं-कहीं अमीरों के दो-चार दुमंजिले मकान भी दिखाई

देते थे। छोटे और साधारण घरों में भी चौड़े-चौड़े खुले, हवादार आंगन रखे जाते थे जिनमें पानी के फव्वारे उछलते रहते थे। गरीबों के मकान भी पत्थर के ही बने होते थे परंतु पटाव बहुत नीचा होता था। कहीं कहीं ईंटों के भी मकान थे जिनकी छतों पर लकड़ी का पटाव था। बाज़ार खूब खुला हुआ था और सड़क के दोनों ओर थोड़ी-थोड़ी दूर पर छोटे-छोटे बगीचे थे जिनमें तरह-तरह के फूल बारहों मास खिले रहते थे। राजमार्ग पर कहीं-कहीं पत्थरों का पटाव था जिसके बीच में साफ पानी की नहरें बहती थीं। इस नहर पर कई सुंदर पुल बने हुए थे और इनके नीचे छोटी-छोटी नौकाएं जल-विहार के लिये बंधी रहती थीं।

हरी तरकारियां और मेवे के पौधे यहां बहुधा पानी पर बोए जाते थे। हल्की-हल्की लकड़ियां बेड़े की तरह बांधकर उस पर पतली घास बिछा दी जाती थी और फिर नर्म मिट्टी डालकर उसमें बीज बो दिया जाता था। ये चलती-फिरती खेतियां बहुधा दो-दो सौ फीट तक लंबी और तीन से लेकर चार फीट तक चौड़ी होती थीं। खेत का मालिक अथवा रखवाला भी इसी पर अपनी झोंपड़ी छा लेता था और बल्ली के सहारे अपनी खेती को एक स्थान से दूसरे स्थान तक खेकर ले जाता था।

राजा का महल इतना सुदृढ़, सुंदर, सुसज्जित और विशाल था कि "कोर्टियस" (मेक्सिको का विजेता) लिखता है कि इसकी टक्कर का स्पेन भर में कोई महल न था। इस राजभवन की छत इतनी लंबी चौड़ी थी जिस पर तीस घुड़सवार घोड़ों पर बैठकर भली-भांति युद्ध का अभ्यास कर सकते थे। महल के दरवाज़ों में, पच्चीकारी का काम था जिसमें अनेक प्रकार के रत्न जड़े हुए थे। छत सुगंधित लकड़ी की बनी हुई थी जिस पर खुदाई का बारीक काम था। महल के एक ओर शस्त्रालय था जिसमें अनेक प्रकार के विचित्र अस्त्र-शस्त्र भरे हुए थे। दूसरी ओर चिड़ियाघर था। भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक पक्षी इसमें पाले गये थे। इन पक्षियों की संख्या और चिड़ियाघर की लंबाई चौड़ाई का अनुमान आप इससे लगा लें कि केवल इन पक्षियों की देखरेख के लिये तीन सौ मनुष्य नियत थे। जंगली जानवरों के लिये पिंजरे अलग बने हुए थे। इन पशुओं के आहार के लिये प्रतिदिन पांच सौ जीवों की हत्या की जाती थी। जंगली जानवरों के पास ही पालतू जानवरों का स्थान था। यहां किसी पशु के लिये नर्म-नर्म परों, किसी के लिए हरी घास और किसी के लिये कोमल बारीक रेत का बिछौना बिछा रहता था। पक्षियों के लिये रेत का बिछौना बिछा रहता

था। पशु-पक्षियों के लिये दाने-पानी के हौज बने हुए थे और जो आहार अथवा वस्तु जिस पशु-पक्षी के लिये आवश्यक होती वह उसे प्रतिदिन दी जाती थी।

पशु-पक्षियों के अतिरिक्त विचित्र आकृति और प्रकृति के मनुष्य तक इस अजायबघर में पाले गये थे। अजायबघरों के चारों ओर बड़े-बड़े बाग लगे हुए थे जिसकी दीवारों पर तरह-तरह की लताएं चढ़ी हुई थीं और जगह-जगह फुहारे चलते थे। हौजों में रंग-बिरंगी छोटी-बड़ी अनेक भांति की मछलियां तैरा करती थीं।

राजाओं का भोजन

राजा सदा एकांत में भोजन करता था। जिन सरदारों की भोजन परोसने की बारी होती वे एक ही बार में थाल सजा कर कमरे से बाहर निकल जाते थे और फिर कोई अंदर न आने पाता था। बादशाह के भोजन में तीन सौ प्रकार के व्यंजन नित्य बनते थे। इनमें से जो कुछ उसे पसंद आता था, वह खाता था। कोर्टियर्स का एक फौजी सरदार लिखता है कि बादशाह के साधारणतया नित्य के भोजन में मुर्गी, सूअर, खरगोश, कबूतर, हिरण और पक्षियों के मांस ही रहते थे।

राजा चौकी पर बैठकर भोजन करता था। पास तीन मेजों पर, जिन पर धुली हुई चादरें बिछीं रहती थी, भोजन चुना रहता था भोजन के समय चार कोमलांगी सुंदर दासियां उसके हाथ धुलाने को खड़ी रहती थी। चौकी पर बैठते ही दरवाजों में भारी परों के पर्दे डाल दिए जाते थे ताकि राजा को नज़र न लगे। भोजन के समय किसी भी प्रकार का शोरगुल अथवा खटके की आवाज़ न होने पाती थी।

राजा का भोजन प्रतिदिन काली मिट्टी की तश्तरियों में परोसा जाता था क्योंकि एक बार जिस बर्तन में वह खाना खा लेता वह दूसरी बार काम में नहीं लिया जा सकता था। खर्चा अधिक पड़ने के कारण सोने-चांदी के बर्तनों में बादशाह भोजन नहीं कर सकता था। भोजन के कमरे में सुगंधित बत्तियां जला करतीं थीं जिनसे बिल्कुल धुंआ न होने पाता था। मांस और रोटी के पश्चात राजा के सामने मिठाइयां रखी जाती थीं। फिर मेवे और फल लाए जाते थे और अंत में शराब। राजा शराब नहीं पीता था इसलिए रीति के अनुसार शहद चख लिया करता था। शहद का प्याला और चम्मच सोने के होते थे जिनके दस्तों पर कछुए की कामदार हड्डी लगी रहती थी।

भोजन करने के पश्चात वे ही दासियां राजा के हाथ धुलाती थीं।

राजा नित्य नहाता था और नहाने से पहले कोई चीज नहीं खाता था। वह दिन में केवल एक बार कपड़े बदलता और जो कपड़ा एक बार उतार देता उसे दुबारा न पहनता था।

भोजन के पश्चात् बड़ी सुगंधित तम्बाकू राजा के सामने लाई जाती थी। तम्बाकू पीते-पीते जब वह नाक से धुंआ निकालने लगता तो यह संकेत था कि उसे नींद आ रही है। तुरंत ही सारे सरदार हट जाते और राजा सो जाता था।

मैक्सिको का बाज़ार

बाज़ार में एक बहुत बड़े अहाते के अंदर चारों ओर बड़ी-बड़ी दुकानें थीं। एक दुकान एक ही प्रकार के माल से भरी हुई होती, और जिस प्रकार का माल जिस दुकान में है उसका चिन्ह उस दुकान के दरवाज़े पर पहचान के लिये बना होता था। किसी दुकान में सोने के बर्तन बिकते थे तो किसी में स्वर्ण के आभूषण और किसी में सोने के खिलौने। खिलौने यद्यपि, पशु-पक्षियों की शक्ल के ही बनाए जाते थे किंतु इनकी कारीगरी देखने योग्य होती थी। धातुओं को मिलाने की कला में मैक्सिकनों की चतुराई सराहनीय थी, अर्थात् यदि किसी पक्षी की शक्ल का कोई खिलौना बनाया गया है तो उसमें भिन्न-भिन्न धातुएं इस प्रकार मिलाई जाती थी कि वह मिला हुआ मसाला स्वय पक्षी के प्राकृतिक रंगों का बन जाता था। वह क्रिया बडी कठिन थी वरन् यह कहना चाहिये कि दूसरे किसी देश में ऐसी कारीगरी देखने में नहीं आती थी। इसके प्रत्येक जानवर का स्वभाव उसकी आकृति में पाया जाता था। जैसे, यदि किसी कारीगर ने एक मक्खी बनाई है तो वह अलग दो पैरों से अपना सिर धुन रही है, कुत्ता दुम हिला रहा है, पक्षी पर खुजला रहा है इत्यादि।

बड़े-बड़े बर्तन सोने और चांदी के ढले हुए होते थे जिन पर सुंदर चित्रकारी होती थी। कोई-कोई सोने के बर्तन इतने बड़े होते थे कि एक आदमी उनको अपनी कोली में नहीं भर सकता था। लकड़ी के प्याले भी बड़े हल्के और सुंदर होते थे। मिट्टी के बर्तनों पर परों का काम होता था और वे छोटे-बड़े सभी प्रकार के मिल सकते थे। कपड़ों के थान, रुई की गांठें, सादे और रंगीन कपड़े, सिली-सिलाई पोशाकें, पर्दे और गिलाफ अलग-अलग दुकानों पर मिलते थे। बाज़ार के दूसरे भाग में मेज,

कुर्सी, बैंच, जलाने की लकड़ी, कागज और बेंत के बने हुए हुक्के, तम्बाकू, टीन और तांबा मिली हुई कुल्हाड़ियां और भांति-भांति के अस्त्र-शस्त्र दिखाई देते थे। धनुष-बाण, चौड़ी दांतेदार तलवारें आदि तांबे की बनी होती थीं।

किसी स्थान पर जंगली जानवरों की खालें बिकती थीं, कहीं स्त्रियां मछली और सिंघाड़े बेच रही होतीं। यहां की झीलों में एक प्रकार का कन्द पैदा होता जो देखने में काली मिट्टी के ढेले के समान दिखाई देता परंतु स्वाद में बहुत मीठा और खुशबूदार होता था। किसी ओर सब प्रकार के मांस की दुकानें होती तो कहीं अनाज के ढ़ेर लगे होते और कहीं पका पकाया खाना तैयार मिलता। एक ओर शराब और नशीली चीजें बिक रही होती। एक पेड़ के पत्तों के रस से यहां शराब बनाई जाती थी जो फलों की शराब से अधिक नशीली होती। इसे 'पिलकी' कहते थे।

एक ओर नाई की दुकानें होतीं और दूसरी ओर पंसारियों की, जहां सौदा नकदी से नहीं मिलता। कुकु नामक मेवा की छोटी-छोटी थैलियां (जिनका मूल्य उनके आकार पर निर्भर होता), छोटे छोटे टीन के टुकड़े जिन पर "टी" के समान कोई अक्षर लिखा होता, पक्षियों के पर जिनमें स्वर्ण भस्म भरी रहती, प्रत्येक वस्तु से बदले जा सकते थे।

यहां बाट तराजू विल्कुल नहीं थे। प्रत्येक वस्तु नाप और संख्या से बिकती थी। बाजार में प्रतिदिन चालीस-चालीस हज़ार मनुष्य क्रय-विक्रय करते रहते फिर भी किसी प्रकार का शोर-गुल नहीं होता। बेईमानी का दंड देने के लिये तुरंत ही मजिस्ट्रेट पहुंच जाता था।

स्त्री-पुरुष सभी बाजारों में घूमते थे। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का रंग अधिक गोरा था। इनकी आंखें बड़ी-बड़ी लाली लिए होतीं परंतु चेहरे पर एक प्रकार की उदासी और गंभीरता दिखाई देती थी। बाज़ार में छेड़-छाड़ या हंसी ठट्ठे का कहीं नाम भी नहीं था। स्त्रियों के केश सदा कपड़े से ढके रहते। बड़े घरों की स्त्रियां बालों में चांदी के फूल, जवाहरात और मोती गूंथती थीं। ये स्त्रियां एक ही साथ कई-कई चोलियां पहन लेती थीं जिनकी बाहों पर सुंदर कसीदा होता था। इनकी लंबाई किसी नाप पर निर्भर नहीं थी। चोलियों के ऊपर एक ढीला कपड़ा पहना जाता था जो टखने तक लटकता था। पुरुष चोगे के समान टखनों तक लटकता

हुआ कपड़ा, जो गले के पास से सिला होता, पहनते थे। चोगे के अंदर तंग जाकेट पहनी जाती थी जो कभी रुई की, कभी बालों की और कभी परों की बनी हुई होती थी। इस जाकेट में कमर के पास एक मोटा फीता कमर में बांधने के लिये लगाया जाता था।

मैक्सिकन सत्यवादी और सुसंस्कृत थे। इनके नगर अच्छे बसे हुये थे और प्रत्येक नगर में सुंदर-सुंदर मकान बने हुए थे। राजव्यवस्था और न्यायालय के नियम देश की परिस्थिति के अनुसार ही बनाये गए मालूम होते थे। सेना असंख्य थी और मजिस्ट्रेट ही न्यायाधीश था। यह लोग व्यापार भी करते थे। सारांश यह कि जो-जो बातें किसी सुव्यवस्थित और सभ्य देश में होनी चाहिये वह सब इनके यहां प्रस्तुत थीं। ये लोग विवाह करते थे, गुरु बनाते थे, एक दूसरे के यहां मिलने जाते थे और बड़े-बड़े जातीय उत्सव मनाया करते थे। स्त्रियों के साथ इनका व्यवहार सुसभ्य था। ये सदा उनका सम्मान करते थे जो सभ्यता की मुख्य पहचान है।

प्राचीन मैक्सिकोवासियों के धार्मिक विश्वास

मैक्सिकनों की शिक्षा-दीक्षा, दिनचर्या में धर्म इस प्रकार घुल मिल गया था कि उनमें से किसी बात पर तर्क करना दैवी कोप समझा जाता था। अतः एक ओर जहां धर्म में सच्चा धार्मिक विश्वास पाया जाता था वहां दूसरी ओर भंयकर निर्दयता और निष्ठुरता दिखाई देती थी। एँक ओर सौन्दर्य था, तो दूसरी ओर वीभत्सता।

मैक्सिकनों के लोक-परलोक संबंधी विचार

जैसा कि हम सब नश्वर मनुष्यों को इस बात के जानने की उत्कंठा रहती है कि पिछले जन्म में हम कौन थे और मृत्यु के पश्चात हमारी क्या दशा होगी ठीक इसी की खोज मैक्सिकन भी करते थे। अनित्यता को इन्होंने चार भागों में विभक्त किया था। जिसके प्रत्येक भाग में लाखों ही वर्षों की संख्या थीं। यह विचार इनका हिंदू धर्म से मिलता जुलता था अर्थात् जिस प्रकार भारत में सतयुग, त्रेता युग, द्वापर और कलियुग नियत किये गये हैं और इनमें से प्रत्येक की बारी लाखों ही वर्ष पीछे आती है उसी प्रकार मैक्सिकन भी मानते थे। इनके विचार से हर बार अनित्यता के चतुर्थ भाग के अंत में आग अथवा पानी द्वारा सृष्टि का लोप माना गया था। यहां तक कि आकाश से सूर्य भी लुप्त हो जाता था और फिर कुछ काल पश्चात् पुनः सृष्टि-निर्माण का कार्य होता था।

मृत्यु के पश्चात् इनके विचार से जीव तीन श्रेणी में रखे जाते थे। प्रथम पापी लोग जिनकी संख्या अधिक मानी गई थी, अपने पापों का दंड पाने के लिये एक अंधेरे (अंध कूप) स्थान में छोड़ दिये जाते थे जहां प्रकाश और वायु की पहुंच न थी। किंतु वहां इन्हें बराबर जीवित अवस्था में रहना पड़ता था। यही इनका नरक था। दूसरी श्रेणी में ऐसे जीवों को रहने के लिये ऐसे जीवन की कल्पना की गई थी जिसमें न तो कोई आनंद था और न उन्हें किसी प्रकार के उलाहने की आवश्यकता

थी। बस जैसे किसी रोगी की दशा इस संसार में होती है कि न मरने न जीने में, उसी प्रकार ये दूसरी श्रेणी वाले जीव भी मृत्यु के पश्चात् जीवन व्यतीत करते थे। इन्हें सदा उदासीनता में एक सी अवस्था में रहना पड़ता था। तीसरी श्रेणी स्वर्ग था। यह उन जीवों को प्राप्त होता था जो या तो युद्ध में मारे जाते या किसी देवता पर बलि किये जाते। देवता पर बलिदान किये जाने वाले लोग सीधे सूर्य लोक को चले जाते थे जहा इनकी सेवा केवल इतनी ही होती थी कि वे सूर्य के रथ के साथ-साथ मीठे राग गाते हुए घूमा करें। कुछ काल तक ऐसी सेवा करने के बाद ये आत्माएं या तो रगीन बादलों मे समा जाती या गाने वाले सुदर पक्षी बनकर स्वर्ग में प्रविष्ट हो जाती थी।

ईश्वरीय सत्ता

ईश्वर को ये लोग सारी सृष्टि का रचयिता तथा स्वामी मानते थे। आराधना के समय ऐसे शब्द बोलते थे कि "हे ईश्वर तू सर्व व्यापक, सर्वान्तरयामी, सबका दुःख सुख जानने वाला है। तेरे ही द्वारा हम जीवित रहते और संसार का कार्य करते हैं।" कितु ऐसे विचार होते हुए भी ये मैक्सिकन ईश्वर की शक्ति को भूल कर न जाने क्यों धीरे-धीरे दूसरे देवताओं की पूजा करने लगे थे जिसे देखकर कोई यह नहीं कह सकना कि ऐसे निर्दय और क्रूर व्यक्ति कभी ईश्वर के उपासक रहे होंगे।

मैक्सिकनों के देवताओं की सख्या 213 थी और उन सबके लिए एक-एक दिन अलग-अलग रखा गया था जिसमे कोई उत्सव अथवा भोज उस देवता की रुचि के योग्य किया जाता था। देवताओं की इस सूची में सबसे ऊपर भयंकर युद्ध-देव रखा गया था। इसका नाम इनकी भाषा में "हुईरजिलोपाचली" था। यह नाम दो शब्दों से बना है। पहले भाग का अर्थ "गाने वाला पक्षी" और पिछले भाग का अर्थ "बायां" होता है क्योंकि इस देवता के बाएं पैर में एक सुंदर पक्षी के पर बंधे रहते थे। इसके विषय में यह विश्वास था कि यह देवता अस्त्र-शस्त्र धारी ही जन्मा है। इसके दाएं हाथ में ढाल थी और सिर पर सुंदर रंग के परों का मुकुट पहने हुए था। यही देवता मैक्सिकनों का रक्षक और सबसे अधिक शक्तिशाली देव समझा जाता था। इसकी भयानक मूर्ति को मैक्सिकन लाखों रुपये के आभूषण पहनाते थे

और दूसरे देवताओं से इसका मंदिर भी बहुत बड़ा और सुसज्जित बनाया जाता था। जिस-जिस स्थान पर इस देवता के मंदिर थे सभी में लगभग 365 दिन नर-रक्त बहा करता था। युद्ध देव के पश्चात् "कुइटजल कोटल" नामक देव का पद था। जिसका अर्थ "परदार सांप" होता है। इसे ये लोग पवन देव मानते थे। इस देवता के जन्म के विषय में लोगों के विचित्र विचार थे।

कहते हैं कि यह देवता स्पेन वालों के आक्रमण से कुछ शताब्दी पूर्व, पूर्व की ओर से मैक्सिको में आया था। इसकी आकृति बड़ी सुंदर, लंबा कद, गोरा रंग, काले बाल और बहुत लंबी नीची-दाढ़ी थी। अनाहक के मैदान में यह बहुत वर्षों तक निवास करता रहा और इस बीच में इसने मैक्सिकनों को अनेक भांति के कला-कौशल सिखाए और उनके रहन-सहन में बहुत कुछ उन्नति और परिवर्तन किये। उसने इन्हें विभिन्न धातुओं की विशेषताएं और उनके परस्पर मिश्रण की रीति सिखाई। यह कला ऐसी थी जिसकी समानता संसार में अन्यत्र नहीं देखी गई। उसने इन्हें कृषि कला और राजव्यवस्था आदि सिखाई। जब तक यह इस भू-भाग में रहा इस भूमि पर बिना उगाए ही फल-फूल फलते-फूलते रहे। कहते हैं मक्का का भुट्टा उसके समय इतना बड़ा और भारी होता था जिसे एक बलवान पुरुष कठिनाई से उठा सकता था। उसके सामने रुई रंगी-रंगाई तरह-तरह के रंगों के पौदों ही से निकलती थी जिसके रंग सब बिल्कुल पक्के और चमकदार होते थे। जिस प्रकार फलों का रंग पेड़ में बदला करता है उसी प्रकार मैक्सिकनों की इच्छानुसार रुई का रंग भी पौदे में बदला करता था।

वायु में ऐसा प्रभाव था कि प्रत्येक मैक्सिकन को मनोहर प्राकृतिक सुंगध से एक प्रकार का नशा सा चढ़ा रहता था। हवा के साधारण झोके से भी इन्हें बड़े मीठे-मीठे राग सुनाई देते थे।

दुर्भाग्य से कोई कारण ऐसा हुआ बताते हैं (जिसका ठीक विवरण किसी को अच्छी तरह याद नहीं है) कि इस कुइट-जल-कोटल की और मैक्सिकनों के किसी अन्य देवता की परस्पर अनबन हो गई और इसने मैक्सिको छोड़ देने का विचार कर लिया। अतः यह पूर्व को चल दिया और चुलूला नगर में जाकर ठहरा। यहां के निवासियों ने इसका हृदय से स्वागत किया और एक बड़ा मंदिर इसकी भेंट किया जिसके भग्नावशेष आज तक भी चुलूला में पाये जाते हैं। इनके देखने से तत्कालीन

मैक्सिकन-वास्तुकला अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कुछ वढ़ी-चढ़ी मालूम होती है।

"कुइट जल कोटल" मैक्सिको की खाड़ी के क़िनारे पहुचकर अपने साथियों से बिदा हुआ और एक सांप के केंचुल में घुस कर समुद्र में कूद पड़ा। किंतु समुद्र में कूदने से पहले इसने अपने साथियों से कहा था कि उसकी संतान अथवा उसके देशवासी जिनका रंगरूप उसी के समान गोरा होगा पूर्व की ओर से आयेंगे और इस देश पर अधिकार करेंगे। इस भविष्यवाणी ने मैक्सिकनों के दिलों पर पूरा-पूरा प्रभाव डाला था और उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया था कि किसी न किसी समय ऐसा अवश्य होकर रहेगा। अर्थात् उनका देवता "कुइट जल कोटल" निश्चय ही इस देश पर चढ़ाई करेगा।

अतः जब स्पेन वाले अमेरिका पहुंचे तो प्रत्येक व्यक्ति यही कहता हुआ सुना जाता था कि "वह भविष्यवाणी झूठी न थी। अंत में श्वेत रंग वाले पूर्व से ही यहां आये। अब कोई संदेह नहीं कि ये लोग मैक्सिको पर अधिकार जमा लें।" इसलिये इनसे लड़ना या युद्ध का विचारा करना भी व्यर्थ है।" बस इसी विश्वास के कारण स्पेनी कोर्टियर्स को इस देश के विजय करने में अधिक कष्ट न उठाना पड़ा।

मंदिर

मैक्सिकन भाषा में मंदिर "टयोकलस" कहलाते हैं। (कदाचित यह भारतीय "देव कलश" शब्द का अपभ्रंश हो) बड़े-बड़े नगरों मे इनके सैकड़ों ही नहीं वरन सहस्त्रों ही मंदिर बने हुए थे। इनमें बहुत से भिन्न श्रेणी के थे। ऊची श्रेणी के मंदिरों की आकृति मिश्र के पिरेमिडों अथवा वहां की शाही कबरों से मिलती थी। इसमें तीन अथवा चार मंजिल तक होती थीं जिनमें प्रत्येक ऊपर वाली मंजिल नीचे वाली से छोटी बनाई जाती थी। ऊपर चढ़ने के लिये बाहर के एक कोने से आरंभ होकर चक्कर खाती हुई सीढ़ियां ऊपर की मंजिल तक पहुंचती थी जिससे चढ़ने वाला छत तक पहुंचने में मंदिर की कई परिक्रमा कर लेता था।" इस छत पर एक बहुत लंबी-चौड़ी खुली जगह होती थी जिस पर एक या दो छतरियां बनी होती थीं जो चालीस से लेकर पचास फुट तक ऊंची होती थीं। उनके बीच में एक ऊंचे चबूतरे पर जिस देवता का मंदिर होता उसकी मूर्ति खड़ी की जाती थी। इस देवता के सामने एक या दो बड़े-बड़े पत्थर गड़े रहते थे जिन पर मनुष्यों का बलिदान किया जाता

था। इन पत्थरों के पास ही दो ऊंचे ऊंचे चबूतरों पर दिन-रात आग जला करती थी। मैक्सिकनों के बड़े-बड़े मंदिरों में इन अग्नि कुंडों की संख्या छः सौ तक पहुंच गई थी। यहां हजारों ही मंदिर ऐसे थे जिनमें कम से कम दो अग्नि कुंड के प्रकाश से नगर का एक विचित्र दृश्य दिखाई देता था। शहर की सड़कें, गलियां और बाज़ार इनसे खूब प्रकाशित रहते थे और मंदिर की बनावट ढालू होने के कारण जो कुछ पूजापाठ अथवा बलिदान आदि मंदिर में होते थे वे नीचे से भली भांति दिखाई देते रहते थे।

इन मंदिरों में पंडे-पुजारियों की अगणित संख्या थी। जब पंडे पूजा अथवा बलिदान के लिये ऊपर चढ़ते तो असंख्य दर्शक इनके पीछे-पीछे चलते थे। गलियों और सड़कों पर भी हज़ारों दर्शक इकट्ठे हो जाया करते थे। जनता की आकृति पर उस समय ऐसी गंभीरता दिखाई देती थी मानों वह धर्म में तत्पर बड़ी ही श्रद्धाभक्ति से अपने इष्ट देव से प्रार्थना कर रही हो और उसके क्रोधित होने से भयभीत हो रही हो।

कोई महीना अथवा दिन ऐसा न था जो किसी न किसी बड़े देवता के लिये नियत न हो और उस दिन कोई मुख्य पूजन न होता हो। हां, बहुत-से उत्सव यहां जनता के आमोद प्रमोद के लिये भी नियत थे जिनमें स्त्री-पुरुष दोनों को ही सम्मिलित होने का अधिकार था। स्त्रियां अपने सिरों पर मेवे मिठाई के थाल रखे हुए गाती-नाचती देवता के मंदिर तक जाती थी। इनके पीछे-पीछे पुरुष समूह चलता था। मंदिर में पहुंच कर प्रथम, देवता को रिझाने के लिये नाच-गान होता, फिर केवल पशुओं के बलिदान से ही उत्सव समाप्त कर दिया जाता था।

मैक्सिकनों के कला-कौशल, युद्ध-विद्या आदि को नरमेघ प्रथा के कारण ही अधिक सम्मान नहीं मिल सका। स्पेन वालों के आक्रमण के 200 वर्ष पूर्व इनके यहां इस भयंकर प्रथा का केवल आरंभ ही था अर्थात् अत्यंत आवश्यक अवसर पर ही नर-बलि दी जाती थी। किंतु जैसे-जैसे इनकी शक्ति बढ़ी तथा देश विस्तृत हुआ वैसे ही वैसे इस नर-हत्या में भी वृद्धि होने लगी और फिर तो ऐसा कोई पूजन अथवा त्यौहार न बचा जिसमें नर-बलि न दी जाती हो।

मैक्सिकनों के यहां बड़े त्यौहारों में उनके देवता "टेज केटली कूपा" की पूजा

होती थी। जिसका पद युद्ध-देव से दूसरे दरजे का था। "टेज केटली" का अर्थ इनकी भाषा में संसार की आत्मा है। वर्षारम्भ पर इस देवता को उस अत्यंत सुंदर युवक की बलि दी जाती थी जिसे मैक्सिकन युद्ध में बंदी बनाते थे। इस अभागे को एक वर्ष तक स्वयं "टेज केटली" मान लिया जाता था। कई पंडे इस युवक की शिक्षा-दीक्षा के लिये नियत किये जाते थे जो इसे समयानुसार काम करना सिखाते थे। बढ़िया से बढ़िया वस्त्राभूषण इस सुंदर पुरुष को पहनाए जाते और सुगंधित पुष्पों से नित्य इसका श्रृंगार किया जाता था। वस्त्रों में इत्र लगाकर, सज-सजाकर जब यह नर-देव बाहर निकलता तो सारी जनता पृथ्वी तक झुक कर इसका अभिवादन करती। राज-घराने के बड़े-बड़े सरदार इसके पीछे-पीछे सम्मानपूर्वक चलते थे और जब यह नर-देवता धार्मिक गीत गाने लगता तो दर्शक इस प्रकार सम्मान में हाथ बांधे खड़े हो जाते मानो वह स्वयं ईश्वर ही हो।

इसकी सेवा के लिये बहुत ही सुंदर चार दासियां नियत की जाती थीं। इन स्त्रियों के वास्तविक नाम चाहे कुछ भी हों उस अवसर में इन्हें चार देवी पुकारा जाता था। इस वर्ष यह नर-देव खूब ही आनंद मनाकर जगह-जगह दावतें खाता और जिस सरदार के घर पहुंचता वह इसके सम्मान में अपना सर्वस्व दे डालने को बाध्य था। वैसे तो इस देव के लिये एक अत्यंत विशाल और सुसज्जित महल था ही परंतु फिर भी इसे अधिकार था कि चाहे जिस सरदार के भवन को वह अपना विलास भवन बना ले।

किंतु बलिदान के दिन इसके ये सब आनंद समाप्त हो जाते थे। इस अभागे के सभी वस्त्राभूषण उतार लिये जाते और इसे अपने इष्ट-मित्रों से विदा होने का आदेश दे दिया जाता था। इसके बाद इस नर-देव को राज नौका में बैठाकर इसी देवता के नाम वाले मंदिर में ले जाया जाता वहां पहले ही से हजारों ही नर-नारी इसका तमाशा देखने को एकत्र रहते थे।

जब यह नरतनधारी देवता मंदिर की सीढ़ियों पर चढ़ने लगता तो मार्ग में फूलों के हार तोड़-तोड़कर फेंकता जाता था। जब पुष्पाभूषण समाप्त हो जाते तो वाद्य यंत्रों के फेंकने की बारी आती जिनके द्वारा इसने गत वर्ष आनंद मनाया था।

मंदिर की छत पर पहुंचने पर छः बलवान पंडे इसका स्वागत कर वध-स्थल

तक ले जाते थे। इन पंडों में से पांच पंडों के वस्त्र काले और एक के लाल होते थे। इनके काले लंबे बाल काले कपड़ों तक लटकते हुए उस समय अत्यंत भयानक लगते थे। पंडों के इन वस्त्रों पर उनकी भाषा में मंत्र आदि लिखे हुए होते थे जो इनकी आकृति को और भी अधिक भयानक बना देते थे। वह पत्थर जिस पर इसे बलि किया जाता ऐसा ढालू रखा जाता था कि नीचे वाले भली-भांति नर-बलि का तमाशा देख सकें।

इस पत्थर पर इस शरीरधारी देवता को बलपूर्वक लिटा दिया जाता। पांच काले वस्त्रों वाले पंडे इस अभागे के हाथ पांव और सिर पकड़ते और छठा पंडा (लाल वस्त्र वाला) इस मनुष्य के कलेजे को अपने खंजर से चीर डालता। इस कार्य में वह इतना दक्ष था कि बड़ी आसानी से वह साबुत कलेजा क्षण-भर में निकाल लेता था।

पहले कलेजे को वह सूर्य की ओर दिखाता और फिर बड़ी भक्ति के साथ उसे देवता के चरणों में चढ़ा देता। इस भेंट के चढ़ते ही दर्शक श्रद्धापूर्वक मस्तक झुका लेते और पुजारी बड़ी गंभीर वाणी में जनता को उपदेश देता "देखो संसार वह स्थान है जहां आरंभ में मनुष्य बड़े आनंद से जीवन व्यतीत करता है जैसा इस अभागे व्यक्ति ने व्यतीत किया, जिसे अभी देवता की भेंट किया गया है परंतु अंतिम परिणाम इसका भयानक निकला। इसलिये संसार की विषय-वासनाओं में लगकर उसके सुखों पर मनुष्य को भरोसा नहीं करना चाहिये।"